गम

१०६३८
द.नं.
वाल्मीकि विद्यापीठ
पुस्तकालय

चौखम्बा अमरभारती ग्रन्थमाला
तृतीयं पुष्पम्
३

ई पु आं ८८

बृहन्नारदीयपुराणम्

सम्पादक :
पंडितः हृषीकेशशास्त्री

चौखम्बा अमरभारती प्रकाशन
वाराणसी

प्रथम संस्करण : १८९१
द्वितीय संस्करण : १९७५
मूल्य रू० ५०-००

© चौखम्बा अमरभारती प्रकाशन

श्रीकृष्ण भवन
के० ३७/११८, गोपालमन्दिर लेन
वाराणसी २२१००१ (भारत)

पुराण

सर्वसुलभ

E.पु.
१८

नं. २६३६

इतिहास-पुराण का अनुशीलन

[इतिहास-पुराणोक्त विशिष्ट तथ्य और समस्याओं का विवेचन]

प्रणेता
श्री रामशंकर भट्टाचार्य
व्याकरणाचार्य, एम्० ए०, पी-एच० डी०

प्रकाशक
इण्डोलाजिकल बुक हाउस
सी. के. ३८/१६, बाँसफाटक,
पोस्ट-बॉक्स ९८ : वाराणसी

प्रकाशक :
श्री रामेश्वर सिंह
इण्डोलाजिकल बुक हाउस
सी. के. ३८।१६, बाँसफाटक,
पोस्ट-बॉक्स ९८, वाराणसी

[सर्वाधिकार प्रकाशका धीन]

मूल्य : १० रुपये

प्रथम संस्करण १९६३ :

मुद्रक—

ग्रन्थसमर्पण

जिनके निरतिशयपाण्डित्यपूर्ण उपदेशों से
इतिहास-पुराण की उपादेयता का ज्ञान
मुझे सम्यक् रूप से हुआ था

तथा

जिनकी अनन्यसाधारण अनुकम्पा से
मेरा विद्यार्थि-जीवन धन्य हो गया था
उन आर्षग्रन्थश्रद्धालु दिवंगत

डॉ० श्री भगवान्दास जी

को

सादर समर्पित

लेखक का निवेदन

इतिहासपुराणार्थविदुषे लोकचक्षुषे ।
व्यासाय महते वेदप्रवक्त्रे मुनये नमः ॥

इतिहासपुराणशब्द[1] इस देश में इतना प्रसिद्ध है कि इस साहित्य की उपादेयता और प्रामाणिकता के विषय में कुछ कहना सर्वथा निष्प्रयोजन है। पुराणकारों ने ठीक ही कहा था कि जो पुराण नहीं जानता, वह विचक्षण नहीं होता—"न चेत् पुराणं संविद्याद् नैव स स्याद् विचक्षणः"। इतिहास (जिसका प्रसिद्धतम उदाहरण 'महाभारत' है) हमारी दृष्टि में तिथिक्रम और घटना का संकलनमात्र नहीं है, बल्कि वह मोहनाशक के रूप में ही प्रसिद्ध है—"इतिहासप्रदीपेन मोहावरणघातिना, लोकगर्भगृहं कृत्स्नं यथावत् संप्रकाशितम्।" वर्तमान ग्रन्थलेखक इस दृष्टि का पूर्णतः अनुयायी है। हम समझते हैं कि भारत की सर्वविध शिक्षाविधि में इतिहासपुराण का एक मर्यादित स्थान होना चाहिए। इस विषय में 'पातनिका' में पर्याप्त विवेचन किया गया है।

---

१. कुछ लोग 'पुराणेतिहास' शब्द का प्रयोग करते हैं। द्वन्द्वसमास के नियमानुसार यद्यपि इस शब्द को असाधु नहीं कहा जा सकता, तथापि शिष्टपरंपरागत प्रयोगों को देखने से 'इतिहासपुराण' शब्द ही प्रयोगार्ह जान पड़ता है। समास में 'अभिधानलक्षणाः कृत्तद्धितसमासाः' नियम माना जाता है। 'अभिधान' 'इतिहासपुराण' शब्द के पक्ष में ही है। शब्दों के पूर्वनिपात के विचार में शिष्टपरंपरा का प्रामाण्य कहाँ तक है, इस विषय में मित्रमिश्र का वाक्य द्रष्टव्य है ('पितरौ' शब्द के विग्रह में 'माता च पिता च' होगा या 'पिता च माता च' होगा, इस विषय को लेकर)—"विग्रहवाक्ये यद्यपि पूर्वनिपातनियमो नानुशासनसिद्धस्तथापि व्याख्यातृसंप्रदायसिद्धोऽस्त्येव। न हि क्वापि पिता च माता च पितराविति विगृह्णन् दृश्यते" (व्यवहारप्रकाश पृ० ५२५)। समास में तो सर्वत्र 'इतिहासपुराण' शब्द ही दृष्ट होता है, यहाँ तक कि वाक्य में भी इतिहास के बाद पुराण पद का प्रयोग देखा जाता है। यदि किसी अर्वाचीन संस्कृत ग्रन्थ में छन्द मिलाने के लिये 'पुराणेतिहास' शब्द प्रयुक्त हुआ है, तो बात दूसरी है।

यह ग्रन्थ मेरे इतिहासपुराणसंबन्धी प्रकाशित निबन्धों का परिमार्जित रूप है, यद्यपि संपादनकाल में कुछ नवीन अंश संयोजित हुए हैं। इस वाङ्मय में प्रतिपादित कुछ विशिष्ट तथ्य और समस्यामूलक विषयों का विवेचन इन लेखों में किया गया है। यह विवेचन मुख्यतः शास्त्रीय दृष्टि के अनुसार है, यद्यपि नवीन अनुसन्धानात्मक दृष्टि का उपयोग भी सर्वत्र किया गया है। इस ग्रन्थ में इतिहास, भूगोल, दर्शन, धर्म, कला और शब्द-इन विषयों से संबद्ध लेख ही संकलित हुए हैं। लेखों का सज्जीकरण आदि से अन्त तक किसी एक पद्धति के अनुसार किया गया है, ऐसी बात नहीं, यद्यपि लेखगत विषय के सादृश्य के अनुसार लेखों के क्रमिक स्थापन की चेष्टा प्रायेण की गई है।

इन निबन्धों के अध्ययन से पाठकों को यह ज्ञात होगा कि 'इतिहासपुराण' केवल कर्मकाण्ड या आत्मज्ञान के लिये ही अध्येतव्य नहीं, बल्कि लोकाभ्युदय के लिये भी इस वाङ्मय का उपयोग सफलतापूर्वक किया जा सकता है। यहाँ तक कि विशुद्ध वैज्ञानिक विषय भी पुराणों में अपनी शैली के अनुसार विवृत हुए हैं। इन यथाश्रुत विषयों का प्रतिपादन पुराणकारों ने अपनी परंपरागत शैली के अनुसार किया है—समीक्षात्मक दृष्टि से सत्यासत्य विवेचनपूर्वक नहीं। कण्ठपरंपरा में प्रचलित यह विद्या बाद में बहुत कुछ विपर्यस्त हो गई है, यह भी न्यायतः सिद्ध होता है। यह निश्चित है कि आज के शिक्षित व्यक्तियों को पुराण की वर्णन-शैली सर्वत्र संगत प्रतीत नहीं होगी, पर इससे पुराण के मूल वक्तव्य की असत्यता प्रमाणित नहीं होती। हमें यह भी मानना ही होगा कि पुराणप्रयुक्त अनेक प्रसिद्ध शब्दों के विवक्षित अर्थ आज अज्ञातप्राय हैं। पुराणविद्या के क्षेत्र में पर्याप्त अध्ययन, मनीषा और तर्कशक्ति के साथ जो विद्वान् निष्ठापूर्वक कार्य करेंगे, वे ही इस विद्यासमुद्र को मथकर ज्ञानामृत का पान कर सकेंगे।

पुराणों पर नवीन आलोचनात्मक दृष्टि से कार्य करने का प्रयास पाश्चात्य विद्वानों के द्वारा सर्वप्रथम किया गया है।[1] भारतीय विद्वानों का ध्यान इस ओर पर्याप्त मात्रा में आकृष्ट नहीं हुआ, यद्यपि अब कुछ विद्वान् इस विद्या पर उपादेय कार्य कर रहे हैं। हिन्दी में पुराण पर मौलिक आलोचनाग्रन्थ बहुत कम हो

---

१. धर्मशास्त्रीय निबन्धग्रन्थों में न्यायमीमांसा-पद्धति के अनुसार पुराणवचनों की समीक्षा पूर्वाचार्यों ने की है। इसी प्रकार दार्शनिकों ने भी पुराणवचनों की व्याख्या स्वसम्प्रदाय की दृष्टि के अनुसार की है। पूर्वाचार्यों के इन विचारों का ज्ञान नवीन आलोचकों को होना चाहिए।

प्रणीत हुए हैं, यद्यपि महाभारत पर कई अच्छे ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं। पुराण का क्षेत्र बहुत ही विशाल है—जीवन का कोई भी ऐसा क्षेत्र नहीं है, जिसका प्रतिपादन पुराणों में न किया गया हो। खेद है कि आज तक **पुराण वाङ्मय के इतिहास** पर कोई प्रौढ़ ग्रन्थ अंग्रेजी या किसी भारतीय भाषा में नहीं लिखा गया। **पुराणोक्त विविध विद्याओं के स्पष्टीकरण** का कार्य भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। एक विद्वान् अपना पूरा जीवन इन दो ग्रन्थों के प्रणयन में लगा सकता है। मेरी कामना है कि पौराणिक विषयों पर ग्रन्थ लिख कर हमारी राष्ट्रभाषा के एक अंग की पूर्ति करूँ। **शब्दनिर्माणकार्य** में इतिहासपुराण असाधारण सहायक हो सकते हैं। इस दृष्टि से भी एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखा जा सकता है।[1]

प्रस्तुत ग्रन्थ की भाषा के विषय में मुझे कुछ कहना है। यह निश्चित है कि इस ग्रन्थ में प्रयोगों की विविधता मिलेगी। एक ही अर्थ में 'लिये–लिए' 'गए–गये' इत्यादि शब्दद्वय आचार्य भेद से साधु माने जाते हैं। यद्यपि मैं अपनी दृष्टि में एक रूप को ही अधिक संगत समझता हूँ, तथापि (प्रकाशित निबन्धों के संग्रह होने के कारण) इस ग्रन्थ में दोनों रूपों के प्रयोग मिलेंगे। मैंने भाषा में एकरूपता लाने की चेष्टा की है, पर कार्यतः सम्यक् एकरूपता लाना संभव न हो सका। जय-विजय-आत्मा-विधि आदि शब्द यदि कहीं पुंलिंग में प्रयुक्त हुए हों, तो उन्हें 'एकदेशी प्रयोग' समझकर उनके साधुत्व को स्वीकार करना चाहिए। अहिन्दीभाषा-भाषी जब हिन्दी में लिखेंगे, तब उनकी अपनी भाषा का प्रभाव हिन्दी-रचना पर भी पड़ेगा, यह व्यावहारिक सत्य है[2]। कहीं-कहीं मेरी भाषा में

---

१. इस विषय में प्रस्तुत ग्रन्थ (पृ० १४७–१५१) द्रष्टव्य है। प्रसंगतः हम कहना चाहते हैं कि शब्दसंबन्धी अनेक विवाद इतिहासपुराण-प्रयुक्त शब्दों के परिदर्शन से समाप्त हो जाएंगे। हिन्दी में 'जागृति' शब्द चलता है, यह असंस्कृत शब्द है, ऐसा कुछ लोग कहते हैं, यद्यपि लिङ्गपुराण में जागृति का प्रयोग है (१।२०।९३)। यदि यह प्रयोग मुद्रणप्रमादजनित न हो तो इसका साधुत्व मानना होगा। शब्दप्रयोग की विविधता के लिये महाभारत श्रेष्ठ आकरग्रन्थ है। वायु० में उचित ही कहा गया है–"भारती चैव विपुला महाभारतवर्धिनी" (१।१८)।

२. संस्कृतसाहित्य में भी यह प्रवृत्ति देखी जाती है। असंस्कृतभाषी संस्कृत ग्रन्थकार अनेक असंस्कृत शब्दों को भ्रमवश संस्कृत शब्द समझते थे—स्वयं

संस्कृतशब्दों की बहुलता मिल सकती है, विचार्य विषय की प्रकृति जिसका प्रमुख कारण है, यह जानना चाहिए।

मेरी दृष्टि में इस ग्रन्थ का मूल श्रेय हिन्दी पत्रपत्रिकाओं के उन उदारहृदय संपादकों को मिलना चाहिए, जो अपरिपुष्ट हिन्दी में लिखित मेरे निबन्धों को गत ९–१० वर्षों से प्रकाशित करते आ रहे हैं। मेरे जैसे एक अहिन्दीभाषी अप्रसिद्ध लेखक के लिये यह कम गौरव की बात नहीं है कि हिन्दी की प्रायः सभी प्रमुख पत्र-पत्रिकाओं के संपादकों ने मेरे शास्त्रार्थप्रधान लेखों का (भाषा संशोधनपूर्वक) प्रकाशन किया है। मैं आजीवन इस ऋण से उऋण नहीं हो सकता।

इस ग्रन्थ के प्रकाशक श्री रामेश्वर सिंह जी के सहयोग को मैं भूल नहीं सकता। लेखकों के साथ उनका व्यवहार एक सहयोगी मित्र की तरह होता है। साहित्य की श्रीवृद्धि के लिये ऐसी मनोवृत्ति की आज अत्यन्त आवश्यकता है। पुराणसंबन्धी उच्चकोटि के ग्रन्थों का प्रकाशन भी निकट भविष्य में प्रकाशक महोदय करना चाहते हैं। उनका यह संकल्प पूर्ण हो, यह हमारी कामना है। अत्यन्त अल्प समय में इस ग्रन्थ को मुद्रित करने के लिये मुद्रक और उनके सभी सहयोगियों को धन्यवाद देता हूँ। सूचीनिर्माण आदि कार्यों में मेरे मित्र श्री गोपाल शर्मा और श्री रमापद चक्रवर्ती ने जो श्रम किया है, तदर्थ उन्हें धन्यवाद देना मेरा कर्तव्य हो जाता है।

विजयादशमी
(२७।१०।६३)
५।२६६, अवधगरवी,
वाराणसी

—रामशंकर भट्टाचार्य

पूर्वाचार्यों ने ही ऐसा कहा है। हेमचन्द्र कहते हैं–"दरच्चेदर्थेऽव्ययं प्राकृते। दरेत्यल्पार्थे। स एष संस्कृते कविभि र्भ्रान्त्या प्रयुक्तः" (हैमधातु पारायण २४२)। अर्वाचीन काल में 'दर' शब्द को साधु ही माना गया है।

विषय-सूची

अध्याय	विषय	पृष्ठ से पृष्ठ तक
१.	पुराणों की उपादेयता और उनके शीघ्र सम्पादन के उपाय	१–७
२.	पौराणिक व्यक्तिनामघटित समस्याएँ	८–१३
३.	पुराणों के भौगोलिक शब्दों की समस्या	१४–१९
४.	पुराणों में महाभारत का विवरण	२०–२७
५.	कौटल्य का कौटिल्य-रूपान्तर	२८–३२
६.	महाभारत के 'यतोधर्मस्ततो जयः' सिद्धान्त की उपपत्ति	३३–४३
७.	हस्तिवैद्यककार वीरसोम का परिचय	४४–४५
८.	वेदोक्त वाग्धेनु का पौराणिक उपबृंहण	४६–४८
९.	इतिहासपुराणोक्त आचार्यस्वरूप	४९–६०
१०.	पुराणोक्त तीर्थविवेचन	६१–७७
११.	भौगोलिक पदार्थों की पौराणिक गणना	७८–८४
१२.	पुराणगत वैदिक अनुवाक-सूक्तादि शब्द	८५–८८
१३.	स्कन्दपुराण में वर्णित कतिपय कलाएँ	८९–९८
१४.	इतिहासपुराण में वर्णित कठोर तपस्याएँ	९९–१०८
१५.	इतिहासपुराण में वन-विवरण	१०९–११६
१६.	इतिहासपुराण में उद्भिद्विषयक कुछ विशिष्ट निर्देश	११७–१२५
१७.	भागवत में कपिलसंबन्धी एक भ्रान्त निर्देश	१२६–१२८
१८.	'महर्षीणां भृगुरहम्' वाक्य में भृगुनाम का सार्थक्य	१२९–१३१
१९.	गीता के विभूतियोग में वाल्मीकि का नाम	१३२–१३५
२०.	एकलव्य कृष्ण का चचेरा भाई था	१३६–१३९
२१.	नामकरण की पौराणिक पद्धतियाँ	१४०–१४६
२२.	पारिभाषिक शब्दनिर्माण के क्षेत्र में इतिहासपुराण का उपयोग	१४७–१५१
२३.	इतिहासपुराण में माला का निर्देश	१५२–१५५
२४.	पुराणों में नेत्रसौन्दर्य का चित्रण	१५६–१५९
२५.	इतिहासपुराण में दृढ़स्वस्थ शरीर के विशिष्ट विशेषण	१६०–१६३
२६.	इतिहासपुराण में वाग्व्यवहार के विशिष्ट स्थल	१६४–१६७
२७.	अहिंसा की उपपत्ति	१६८–१८०

अध्याय	विषय	पृष्ठ से पृष्ठ तक
२८.	वेदोक्त हृदय-मन-सम्बन्ध का स्पष्टीकरण : इतिहासपुराण के आधार पर	१८१–१९०
२९.	हरिवंशपुराणोक्त चन्द्रविज्ञान	१९१–१९४
३०.	इतिहासपुराण में हिमालयसम्बन्धी विशिष्ट उल्लेख	१९५–२०२
३१.	पुराणोक्त भौगोलिक शब्द और उनके अर्थ	२०३–२१२
३२.	इतिहासपुराण में ग्राम	२१३–२१८
३३.	पुराणवर्णित नदी और नदीसंगम	२१९–२२६
३४.	पुराणों में पर्वतचित्रण	२२७–२३२
३५.	महामति पर्जिटर के दो भ्रान्त मत	२३३–२३५
३६.	भागवतप्रयुक्त 'परिणूत'-शब्द का साधुत्व	२३६–२३७
३७.	स्कन्दपुराणगत वैदिक सामग्री का निर्देश	२३८–२४६
३८.	मैत्री : पुराणादि शास्त्रों की दृष्टि में	२४७–२५६

परिशिष्ट

प्रथम—पौराणिक तीर्थविवरणों का आकरस्थल निर्देश	२५९–२७२
द्वितीय—पुराणों में मनुकृतधर्मशास्त्र के निर्देश	२७३–२७६
तृतीय—पुराण और काव्यादिगत श्लोकों में शब्दसादृश्य	२७७–२७९
चतुर्थ—इतिहासपुराणगत बुद्धबौद्धबोधितरु शाक्यादि प्रसंग	२८०–२८६
पञ्चम—पौराणिक पुष्पवृक्षसूची	२८७–२८८
प्रमुखशब्दसूची	२८९–३१२

सर्वसुलभ

इतिहास-पुराण का अनुशीलन

पातनिका

: १ :

पुराणों की उपादेयता और उनके शीघ्र संपादन के उपाय

ऐतिहासिक और साहित्यिक दृष्टि से पुराणों की उपादेयता कितनी है, यह कहने की आवश्यकता नहीं है। पाश्चात्त्य विद्वानों ने भी मुक्तकण्ठ होकर पुराणों की प्रामाणिकता को स्वीकार किया है। धार्मिक, दार्शनिक और साम्प्रदायिक क्षेत्रों में पुराण तो सर्वथा अपरिहार्य ही हैं। जनता में असंकीर्ण धर्म और सदाचार के प्रचार-प्रसार के लिये भी पुराणों का सार्वभौम अध्ययन-अध्यापन-प्रचार सर्वथा वांछनीय है।

ऐसी स्थिति में पुराणों का सुलभ संस्करण प्रकाशित करना हम सबों का धार्मिक और नैतिक कर्त्तव्य हो जाता है। हमारा सौभाग्य है कि हमारे पास आनन्दाश्रम (पूना), वेंकटेश्वर प्रेस (बम्बई), जीवानन्द-प्रकाशन (कलकत्ता), बंगवासी प्रेस (बंगला अक्षर में, कलकत्ता) आदि महान् पुराण-प्रकाशक हैं, जिनके कारण आज भी पुराणग्रन्थ किसी न किसी रूप में मिल जाते हैं। इन महान् प्रकाशकों के अतिरिक्त और भी कई प्रकाशक थे, जिन्होंने एक दो पुराणों के अच्छे संस्करण निकाले, किसी ने ब्रह्मपुराण का, किसी ने मार्कण्डेयपुराण का, किसी ने विष्णुपुराण का इत्यादि।[1] भागवत के संस्करणों की तो कोई गिनती ही नहीं। आजकल भी कई प्रकाशन-कार्य हो रहे हैं—कलकत्ता की गुरुमण्डलग्रन्थमाला के द्वारा कई पुराणों के संस्करण प्रकाशित हुए हैं। काशी में

---

१. पाश्चात्त्य विद्वानों के द्वारा पुराण पर प्रशंसनीय कार्य किए गए हैं; इन कार्यों का हिन्दी में अनुवाद वांछनीय है।

सर्वभारतीय काशिराजन्यास भी इस ओर प्रयत्नशील है। सुना जाता है कि उत्तर प्रदेश सरकार के पास भी पुराण-प्रकाशन की कोई अच्छी योजना है। यह भी सुना जाता है कि केन्द्रीय सरकार इस विषय की महत्ता को स्वीकार कर चुकी है। इस प्रकार सरकार की ओर से और व्यक्ति या व्यक्तिगत संस्थाओं की ओर से जो भी पुराण-प्रकाशन-योजनाएँ सक्रिय (और निष्क्रिय रूप से कथंचित्) रूप से चल रही हैं, वे सब धन्यवाद के पात्र हैं। सभी अभिज्ञ और जाति-उत्कर्ष-कामी व्यक्तियों को इनके साथ यथाशक्ति सहयोग देना चाहिए। यह ब्रह्मयज्ञ है, इसकी महती प्रशंसा हमारे पूर्वाचार्यों ने की है। वैखानस धर्मप्रश्न में कहा गया है—सर्वयज्ञानामादि र्ब्रह्मयज्ञः (२।१३।७), जो सर्वथा सत्य है।

पर पुराणों का प्रकाशन किस्सा-कहानी-कविता-उपन्यास-प्रकाशन की तरह सहज काम नहीं है और न इससे जल्दी ही पर्याप्त लाभ होने की सम्भावना है। पुराणों को खरीद कर पढ़ने वालों में नई पीढ़ी के युवक तो शायद ही अग्रणी बने, यद्यपि हमारा कर्तव्य है कि हम उन्हें समझाएँ, जिससे वे जीवन के क्षेत्र में उपादेयता को समझकर पुराणों को यदा-कदा खरीदें। हम चाहते हैं कि हमारे युवक प्राचीन नीतिशास्त्र से परिचित हों और प्राचीन विद्वान् और नेताओं के चरितों के साथ आधुनिक विद्वान् और नेताओं की योग्यता की तुलना करें तथा दोनों पक्षों की समीक्षा कर सत्यासत्य-विवेकपूर्वक सत्यपक्ष को ग्रहण करें। यह एक बहुत बड़ा आवश्यक कार्य है और यदि यह न हुआ तो हमारे युवकों के सामने आदर्श न रहेगा, और वे अज्ञधूर्तों के द्वारा प्रवंचित होते रहेंगे। पुराणों के अध्ययन से वे यह भी समझ सकेंगे कि दुष्कर्म क्या है, दुष्कर्म का फल क्या होता है, धार्मिक-क्षेत्र में किस प्रकार की धूर्तता चलती है, राजनीति-क्षेत्र के लोग कैसे अज्ञ जनता को मूर्ख बनाते हैं, दाम्भिक राजा का नाश क्यों और कैसे होता है, अतिरिक्त कर लगाने वाले राजा के साथ कैसा व्यवहार करना चाहिए, कौन मन्त्री होने के योग्य हैं, कौन नहीं, दलबन्दी और गुटबन्दी का तामसिक कारण क्या है, धूर्त नेता कैसे अपने मनोभाव को छिपाकर प्रजा का शोषण करते हैं.....इत्यादि विषयों का प्रामाणिक ज्ञान पुराणों के अध्ययन से सरलता से संभव है; कौटल्य के अर्थशास्त्र से या शुक्रनीति के अध्ययन से यह ज्ञान मिलना सहज नहीं है। हमारी माताएँ और बहनें भी उचित रूप से प्रकृत सदाचार का ज्ञान प्राप्त कर सकेंगी, यदि पुराणों का सुलभ संस्करण उचित ढंग से प्रकाशित किया जाय और वे ढोंगी, धूर्त साधुओं के द्वारा व्यभिचतिरअमर्यादित और लुण्ठित न होंगी। अवसरप्राप्त वृद्ध सज्जन भी अपनी आत्मा

में कुछ-न-कुछ शान्ति पुराणों के अध्ययन से प्राप्त कर सकेंगे और वे अपने पुत्र-पौत्र आदि को सावधान कर सकेंगे कि राजनीतिक धूर्तता और धार्मिक धूर्तता का स्वरूप क्या है, कैसे उससे बचा जा सकता है। वृद्ध पुरुष नवीन युवकों को यदि प्रकृत सदाचार का उपदेश कर सकें तो उससे ज्यादा और कोई लाभ नहीं है; उच्छृंखल बालक उनके संचित अर्थ को दो-चार दिनों में उड़ा देंगे, पर यदि वे युवकों की बुद्धि को ठीक कर दें—पुराणों के उपदेश और आख्यायिकाओं के आधार पर—तो वे उनके वस्तुतः हितकारक सिद्ध होंगे। बृहस्पति की नीति, शुक्र की नीति आदि पुराणों में प्रचुर मात्रा में हैं। नारद के चरित से लोग यह भी जान सकेंगे कि दुष्ट प्रकृति के व्यक्ति कैसे मित्रों में फूट डालते हैं और वे आपस में लड़ना बन्द कर देंगे। वस्तुतः मानव-जीवन के सर्वविध क्षेत्रों में सुविकसित रूप से उन्नति करने के लिये जो भी ज्ञान चाहिए, वह पुराणों में सहज-सरल रूप से प्रचुर मात्रा में विद्यमान है, जिसका प्रचार हमारे युवकों में होना चाहिए—यदि हमें तेजस्वी होना है, मूर्खता से बचना है। राणा प्रताप और शिवाजी का देशप्रेम पुराणों पर निर्भर था, वाशिंगटन की जीवनी पर नहीं।

हमने अभी कहा है कि इन पुराणों के प्रकाशन में कई बाधाएँ हैं। हम तो यहाँ तक समझते हैं कि प्रत्येक पुराण के उपादेय और आवश्यक अंशों को छाँट-कर संक्षिप्त संस्करण सस्ते दामों पर सस्ते कागज पर भी छपाना चाहिए। गीता-प्रेस अपने ढंग से इस कार्य को करता है, जिसे और विशद रूप से किया जा सकता है। मूल श्लोक रहना अत्यन्त आवश्यक है। सर्वत्र यह आन्दोलन करना हमारा कर्तव्य है कि 'भारत की शिक्षाविधि में संस्कृत भाषा का सामान्य स्थान आवश्यक रूप में सर्वत्र हो।' संस्कृतभाषा का ज्ञान न रहने के कारण ही अवसरप्राप्त कार्यनिवृत्त सज्जन बुढ़ापे में धर्म की क्षुधा की शान्ति के लिये इधर-उधर भटकते रहते हैं और धूर्त 'महात्मा' नामधारी के द्वारा प्रवञ्चित होते रहते हैं। जज, वकील, प्रोफेसर, डाक्टर, इंजीनियर, बैरिष्टर, साहित्य-कार, मन्त्री, नेता आदि सज्जनों को अशिक्षित और भ्रष्टचरित्र 'साधुओं' के द्वारा ठगे जाते हुए हमने शतशः देखा है और यह क्रम तब तक चलता रहेगा जबतक शिक्षित हिन्दुओं में संस्कृतभाषा का सामान्य ज्ञान न हो जाय, और वे पुराणादि के माध्यम से प्रकृत सनातन धर्म का कुछ ज्ञान न प्राप्त कर ले। धर्म की क्षुधा भी एक बहुत बड़ी क्षुधा है, जिसकी सरलता से पूर्ति करने के लिए पुराणों की रचना पूर्वाचार्यों ने की थी, जिससे अज्ञ-धूर्त साधुओं के द्वारा भोली धर्मप्रिय जनता ठगी न जाय। आज तो 'भ्रष्टाचार का दमन' और 'देशप्रेम की वृद्धि' के लिये भी पुराणों के प्रचार और वैज्ञानिक सम्पादन की आवश्यकता है।

पुराणों के सुसम्पादन के लिये प्रमाणिक हस्तलेखों की बड़ी आवश्यकता होती है, और सच कहा जाय तो इसके विना वैज्ञानिक सम्पादन का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। पुराणसम्पादन में जो देरी होती है या अर्थव्यय होता है, उसका अन्यतम बड़ा कारण यही है। वर्तमान स्थिति में हमारा सुझाव यह है कि हस्तलेखों के लिये पुराण-प्रकाशन को बन्द करना या अत्यधिक विलम्ब करना उचित नहीं है। कई संस्थाओं में मेरे सुझावों के अनुसार पुराणों का संपादन-प्रकाशन-कार्य हो रहा है; जिस पद्धति से यह कार्य हो रहा है, उससे अन्य विज्ञ व्यक्ति भी लाभ उठाएँ, इस दृष्टि से यहाँ उस पद्धति को प्रकाशित किया जा रहा है—

(क) हमने यह देखा है कि पुराणों के प्रचलित संस्करणों में कोई विस्तृत विषय-सूची (इन्डेक्स) नहीं दी जाती, जिससे आज के व्यस्ततायुग में पुराणों से अल्पकाल में कोई लाभ नहीं होता। अतः प्रत्येक पुराण के साथ पुराणोक्त विषय और चरितों की अनुक्रमणी देनी आवश्यक है। प्रत्येक पुराण में प्राचीन पाँच लक्षणों (सर्ग-प्रतिसर्ग-वंश-वंशानुचरित-मन्वन्तर) के अतिरिक्त अन्य अनेक आवश्यक विषय हैं (भूगोल, वर्णधर्म, आश्रमधर्म, विभिन्न विद्याएँ, विभिन्न धर्म-दर्शन-संप्रदाय, तीर्थ इत्यादि) और ये विषय ही पुराणों में सर्वाधिक हैं। विषयानुक्रमणी के विना साधारण पाठकों के लिये अभीष्ट विषय को ढूँढ़ना संभव नहीं है, अतः प्रत्येक पुराण के साथ एक विशद विषयानुक्रमणी देनी चाहिए। पुराणों का संपादन चाहे कितना ही अच्छा क्यों न हो, इस सूची के विना वह उपकारक नहीं होगा।

(ख) प्रत्येक पुराण के साथ ऐतिहासिक और साहित्यिक दृष्टि पर आधारित एक विस्तृत भूमिका (लगभग १०० पृष्ठ) आवश्यक है। प्रत्येक पुराण एक निश्चित परिस्थिति में, निश्चित उद्देश्यों की पूर्ति के लिये रचा गया है, अतः उस पृष्ठभूमि का ज्ञान करना पुराण के उद्देश्य को समझने के लिये अत्यन्त आवश्यक है। जब तक कोई शिक्षित व्यक्ति पुराणरचना की पृष्ठभूमि को न जान सकेगा, तब तक वह पुराणों के परस्पर विरुद्ध उक्तियों का मर्म न समझ सकेगा और धर्माचरण के क्षेत्र में सांप्रदायिक दृष्टि में निन्दा-प्रशंसा-युक्त बात ही करता रहेगा, ऐतिहासिक सत्य से उसका सम्बन्ध नहीं रहेगा।

(ग) पुराणोक्त कथाओं के तात्पर्य को भी पृथक् रूप से संलग्न करना चाहिए, जिससे पुराणोक्त आदर्शों का ज्ञान हमारी नई पीढ़ी के युवकों को प्राप्त हो। पुराणों में पृथु राजा की जो कथा है, उसका तात्पर्य क्या है, उसे नीलकण्ठ ने दिखाया है कि राजा यदि सत्यनिष्ठ हों, स्वधर्म का ठीक से पालन करें तो

पृथिवी में शस्यादि की प्रचुर मात्रा में उत्पत्ति होती है और प्रजा भी सुखी रहती है (हरिवंश १।६।५५ टीका)। इस प्रकार पुराणोक्त प्रत्येक कथा का तात्पर्य भी पूर्वाचार्यों की युक्तिप्रणाली के अनुसार पुराणसंस्करणों में यथास्थान लिखा रहना चाहिये।

(घ) भूमिका में पुराणोक्त सभी क्लिष्ट विषयों का स्पष्टीकरण भी कर देना चाहिए और सम्भव हो तो पुराणगत विवरणों का एक सार भी दे देना चाहिए। ऐसी स्थिति में भूमिका की पृष्ठ संख्या बढ़ जाएगी, पर उपयोग की दृष्टि से ऐसा यदि करना हो तो वही उपादेय होगा। आखिर पुराणों का प्रकाशन लायब्रेरी के लिये ही तो नहीं किया जा रहा है, हमारी जनता पुराणों को पढ़ें, केवल धार्मिक दृष्टि से नहीं, बल्कि लोकोपयोगी ज्ञान के आहरण के लिये भी पढ़े, इस उद्देश्य से ही श्रद्धापूर्ण हृदय से पुराणों का प्रकाशन होना चाहिए।

(ङ) प्रत्येक पुराण में जितने लोकोपयोगी विषय हैं, भूमिका में उनका एकत्र निर्देश कर देना चाहिए। वृक्षों की उपादेयता-अनुपादेयता के विषय में, मेघ और वृष्टि की सत्ता और उपकारिता के विषय में, कृषि और खाद्य के विषय में, वस्त्र-भूषण आदि के विषय में, रोगादि के दूरीकरण के विषय में प्रत्येक पुराण में अनेक सुभाषित और विशिष्ट श्लोक मिलते हैं। समाजसेवी जनहितेच्छु व्यक्ति जब इन श्लोकों को पुराणों में देखेंगे तो उनके हृदय में पुराणों के प्रति श्रद्धा उत्पन्न होगी और क्रमशः पुराणों का प्रचार-प्रसार बढ़ेगा। आज जो 'वन महोत्सव' चल रहा है, उसकी उपकारिता के विषय में पुराणों में अनेक उपादेय वचन मिलतें हैं; यदि वनमहोत्सवकारियों की दृष्टि में ये पुराणवचन रहते, तो वे और भी अधिक श्रद्धा से वनमहोत्सव का प्रचार करते।

(च) प्रत्येक पुराण में राजनीति-समाजनीति-अर्थनीति पर जो आदर्शदृष्टि कही गई है, उसका संक्षिप्त विवरण भी भूमिका में दे देना चाहिए। इन सब विषयों को देखने के बाद ही शिक्षित जनता का ध्यान पुराणों पर आकृष्ट होगा, जिससे हम भारत के निवासी पुराण के ऋण से कुछ उऋण हो सकेंगे।

(छ) पुराण-संस्करण के लिये पुराणपाठों को शुद्धि पर भी कुछ विचार करना आवश्यक है। हम मानते हैं कि हस्तलेखों के विना वैज्ञानिक सम्पादन नहीं हो सकता, पर हम हस्तलेखों के अभाव के कारण या उसकी प्राप्ति में विलम्ब के कारण पुराणों का सम्पादन-प्रकाशन बन्द नहीं कर सकते। हमारा कहना यह है कि प्रत्येक पुराण के सहस्रशः श्लोक पुराणों का नाम लेकर विभिन्न निबन्ध ग्रन्थों में उद्धृत किए गए हैं। हम (हस्तलेख के अभाव में) निबन्ध ग्रन्थों में उद्धृत पाठों को पुराणों के श्लोकों के साथ देने की प्रणाली को भी वैज्ञानिक समझते हैं; इससे पाठसमीक्षा

का कार्य बहुत दूर तक सार्थक रूप से किया जा सकता है। पुराणों के हस्तलेख जितने प्राचीन मिल सकते हैं, उनसे प्राचीनतर वे निबन्ध ग्रन्थ मिलते हैं, जिनमें पुराणों के वचन उद्धृत किए गए हैं। अनेक स्थलों में तो निबन्ध ग्रन्थों में उद्धृत पुराणवचन अर्थवान् प्रतीत होते हैं, हस्तलेखगत या मुद्रित पुराणपाठ अर्थहीन ही जान पड़ते हैं। अनेक स्थलों पर निबन्धकारों ने पुराणों के अध्यायों के नाम भी कहे हैं (तीर्थकल्पतरु, तन्त्राधिकारिनिर्णय आदि द्र०), जिससे यह भी ज्ञात हो जाता है कि पुराणों की प्रतिलिपि करने में कितना परिवर्तन हुआ है या पुराणों की परम्परा में कितनी धाराएँ हो चुकी हैं। जिन पुराणवचनों के साथ सम्बद्ध पुराणग्रन्थों का नाम नहीं लिया गया है, उनके आकरस्थल का अनुसन्धान कर यथास्थान उन उद्धृत वचनों का भी समावेश कर लेना चाहिए।

धर्मशास्त्रीय निबन्धग्रन्थ के अतिरिक्त दार्शनिक ग्रन्थ या शैव-शाक्तादि साम्प्रदायिक ग्रन्थों में भी पुराणवचनों का प्रचुर उद्धरण दिया गया है (द्र० आगम-प्रामाण्य, वेदान्तसूत्रादि के भाष्यटीकादिग्रन्थ, मध्व-रामानुजादि के प्रकरण ग्रन्थ आदि)। इन उद्धृत वचनों का भी यथास्थान समावेश करना चाहिए; पूर्ववत् इसकी भी उपयोगिता है।

हमने तो व्याकरणग्रन्थों में भी पुराणवचनों का शब्दशास्त्रीय विश्लेषण देखा है। वामनपुराण के एकवचन की समीक्षा (१४।२३ श्लोक) व्याकरण-सम्प्रदाय के ग्रन्थों में मिलती है। हम देखते हैं कि आयुर्वेद, अलंकारशास्त्रादि विभिन्न विद्याओं के ग्रन्थों में भी यथाप्रसंग पुराणवचनों के उद्धरण दिए गए हैं, जिनका संग्रह करके पुराणों के संस्करणों में संनिवेश करना चाहिए। इस प्रकार पाठों की समस्या का समाधान बहुत दूर तक किया जा सकता है।

(ज) हमारा यह भी सुझाव है कि विभिन्न पुराणों के अनेक अंश समान-शब्दानुपूर्वी में मिलते हैं। मत्स्यपुराण का बहुत बड़ा भाग पद्मपुराण में मिलता है; ब्रह्मपुराण का कृष्णचरित हरिवंश और विष्णु पुराण के साथ बहुत ही शब्दशः एकरूप है, ब्रह्मपुराण का पुरुषोत्तम-माहात्म्य प्रायेण उसी रूप में स्कन्दपुराण के वैष्णव-खण्ड में मिलता है; वायु और ब्रह्माण्डपुराण के अनेक अध्याय समान हैं; वंश-वंशानुचरित अंश अनेक पुराणों में सामान्य विशेष रूप से एक ही आनुपूर्वी में पठित हुए हैं, पुराणों के भुवन-कोश अंश बहुत कुछ शब्दतः साम्य भी रखते हैं; इत्यादि। हमने सभी पुराणों के समानांशों का एक पूर्ण विवरण प्रस्तुत किया है, जिससे पुराणपाठों की मीमांसा बहुत दूर तक (हस्तलेखों के अभाव में) किया जा सकता है। मत्स्यपुराण के एक अंश को सभी प्राचीन सम्पादक गद्यग्रन्थ समझते

थे, पर मैंने ही पहले यह सूचना[1] दी थी कि यह पद्य में रचित है, गद्य में नहीं। पद्मपुराण के अंश-विशेष से इस अनुमान की पुष्टि होती है, यह भी मैंने दिखाया था। इस प्रकार हम देखते हैं कि पुराणपाठ की मीमांसा पुराणपाठों की पारस्परिक तुलना से भी की जा सकती है।

(झ) हमारा यह भी कहना है कि पुराण-श्लोकों के विभिन्न पाठों को देखकर किसी निश्चित मूलपाठ के निर्धारण करने के लिये अधिक समय लगाना नहीं चाहिए, क्योंकि किसी के द्वारा निर्धारित पाठ कभी भी सर्वसम्मत नहीं होगा, बहुसम्मत भी शायद सर्वत्र न हो, अतः निरर्थक श्रम और विलम्ब करने की अपेक्षा पाठान्तरों के साथ पुराणों को किसी एक निश्चित विधि के अनुसार छाप देना चाहिए[2]। हस्तलेखों की प्राचीनता आदि के अनुसार यदि पाठान्तरों का निर्देश किया जा सके, तो बहुत उत्तम बात है, पर यदि ऐसा होना सम्भव न हो तो केवल पाठान्तरों को देकर ही पुराणों का सुमुद्रित संस्करण निकाल देना चाहिए।

---

१. द्र० 'सिद्धान्त' (वर्ष १४, अङ्क ९) में प्रकाशित मेरा लेख।

२. हरिवंश की टीका में पाठविचार की दुरूहता को देखकर एकस्थान पर नीलकण्ठ ने कहा है—"तत्र पाठतत्त्वं व्यास एव वेद" (१।३७।३०)।

: २ :

पौराणिक व्यक्तिनाम-घटित समस्याएँ

पुराण और इतिहासादि वाङ्मय के अध्ययन से पता चलता है कि व्यक्ति के नामकरण की पद्धति भी कम जटिल नहीं है और कहीं-कहीं व्यक्ति-नाम तो एक समस्या[1] की तरह हो जाता है। इस प्रकरण में हम कुछ ऐसे उदाहरण प्रस्तुत कर रहे हैं, जिनसे समस्या का स्वरूप स्पष्ट हो जाएगा।

नामों में पर्याय-शब्द का प्रयोग :—यह एक विकट समस्या है। आज हम 'जगन्नाथ' नामधारी को 'विश्वपति' नहीं कह सकते और न 'रमापति' को 'लक्ष्मीपति' ही कह सकते हैं। यदि व्यक्तिनामों में इस प्रकार के पर्यायवाची शब्दों के प्रयोग होने लगे, तो व्यवहार का उच्छेद ही हो जाएगा।

पर पुराणादि में व्यक्तिनाम के साथ उसके पर्याय के प्रयोग भी उपलब्ध होते हैं। ये व्यक्तिनाम ऐतिहासिक नहीं हैं; अतः कोई दोष नहीं है—ऐसा सर्वत्र नहीं कहा जा सकता। वस्तुतः देवादि के अतिरिक्त ऐतिहासिक राजा आदि के नाम में भी पर्याय शब्दों का व्यवहार दीख पड़ता है, जैसा निम्नोक्त उदाहरणों से स्पष्ट प्रमाणित होगा—

महाराज पृथु के एक पुत्र का नाम 'अन्तर्धि' था—'पृथोः पुत्रौ महावीर्यौ जज्ञातेऽन्तर्धिपालिनौ' (विष्णु० १।१४।१) और इसी श्लोक के उत्तरार्द्ध में इस अन्तर्धि नामक राजा के लिये 'अन्तर्धान' शब्द का प्रयोग है–'अन्तर्धानाद् व्यजायत' (१।१४।१)। यहाँ टीकाकार श्रीधर स्वामीजी स्पष्टतया कहते हैं कि अन्तर्धि ही अन्तर्धान है—'अन्तर्धिरेव अन्तर्धानम्।' ध्यान देना चाहिये कि अन्तर्धि और अन्तर्धान पर्यायवाची शब्द हैं। पृथु एक ऐतिहासिक राजा है, जैसा कहा गया है—'आदिराजा पृथुर्वैन्यः' (महाभारत)। वैदिक वाङ्मय में भी पृथु का स्मरण सामान्यतः किया गया है, अतः यह कोई अनैतिहासिक विषय नहीं हैं, पर तब भी अन्तर्धि नामक राजपुत्र के लिये 'अन्तर्धान' शब्द का व्यवहार किया गया है, जो एक दुःसमाधेय समस्या ही है।

पुराणों में 'अरिमर्दन' नृप के लिये 'शत्रुवर्धन' का प्रयोग मिलता है (मार्कण्डेय० २६।६; २६।९; २६।२०)। पिप्पलाद ऋषि के लिये 'पिप्पला-

---

१. महामति पर्जिटर ने भी इस समस्या पर पर्याप्त विचार किया है; यहाँ मुख्यतः शब्दविद्या का आश्रयकर विचार किया जा रहा है।

शन' का प्रयोग है (ब्रह्म० ११०।११८); उसी प्रकार शिलाद ऋषि के लिये 'शिलाशन' भी प्रयुक्त हुआ है (लिङ्ग० १।४२।१)। हिरण्याक्ष दैत्य के लिये पुराणों में 'हिरण्यचक्षु' (वामन० १०।४५) और 'हिरण्यनयन' का प्रयोग भी बहुधा दृष्ट होता है। आयुर्वेद में अग्निवेश मुनि के लिये 'वह्निवेश' और 'हुताशवेश' का प्रयोग इस प्रसंग में ज्ञातव्य है। 'हुताशवेश' 'अग्निवेश' मुनि का नामान्तर है, यह मधुकोषग्रन्थ में स्पष्टतया कहा गया है।

हमने इस समस्या को दिखाने के लिये यहाँ इतने उदाहरण दिये हैं। नाम ग्रहण में इस प्रकार की प्रवृत्ति क्यों थी, यह एक आवश्यक विचार्य विषय है।

नाम के आदिम भाग में परिवर्त्तन :—नाम में ऐसे प्रयोग भी मिलते हैं। इस दुःसमाधेय व्यवहार की उपपत्ति करना आवश्यक है, अतः कुछ उदाहरण देकर यह समस्या विद्वानों के सामने रखी जा रही है—

प्राचीन विद्वान् ऐसे स्थलों में 'विभिन्न कल्पों के व्यक्तियों के ये नाम हैं' और 'कल्पभेद के कारण नामभेद होता है'—ऐसा कहते हैं। यह युक्ति कहाँ तक बलवती है, इसका भी विचार करना चाहिये। कल्पभेदानुसार नाम भेद का होना सिद्धान्ततः पुराणों में ही स्पष्टतः कथित हुआ है–"क्वचित् क्वचित् पुराणेषु विरोधो यदि दृश्यते। कल्पभेदादिभिस्तत्र व्यवस्था क्रियते बुधैः" (स्कन्दपुराण)।

वैवस्वत मनु के नौ (कहीं-कहीं दस) पुत्र कहे गए हैं। इनके एक पुत्र का नाम 'नेदिष्ट' है, ऐसा किसी का मत है (वस्तुतः इनके सब पुत्रों के यथार्थ नाम क्या हैं, यह निश्चित रूप से जानना कुछ कठिन है, क्योंकि पुराणों का पाठ बहुत भ्रष्ट हो गया है)। इसी 'नेदिष्ट' के लिये 'दिष्ट' शब्द भी प्रयुक्त हुआ है (द्र० विष्णु० ४।१।५ श्रीधरी)।

सगर के पिता का नाम 'सुबाहु' कहा गया है (ब्रह्माण्ड० २।५०।१३), पर कहीं-कहीं 'बाहु' नाम भी देखा जाता है। परशुराम के नाम से सभी परिचित हैं और उनका यह नाम पुराणों में असंख्य बार आया है, पर ब्रह्मवैवर्त पुराण में 'पर्शुराम' नाम आया है (३।२८।२०; ३।३१।१ गुरुमण्डल संस्करण)।

स्थान नाम में भी यह प्रवृत्ति दिखलाई पड़ती है। हम 'अमरकण्टक' नाम से परिचित हैं, पर कहीं-कहीं 'मरकण्टक' शब्द प्रयुक्त हुआ है (ब्रह्माण्ड० २।१३।१०)। इस प्रकार की प्रवृत्ति क्यों थी, यह विचार्य है। कहीं-कहीं भ्रम से भी ऐसा कहा गया है, यह भी हम जानते हैं। उदाहरणार्थ हम 'जनमेजय' नाम को ले सकते हैं, कहीं-कहीं इसके स्थान पर 'जन्मेजय' पाठ भी मिलता है, जो अशुद्ध ही है (जनान् एजयतीति जनमेजयः)।

नाम के अन्तिम भाग में परिवर्तन—इस पद्धति के अनुसार भी प्रयोग मिलते हैं। हो सकता है कि यह प्रत्ययभेदात्मक नामान्तर हो, पर चूँकि यहाँ प्रत्ययांश स्पष्ट नहीं है, अतः हम पृथक् विभाग में ऐसे नामों का संकलन कर रहे हैं।

लिङ्गपुराण में क्षुप नृप का उल्लेख है (१।३५।२९), और उन्हीं के लिये क्षुप् (पकारान्त) का प्रयोग भी इसी पुराण में मिलता है—'क्षुब्दघोचयोः' (१।३६।७८)। क्या यह छन्द मिलाने के लिये है? पुराणों में अकारान्त उपनिषद शब्द बहुधा मिलता है (केदार० ९।१२५), यह इस प्रसंग में ज्ञातव्य है।

इसी प्रकार मार्कण्डेयपुराण में अवीक्षित् नृप का उल्लेख है (१२५।१) और उनको 'अवीक्षित' भी कहा गया है (मार्क० १२२।१।२)। कहीं-कही 'अविक्षि' नाम भी है—'तस्माद् अविक्षिः' (विष्णु० ४।२।१६)। इस पर श्रीधर स्वामी कहते हैं—"अविक्षेरेव क्वचित् अविक्षिद् इत्यपि नाम"। परिक्षित् शब्द हलन्त के रूप में वायुपुराण में पठित है, (९९।२४९; ९९।२५४), पर परोक्षित् और अकारान्त 'परिक्षित' शब्द भी दीख पड़ते हैं।

पुरूरवाः नामक राजा के नाम में भी अन्तिमांश में परिवर्त्तन मिलता है। हो सकता है कि ऐसा विकल्प रहा हो या किसी कारणवश ऐसा परिवर्त्तन लेखक ने ही किया हो। वीरमित्रोदय के श्राद्धप्रकरण में 'पुरूरव' ऐसा अकारान्त शब्द पठित है (पृ० २३)।

छन्द मिलाने के लिये ऐसे परिवर्त्तन किए गये हैं, ऐसा कहना उचित होगा या नहीं, यह विचार्य है। ये सब व्यक्तिनाम हैं, सामान्य शब्द नहीं—अतः व्यक्तिनाम में छन्द मिलाने के लिये परिवर्त्तन किया गया है, ऐसा कहने के पूर्व सूक्ष्म विचार करने की आवश्यकता है।[1]

गुणकर्महेतुक नामान्तर—गुणकर्म के कारण भी कभी-कभी नया नाम पड़ जाता है और ऐसे स्थलों में यह नया नाम कभी-कभी एक दूसरे व्यक्ति का बोध भी करा देता है। सर्वत्र पुराणों में 'किसके कितने अन्य नाम हैं' इसका उल्लेख नहीं रहता, अतः पृथक् नामानुसार विभिन्न व्यक्तियों की सत्ता की कल्पना कर लोग भ्रम में पड़ जाते हैं। विष्णुगुप्त का नाम 'कौटिल्य' पड़ गया,

---

१. व्यक्तिनाम रूप संज्ञा 'अक्तपरिमाण' मानी जाती है (द्र० महाभाष्यप्रदीप १।२।१ गतवाक्य 'अक्तपरिमाणा संज्ञा')। अक्त=अभिव्यक्त=जिसका अवयव सम्यक् स्फुट एवं निश्चित है।

उसका कारण भी उनकी कुटिलता है, यह श्रीधर स्वामी की टीका से जाना जाता है (विष्णु० ४।२४।६)। कुवलयाश्व नामक अश्व के अधिपति होने के कारण शत्रुजित् नृप के ऋतध्वज नाम के पुत्र का कुवलयाश्वरूप नूतन नाम भी पड़ गया था, जैसा मार्क० २०।५३ में कहा गया है।

पुराणों में गुण-कर्मज नाम के अनेक उदाहरण मिलते हैं। प्रायः प्रत्येक प्रसिद्ध राजा का नाम किस रूप से पड़ा, इसका विवरण पुराणों में दिया हुआ है (गालव, पुरूरवाः, सागर आदि व्यक्तियों के नाम द्र०)।

पुराणों में ही गुण-कर्मज नाम पर स्वतंत्र रूप से विचार किया गया है। देवी भागवत में वसिष्ठ के 'मैत्रावरुणि' नाम पर यह प्रश्न किया गया है कि यह नाम गुण से है या कर्म से (किमसौ गुणतो नाम कर्मतो वा—६।१४।२)। देवी भावगत में अन्यत्र भी गुण-कर्मज नाम पर प्रश्नोत्तरपूर्वक विचार किया गया है—शशाद नृप के पुत्र का नाम कुकुत्स्थ था तथा उनका ही इन्द्रवाह और पुरञ्जय नाम भी था। इन दोनों नामों के लिये यहाँ स्पष्टतया पूछा गया है—'नामभेदो कथं जातो राजपुत्रस्य चानघ' (७।९।१२) और नामभेद के लिये गुण-कर्म का उल्लेख इस अध्याय में किया गया है।

हम ऐसा समझते हैं कि पुराणोक्त नामों के दो प्रकार हो सकते हैं (यह नियम सार्वत्रिक है, या नहीं, इसका विचार यहाँ अनपेक्षित है), प्रथम—अनुपलक्षित नाम और द्वितीय–उपलक्षित नाम। गुण-कर्मानुसार उपलक्षित नाम पड़ता था। यह तथ्य श्रीमद्भागवत में सुरक्षित है और युक्ति-संगत भी है। वहाँ गंगा के विषय में कहा गया है कि—'भगवत्पदोति अनुपलक्षितवचोऽभिधीयमान (५।१७।१)। इस पर श्रीधर स्वामी कहते हैं—"श्रीभगवत्पदीति यद् अनुपलक्षितं जाह्नवी-भागीरथीत्यादि उपलक्षणान्तर-रहितं वचो नाम तेन अभिधीयमाना तस्मिन् समये भगवत्-पदी नाम पश्चात् नामान्तराणि जातानि इत्यर्थः।" एक मूल नाम के बाद उस नामों के विभिन्न गुण कर्म के अनुसार विभिन्न गौण नाम पड़ने का स्पष्ट उल्लेख इस सन्दर्भ में है।

नाम और विशेषण का सांकर्य—कभी-कभी नाम और विशेषण में भेद करना कठिन हो जाता है, जिसके कारण अनेक समस्याएँ उत्पन्न हो जाती हैं, यथा–

दुर्वासा के लिये 'कृष्णात्रेय' शब्द आता है, पर वहाँ 'कृष्ण' नामांश नही है विशेषण है। चूँकि दुर्वासा अत्रिपुत्र हैं, अतः वे आत्रेय हैं और वर्णानुसार वे कृष्ण हैं, यहाँ यह भ्रम हो सकता है कि उनका दूसरा नाम भी 'कृष्णात्रेय' है।

विशेषणों के साथ नाम का उल्लेख अन्यान्य शास्त्रों में बहुधा मिलता है, जैसा 'कुमारशिरा भरद्वाजः' (चरक सूत्रस्थान १२ अ०)। यहाँ कुमारशिरा-

भरद्वाज का विशेषण है, चक्रपाणि ने कहा है। गार्ग्य एक गोत्र नाम है और वे अनेक हो सकते हैं, अतः आचार्यों ने विभिन्न आचार्यों के लिये विभिन्न विशेषणों का प्रयोग किया है, जैसे दृप्त बालाकि गार्ग्य (शतपथ ब्रा० १४।१।१), शैशिरायण गार्ग्य (हरिवंश), सौर्यायणि गार्ग्य (प्रश्नोपनिषत्)। अब यदि ये विशेषण कहीं न रहें, तो आचार्यों में परस्पर सांकर्य होना अनिवार्य होगा एवं कई समस्याएँ उत्पन्न हो जायेंगी।

एक ही प्रकृति से प्रत्यय भेदानुसार नाम—एक ही व्यक्ति के लिये एक ही नाम में विभिन्न प्रत्यय लगाकर विभिन्न शब्द प्रयोग किया गया है—यह विचित्र शब्द-व्यवहार इतिहासपुराणादि में मिलता है। इससे भी भ्रम होने की सर्वत्र संभावना रहती है और कई विद्वान् यहाँ भ्रम में भी पड़ चुके हैं। निम्नोक्त उदाहरणों को देखिये—

ऋग्वेद-शाखाकारों में वाष्कल[1] ऋषि का नाम विष्णुपुराण में आया है। इसी वाष्कल नाम वाष्कलि का भी कहा गया है और श्रीधर स्वामी स्पष्टतः कहते हैं—'वाष्कल एव वाष्कलिः स्वार्थे इन्' (३।४।१६–१७ टीका)। इस प्रकार स्वार्थ में 'इ'-प्रत्यय का दूसरा उदाहरण भी है। विष्णुपुराण में उत्तम नामक राजा के लिये 'औत्तमि' शब्द का प्रयोग है जहाँ श्रीधर स्वामी कहते हैं, 'उत्तम एव औत्तमिः' (३।१।१२)। ध्यान देना चाहिये कि स्वार्थ में 'इ'-प्रत्यय का उल्लेख पाणिनिव्याकरण में नहीं मिलता, पर इस प्रकार के अनेक उदाहरण यत्र-तत्र मिल जाते हैं। हमने अगस्त्य के लिये 'अगस्ति' का प्रयोग अनेक प्राचीन ग्रन्थों में देखा है[2], पुलस्त्य के लिये 'पुलस्ति' शब्द भी प्रचलित है। अगस्त्य ही अगस्ति है, यह निश्चित है, क्योंकि विन्ध्याद्रिनमन, वातापि-भक्षण आदि जो घटनाएँ किसी पुराण में अगस्त्य से कृत कही गई हैं, वे ही अन्यत्र अगस्ति से कृत कही गई हैं। काशीखण्ड में विन्ध्यादिनमन - प्रसंग में 'अगस्ति' का प्रयोग है।

इसी प्रकार कुशिक के लिये 'कौशिक' का प्रयोग भी मिलता है। यहाँ स्वार्थ में अण्-प्रत्यय हुआ है। चरक में हिरण्याक्ष कौशिक का नाम आया है (चत्वारो रस इति हिरण्याक्ष कौशिकः'—सूत्रस्थान, अध्याय २६), और कौशिक के लिये कुशिक पद प्रयुक्त होता है। चक्रपाणि ने आयुर्वेददीपिका में कहा है—'कुशिक इति हिरण्याक्षस्य नाम'। उसी प्रकार आयुर्वेद-वाङ्मय में जिस आचार्य का नाम 'खरणाद' है, उनका दूसरा नाम 'खरणादि' है, यह

---

१. दन्त्य स-घटित पाठ अशुद्ध है।

२. द्र० सिद्धान्त वर्ष १४, अंक २१–२३।

भी माना जाता है (कविराज सूरमचन्द्रकृत आयुर्वेद शास्त्र का इतिहास, पृ० २२६)।

व्याकरण के क्षेत्र में भी ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं। वार्त्तिककार कात्यायन के लिये 'कात्य' शब्द का प्रयोग मिलता है। (संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास-वार्त्तिककार प्रकरण), उसी प्रकार भगवान् पाणिनि के लिये 'पाणिन' शब्द भी प्रयुक्त होता है, यह भी देखा जाता है (संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास-पाणिनिप्रकरण)।

इसी पद्धति के उदाहरण में 'दधीच' शब्द को लिया जा सकता है, जो 'दधीचि' का नामान्तर है (स्कन्दपुराण, कुमारिका खण्ड ८।२४)। कश्यप के लिये भी कहीं-कहीं 'काश्यप' शब्द आता है—'कश्यपस्तस्य पुत्रोऽभूद् काश्यपो नाम नामतः' (मार्कण्डेय० १०४।३)। उसी प्रकार मार्कण्डेय के लिये स्कन्द पुराण में बहुधा 'मार्कण्ड' का प्रयोग आया है। वामन पुराण में भी मार्कण्डेय के लिये मार्कण्ड का प्रयोग आया है (वामन० ३७।२३, ३२।५)। कभी-कभी दो पृथक्-पृथक् प्रत्यय भी प्रयुक्त होते हैं, जिससे एक के तीन नाम हो जाते हैं। जैसे, च्यवन नामक मुनि के लिये 'च्यावनेय' और 'च्यावनि'—ये दो शब्द लिंगपुराण में मिलते हैं (१।३५।७-९)।

यह निश्चित है कि ये सब नाम एक ही व्यक्ति के हैं (यह प्रमाणान्तर से जाना जाता है), पर इस समस्याकारक प्रवृत्ति का कारण क्या है, यह विचार्य है।

नाम के साथ 'नाम' शब्द का प्रयोग—ऊपर हमने 'काश्यपो नाम नामतः' का उदाहरण दिया है। यहाँ 'नाम नामतः' क्यों कहा गया 'नामतः' कहना ही पर्याप्त था—ऐसी शंका हो सकती है। ऐसा ही दूसरा उदाहरण विष्णुपुराण में है, जहाँ "रैवतो नाम नामतः' कहा गया है (३।१।२०)। यहाँ श्रीधर स्वामी कहते हैं—"रैवतो नाम नामत इति नाम प्रसिद्धौ। नामतः संज्ञयैव न तु रेवतपुत्रः," अर्थात् 'रैवत' यह अपना ही प्रसिद्ध नाम है, यह नहीं कि उनके पिता का नाम रेवत है, जिसके कारण पुत्र का नाम रैवत पड़ गया। पर ऐसा सर्वत्र कहा जा सकेगा या नहीं, यह विचार्य है। पुराणों में बहुधा ऐसे प्रयोग मिलते हैं, यथा—'मारिषा नाम नाम्ना' (विष्णुपुराण १।१५।१८) दैवकी नाम नाम्ना' (वराहपुराण १४४।६) इत्यादि। यदि श्रीधर - दर्शित युक्ति सर्वत्र प्रवर्तित हो जाय, तो ऐसे स्थलों की समस्या का समाधान अंशतः सरल हो जायगा।

: ३ :

पुराणों के भौगोलिक शब्दों की समस्या

पुराणों में भौगोलिक सामग्री प्रचुर है और भारतीय भूगोल[1] के सर्वांगीण ज्ञान के लिए उसका अध्ययन अत्यन्त आवश्यक है। पर जब हम इस सामग्री का अध्ययन करते हैं, तब हमें अनेक प्रकार की समस्याएँ मिलती हैं, जिनके समाधान के विना भौगोलिक तथ्यों का यथार्थ ज्ञान नहीं हो सकता। इस लेख में उदाहरण के रूप में कुछ समस्याओं की चर्चा की जा रही है, जिससे उन समस्याओं की ओर विद्वानों का ध्यान आकर्षित हो। हमें इन समस्याओं का जो समाधान मालूम पड़ा, उनको भी यहाँ संक्षेप में विवृत कर दिया गया है—

विशेष्य और संज्ञा सम्बन्धी समस्या—यहाँ 'संज्ञा' शब्द का प्रयोग व्यक्तिवाचक नाम (Proper Noun) के लिए किया गया है। पुराणों में कहीं-कहीं ऐसे नाम मिलते हैं जिनसे यह जानना कठिन है कि वे किसी स्थान-विशेष के नाम हैं अथवा साधारण विशेष्य-शब्द हैं।

एक उदाहरण लीजिए। पुराणों में 'देवदारुवन' शब्द आता है। यह शब्द क्या किसी निश्चित वन के लिए प्रयुक्त हुआ है या इसका तात्पर्य देवदारु के किसी भी वन से है? शब्दतः इसका निरूपण नहीं होता, पर जब हम देखते हैं कि देवी पुष्टि का स्थान 'देवदारुवन' रूप तीर्थविशेष है, (मत्स्य० १३।४७), तब हमें मानना पड़ता है कि यह शब्द किसी वन की संज्ञा हो सकती है।

ऐसी समस्याओं का समाधान अपेक्षाकृत सरल है, पर एक दूसरा उदाहरण लीजिए। लिंग पुराण में कहा गया है—'श्येतो नाम मुनिः श्रीमान् गतायुर्गिरिगह्वरे' (१।३०।२); यहाँ गिरिगह्वर किसी भी गिरि का गह्वर है—ऐसा प्रतीत होता है। पर महाभारतीय जनपद-सूची में स्पष्टतः 'गिरिगह्वर' को एक जनपद का नाम कहा गया है (भीष्मपर्व ९।६९)। अतः यही कहना संगत होगा कि यह शब्द इसी जन-

---

१. संस्कृत भाषा के अनुसार भूगोल का अर्थ 'ज्यग्राफी' नहीं है, बल्कि पृथिवी-पिण्ड ही है। 'ज्यग्राफी' के अर्थ में 'भूवृत्त' या ऐसा कोई शब्द होना चाहिए। प्राचीन काल में इसके लिये 'भुवनकोश' शब्द था, जिसमें पूरी पृथिवी को सात द्वीपों में बाँट कर प्रत्येक द्वीप के अन्तर्गत नदी-पर्वत आदि का विवरण प्रस्तुत किया गया था।

पद को लक्ष्य करता है। वैसे तो 'गिरि-गह्वर' शब्द संज्ञा की तरह प्रतीत नहीं होता, पर महाभारतीय प्रमाण से उसका संज्ञात्व निश्चित होता है। ऐसे भ्रामक शब्द पुराणों में बहुत मिलते हैं, जिनका निर्णय अपेक्षित है।

नाम और विशेषण की समस्या—भौगोलिक नामों में दूसरी समस्या यह भी हैं कि कभी-कभी एक शब्द नाम है या विशेषण है—इसमें संशय होता है और केवल शब्द स्वरूप या प्रकरण को देखकर उसका निश्चित समाधान भी नहीं होता। ऐसे उदाहरण पुराणों में बहुत हैं, पर कुछ ही उदाहरण दिये जा रहे हैं—

अग्नि पुराण में तीर्थ-नामों की सूची में 'अघान्तक' 'अघार्दन' शब्द मिलते हैं (अ० १०९)। ये शब्द तीर्थ के नाम हैं, या विशेषण? प्रमाणान्तर के विना इसका निरूपण करना दुरूह है। ऐसा ही अन्य शब्द 'आपगा' है, जो नदी का पर्यायवाची है—यह कोशों में उल्लिखित है। किसी तीर्थ के नदी-वर्णन में यदि आपगा शब्द आता है, तो यह देखना होगा कि यह शब्द नदी-मात्र के लिए आया है या यह किसी विशेष नदी का नाम है। एक उदाहरण लीजिए। वामनपुराण में कहा गया है—'आपगा च महापुण्या गङ्गा मन्दाकिनी नदी' (३४।६)। अब यहाँ नदी का नाम आपगा है या गङ्गा है? इसका निर्णय इसी स्थान के वर्णन के बल पर नहीं किया जा सकता। पर जब हम यह देखते हैं कि यह नदी-वर्णन मानुष-तीर्थ से संबन्धित है, और अन्यत्र इस मानुष-तीर्थ के वर्णन में ही 'आपगा नाम विख्याता नदी द्विजनिषेविता' (३६।१) कहा गया है, तब हम निश्चय कर पाते हैं कि नदीका नाम वस्तुतः 'आपगा' हैं। पुनः शंका होगी कि तब ३४।६ में 'गङ्गा मन्दाकिनी' शब्द क्यों पढ़ा गया है? उत्तर में वक्तव्य है कि पुराणों में गङ्गा, मन्दाकिनी शब्द नदी-सामान्य के लिए भी आता है और कभी कभी एक विशिष्ट नदी नाम से अन्य नदियाँ भी इनसे अभिहित होती हैं। यह बात 'सप्तगोदावरम्' 'सप्त सरस्वत्यः' आदि प्रयोगों से प्रमाणित होती है। पवित्र नदी के लिए इस देश में प्रायः गङ्गा शब्द का प्रयोग होता है, और गङ्गा के पर्याय शब्द भी वहाँ व्यवहृत होते हैं। मन्दाकिनी शब्द का यौगिक अर्थ भी है (मन्दम् अकितुं शीलमस्याः = धीरता से बहनेवाली नदी), अतः कोई विप्रतिपत्ति नहीं रह जाती।

प्रयोग-सांकर्य—कभी कभी यह भी देखा जाता है कि एक ही स्थान का परिचय भिन्नार्थक (अथच कुछ समार्थक) शब्दों से दिया जाता है, जिससे उसका यथार्थ परिचय सन्देहास्पद हो जाता है। कालभेद से इस प्रकार का विभिन्न व्यवहार हो सकता है, पर चूँकि पौराणिक उल्लेखों का कालनिर्णय बहुत दुरूह

है, अतः ऐसे संशयों का सम्यक् निराकरण भी अत्यन्त कठिन है, जैसा कि निम्नोक्त उदाहरणों से प्रकट होगा—

अङ्ग एक देश है, जिसको विष्णुपुराण में 'विषय' (४।१८।१-२) और वायु पुराण में 'जनपद' कहा गया है (९९।३३); उसी प्रकार मत्स्य पुराण 'आनर्त' को देश कहता है (१२।२२), पर वायु० (८६।२४) तथा अग्नि० (२७२।११-१२) उसको 'विषय' कहते हैं। कुशस्थली मत्स्य० के अनुसार 'नगरी' है (१२।१६-१७), पर वायु० में 'पुरी' है (८६-२४)। उत्कला को एक पुराण 'राष्ट्र' कहता है (वायु० ८५।१९), तो दूसरा पुराण 'पुरी' कहता है (मत्स्य० १२।१६-१७)। वायु० के अनुसार कलिङ्ग 'जनपद' है (९९।३३–३४), पर विष्णु० के अनुसार 'विषय' है (४।१४।१)। विष्णु० में कश्मीर के लिए 'विषय' शब्द का प्रयोग है (४।२४।१८), जब कि मत्स्य० में एक नया शब्द 'मण्डल' आया है (१३।४७)।

इन उदाहरणों की उपपत्ति दो दृष्टियों से संगत हो सकती है। या तो विषय आदि शब्द सर्वथा समार्थक हैं, अतः पुराणों में निर्विशेष रूप से इन शब्दों का व्यवहार किया गया है; अथवा, इन शब्दों के अर्थ में भेद है और जिस समय जिस स्थान के लिए (उसकी तत्कालीन स्थिति के अनुसार) जो शब्द उपयुक्त या प्रचलित था, पुराण में वहाँ वही शब्द प्रयुक्त हुआ है। चूँकि पुराणों के अंशों की रचना विभिन्न काल में हुई है, अतः इसमें कोई विप्रतिपत्ति नहीं होती।

'विषय' आदि शब्दों के अर्थ में भेद था, यह पुराण से ही प्रमाणित होता है। मत्स्य० में एक ही स्थल पर 'देश' और 'जनपद' का पृथक् प्रयोग मिलता है (१६३।८९), जिससे इन दोनों के अर्थ में भेद था, यह स्पष्ट प्रमाणित होता है। अन्यान्य पुराणों में भी स्थानवाची ऐसे शब्दों के एकत्र प्रयोग मिल जाते हैं, जिनसे इनके अर्थ में भेद होने की पुष्टि तो हो जाती है, वह भेद कैसा था—इसका निर्णय नहीं हो पाता।

अशुद्ध पाठजन्य समस्या—पुराणों की जो प्रतियाँ मिलती हैं, उनमें बहुतों के पाठ अशुद्ध हैं। अशुद्ध पाठ समस्या-कारक होता है। एक ही घटना या व्यक्ति संबन्धी विवरण एकाधिक पुराणों में मिलते हैं, और जब विभिन्न पुराण के विवरण मिलाये जाते हैं, तो पाठ-भ्रष्टता के कारण मूलपाठ का निर्धारण बहुत कठिन हो जाता है। जब तक पुराणों का प्राचीनतम पाठ प्रकाशित न हो, तब तक इस समस्या का कुछ भी समाधान नहीं हो सकता, परन्तु महाभारत-रामायण आदि की सहायता से (जिनका प्राचीन पाठ मिलना उतना कठिन नहीं है) पुराणों के भ्रष्ट पाठों का सामान्य निर्णय हो सकता है। हम यहाँ दो भौगोलिक शब्दों का उदाहरण देकर इस विषय का स्पष्टीकरण करेंगे—

(१) वामन पुराण में कुरुक्षेत्र-सीमा के अन्तर्गत एक तीर्थ का नाम 'अस्यजन्म' मुद्रित हुआ है (३६।२८ वेंकटेश्वर संस्क०)। यह नाम सन्देहास्पद है और महाभारतीय कुरुक्षेत्र-विवरण से इसकी तुलना करने पर इसका ठीक पाठ 'अनाजन्म' ज्ञात होता है (वनपर्व ८१।६७ पूना संस्क०)। (२) इसी स्थल पर 'किंदत्तरूप' शब्द लिखा है। (वामन० ३६।६२) जिसका ठीक पाठ महाभारत से 'किंदत्तकूप' निश्चित होता है (वन पर्व ८१।८३)। महाभारतीय पाठ से पौराणिक पाठों की तुलना करने पर भ्रष्ट पाठों का निराकरण कुछ सरल हो जाता है।

नामावयव में परिवर्तन—कभी-कभी किसी स्थानादि का नाम एक पुराण में जैसा मिलता है, अन्य पुराण में उससे कुछ अधिक अक्षरयुक्त मिलता है, जिससे मूल पाठ संदिग्ध हो जाता है और प्रमाणान्तर के विना निर्णय अशक्य हो जाता है। यथा—

गया क्षेत्र के एक पर्वत का नाम किसी पुराण में 'उद्यन्तक' है, और वायु० में उसको 'अभ्युदन्तक' कहा गया है (१०८।३९)। न केवल विभिन्न पुराणों में, प्रत्युत एक ही पुराण में स्थान-नामों में थोड़ा बहुत भेद मिल जाता है। मत्स्यपुराण प्रयागक्षेत्र के अन्तर्गत एक स्थान को 'उर्वशी-रमण' कहता है (१०६।३४)। पुनः वही पुराण अन्यत्र उसी को 'उर्वशीपुलिन' कहता है (२२।६६)। प्रयाग में एक वट है, जिसको 'अक्षय-वट' कहा जाता है, पर मत्स्य० में केवल 'वट' शब्द ही प्रयुक्त हुआ है, अक्षयवट नहीं।

कभी-कभी इस प्रकार के पाठ-भेदों का निरूपण सरलता से किया जा सकता है। काशी को आनन्दकानन कहा जाता है, पर मत्स्य० में 'विश्वेशानन्द-कानन' शब्द इसके लिए आया है (१८५।६८)। यहाँ पाठ-वैचित्र्य से संशय नहीं होता, क्योंकि काशी विश्वनाथपुरी है, अतः आनन्दकानन को 'विश्वेशानन्द-कानन' कहा ही जा सकता है।

परस्पर-विरुद्ध कथन—यह आश्चर्य की बात है कि भौगोलिक पदार्थ के विवरण में पुराणों में कहीं-कहीं विरोधी विवरण भी मिल जाता है। किसी स्थान या देश का नाम क्यों ऐसा ही पड़ा—इसके उत्तर में पुराणों में कभी-कभी पृथक् ही नहीं, विरुद्ध विवरण भी मिल जाते हैं। हम पृथक् ग्रन्थ में इस समस्या पर विचार करेंगे। यहाँ एक ही उदाहरण देकर इस समस्या का उपन्यास किया जा रहा है—

वायुपुराण (७३।३) में कहा गया है कि अच्छोदा नदी से उत्पन्न होने के कारण एक सरोवर का नाम 'अच्छोद' पड़ा। पर इसी पुराण में अन्यत्र लिखा है

कि 'अच्छोदसरः' से निकलने के कारण नदी का नाम अच्छोदा पड़ा (७७।७६)। विद्वानों को इस समस्या का समाधान करना चाहिए।

पर्यायवाची शब्द—जनपद आदि के नामों में कभी-कभी पर्यायवाची शब्दों का भी प्रयोग पुराणों में मिलता है, जिससे कौन मूल नाम है—इसका निर्णय दुरूह हो जाता है। एक उदाहरण लीजिए—हस्तिनापुर एक प्रसिद्ध स्थान है, जिसका उल्लेख विष्णुपुराण में है (४।११।३)। पर इसी प्रसंग में 'गजसाह्वय' शब्द वायु० में मिलता है (९९।२७१)। कभी-कभी सम्यक् अन्यार्थक नाम भी एक स्थान का मिल जाता हैं, जैसे कुरुक्षेत्रस्थ 'औशनस तीर्थ' का नामान्तर वहीं 'कपाल-मोचन' भी लिखा है (वामन० ३९।११-१४)। कपालमोचन एक पृथक् प्रसिद्ध तीर्थ भी है। अतः केवल कपालमोचन शब्द के आ जाने से संशय हो सकता है कि यह कौन-सा तीर्थ है। प्रकरण के बल पर इस संशय का आंशिक निराकरण किया जा सकता है।

आनुपूर्वी का वैलक्षण्य—कभी-कभी एक ही नाम स्वल्प शाब्दिक परिवर्तन के साथ विभिन्न पुराणों में मिलता है और ऐसे स्थलों पर यथार्थ नाम जानना कठिन हो जाता है। एक उदाहरण लीजिए—कूर्मपुराण में लकुलीश आचार्य से सम्बन्धित 'कायावरोहण' तीर्थ का उल्लेख है (२।४४।७), पर लिंगपुराण में इसी प्रसंग में 'कायावतार' नाम मिलता है (१।२४।१२९–१३०) और वायुपुराण में 'कायारोहण' शब्द दिया गया है (२३।२२१-२२२)। तीनों नामों में 'काय' शब्द समान है, पर उत्तरार्ध के नाम में विभिन्नता मिलती है। ध्यान देना चाहिए कि अवरोहण और अवतार समार्थक हैं, दोनों का ही अर्थ है—नीचे आना और आरोहण का अर्थ है—ऊपर चढ़ना। इन तीनों स्थलों को देखकर यह निश्चय नहीं किया जा सकता है कि यथार्थ शब्द क्या है।

अन्य उदाहरण लीजिए—वायुपुराण में 'कालतोपक' (=कालतोप) तीर्थ आया है (९९।३८४) और विष्णु० में कालतोय (४।२४।१८)। 'प' और 'य' अक्षरों का आकृति-साम्य अधिक है। अतः यहाँ नाम में बड़बड़ी हो गई है। ऐसे स्थलों पर जब तक प्राचीनतम पांडुलिपि या अन्य प्रमाण न मिले, तब तक यथार्थ पाठ का निरूपण असंभव ही है।

(झ) इन उदाहरणों के साथ वर्णभेद-सम्बन्धी समस्याएँ भी विचार्य हैं। उदाहरणार्थ 'अवन्ति' नाम प्रसिद्ध है और 'अवन्तो' नाम भी मिलता है (अग्नि० १०९।२४)। काशी की एक नदी का नाम वरुणा है या वरणा, इसका निरूपण केवल पौराणिक अध्ययन से दुष्कर है (द्र० वामनपुराण १५।५१; कूर्म० पूर्वार्ध ३१।६३ इत्यादि)। स-श-संबंधी पाठभेद भी बहुत मिलते हैं, यथा कोसल और

कोशल। इनमें कौन पाठ प्राचीन है—इसका निर्णय केवल पुराण के माध्यम से अशक्य है। ण-न-सम्बन्धी पाठ भेद भी हैं। प्रसिद्ध तीर्थ 'कनखल' के स्थान पर अग्निपुराण के एक संस्करण में 'कणखल' पाठ छपा है (१०९।१७ जीवा०) और यह पाठ निर्वचन की दृष्टि से अधिकतर संगत है।[1]

एक नाम के अनेक तीर्थ—पौराणिक तीर्थ-नामों की यह एक बड़ी समस्या है कि एक ही नाम का तीर्थ अनेक स्थानों में होता है, जिससे कहीं केवल तीर्थ का नाम आ जाने से उसकी पहिचान करना कठिन हो जाता है। पुराणों में ऐसे उदाहरण बहुत हैं। यहाँ दो उदाहरण दिए जा रहे हैं—'अङ्गारकेश्वर' एक तीर्थ है, जो कूर्मपुराण के अनुसार नर्मदा में है (उत्तरार्ध ४१।६) और वायु के अनुसार गया में है (११२।५२)। उसी प्रकार 'अनरक' तीर्थ वामनपुराण के अनुसार कुरुक्षेत्र में है (४१।२२), पर कूर्मपुराण के अनुसार नर्मदा में है (उत्तरार्ध ४१।९१)। भारत की यह परम्परा थी कि एक प्रसिद्ध तीर्थ के नाम पर अन्य स्थानों का नाम रख दिया जाता था, जिससे मूलस्थान की स्मृति बनी रहे। पर आज उन्हें ठीक-ठीक पहचानने और उनके स्थान-निरूपण में बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ता है। ऐसे स्थलों में प्रकरण से कुछ निर्णय हो ही जाता है, यह जानना चाहिए।

---

१. कणानां खलं कणखलम्। कण=धान्यांश (हेमचन्द्रकोश)। कनखल-शब्द का कोई प्रतीयमान अर्थ नहीं है, अतः पूर्वविद्वानों ने एक विचित्र निर्वचन की कल्पना की थी—"खलः को नात्र मुक्तिं वै लभते तत्र मज्जनात्। अतः कनखलं नाम", अर्थात् 'को न खलः=कनखलः'। पर यह व्युत्पत्ति सर्वथा निर्मूल है।

: ४ :

पुराणों में महाभारत का विवरण

पुराणों में महाभारत (कहीं-कहीं 'भारत' शब्द भी प्रयुक्त हुआ है) का जो स्वरूप वर्णित हुआ है, उसका विवरण[1] यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

महाभारत का स्वरूप—पुराणकारों ने महाभारत को 'अज्ञान-नाशक' के रूप में स्वीकार किया है—

भारतं भानुमानिन्दुर्यदि न स्युरमी त्रयः।
ततोऽज्ञानतमोऽन्धस्य काऽवस्था जगतो भवेत् ॥ (पद्म० ५।१।४२)

यह पौराणिक उक्ति केवल प्रशंसार्थक नहीं है, बल्कि तथ्य है, यह अनस्वीकार्य है।

महाभारत और भारत के परिचय देने के समय पुराणकारों ने 'आख्यान' (मत्स्य० ५३।६९, मार्कण्डेय० १।१२, भागवत० १।४।२५) तथा 'इतिहास' शब्द का प्रयोग किया है (देवीभागवत० १।२।२६)। प्रचलित महाभारत आख्यान-उपाख्यान-बहुल है, अतः "व्यपदेशस्तु भूयस्त्वात्" न्याय से महाभारत 'आख्यान'-पदवाच्य भी हो सकता है। महाभारत को तत्त्वतः इतिहास कहने की प्रवृत्ति भी बहुलतया देखी जाता है। महाभारत को 'संहिता' पद से भी पुराणों में कहा गयाहै (भविष्य० १।१।५८)। यह मत समीचीन है, क्योंकि यह ग्रन्थ 'शतसाहस्री संहिता' नाम से श्रद्धापूर्वक अभिहित होता है। चूँकि अनेक पृथक् विषयों का संहनन[2] (सज्जीकरण) इस ग्रन्थ में किया गया है, अतः संहिता-पद सार्थक

---

१. यह सर्वत्र प्रसिद्ध है कि प्रचलित पुराणों के पाठ वैज्ञानिक दृष्टि से सम्पादित होकर मुद्रित नहीं हुए हैं, जिसके कारण कभी-कभी तत्त्वनिर्णय में भ्रम भी हो सकता है। मत्स्य० ५१।७० में महाभारत-ग्रन्थ के परिमाण के विषय में जो श्लोक मिलता है—"लक्षेणैकेन....." इत्यादि, वह इस पुराण के शारदालिपि-हस्तलेख में नहीं मिलता। (पुराण-पत्रिका, वर्ष १, अंक १, पृ० ७१ द्र०)। क्या यहाँ ऐसा अनुमान करना संगत होगा कि महाभारत की लक्षश्लोकवत्ता की प्रसिद्धि हो जाने के बाद यह श्लोक मत्स्यपुराण में प्रक्षिप्त हुआ है ?

२. संहनन के अर्थज्ञान के लिये हरिवंश ३।२।९ द्रष्टव्य है। यहाँ 'वेदसंहिताः कथाः' वाक्य है, जिसकी व्याख्या में 'संहिता=निबद्ध'-ऐसा नीलकण्ठ कहते हैं।

ही है। विभिन्न विषयों का संकलनपूर्वक सज्जीकरण जिन ग्रन्थों में किया गया है, वे ही 'संहिता' कहलाते हैं, और यही कारण है कि 'रामायण' को संहिता नहीं कहा जाता।

भारत और महाभारत—पुराणों के कुछ स्थलों में भारत[1] का प्रयोग मिलता है जहाँ वस्तुतः 'महाभारत' शब्द का प्रयोग होना चाहिए था। चतुर्विंशति - सहस्र - श्लोकात्मक उपाख्यानहीन ग्रन्थ भारत है और लक्षश्लोकात्मक सोपाख्यान ग्रन्थ महाभारत है, ऐसी प्रसिद्धि है[2]। सम्भवतः कभी 'भारत' ग्रन्थ पृथक् रूप से प्रचलित रहा होगा क्योंकि आश्वलायन गृह्यसूत्र (३।३।५) जैसे प्राचीन ग्रन्थ में 'भारत-महाभारत' शब्दद्वय एक ही वाक्य में पठित हुए हैं। उसी प्रकार शौनककृत गृह्यसूत्र के तर्पण-प्रकरण में 'भारत-महाभारत-धर्माचार्याः' पद है (स्मृति-चन्द्रिका आह्निककाण्ड का तर्पण-प्रकरण पृ० ५१९ तथा चतुर्वर्ग-चिन्तामणि श्राद्ध प्रक० पृ० ९३४ पर उद्धृत)। पाणिनि की अष्टाध्यायी (६।३।३८) से भी इन दो पृथक् ग्रन्थों की सत्ता ज्ञात होती है[3]।

गरुड पुराण (१।१४५।१) में 'भारतं सम्प्रवक्ष्यामि' कहकर भारत युद्ध की मूल घटना का एक संक्षिप्त विवरण उपनिबद्ध हुआ है, जिनमें महाभारत-गत विभिन्न आख्यान-उपाख्यान आदि नहीं हैं। मूल भारत-ग्रन्थ का ही कोई संक्षेप प्राचीनकाल में किया गया होगा, जो इस विवरण का आकर है, ऐसा प्रतीत होता है। चूँकि गरुडपुराण के रचयिता के लिए मूल चतुर्विंशति श्लोकात्मक भारत-ग्रन्थ का परिदर्शन करना सम्भव नहीं जान पड़ता, अतः ऐसा अनुमान करना ही संगत होगा। अग्नि० १३ अध्याय में भी एतादृश एक संक्षिप्त विवरण मिलता है (भारतं सम्प्रवक्ष्यामि कृष्णमाहात्म्यलक्षणम्) और

---

१. काशी० ९५।१२; मार्कण्डेय० ४।४२, मत्स्य० ५३।६९ भागवत० १।४।२९, १।३।१२.

२. चतुर्विंशतिसाहस्रीं चक्रे भारतसंहिताम्। उपाख्यानैर्विना तावद्भारतमुच्यते बुधैः॥ (आदिपर्व १।१०२–१०३)।

३. इस विषय के विशद विवरण के लिये सुकथनकर कृत 'The Bhrigus and the Bharata लेख द्रष्टव्य है (A. B. O. R. I. भाग १८, पृ० १५–७६)। श्री उत्गीकरकृत 'Mahabharata in the Asvalayana Grihya Sutra' लेख भी महत्त्वपूर्ण है (Proceedings of the First Oriental Conference भाग २, पृ० ६०)।

१५ अध्याय पर्यन्त केवल भारतवंशीयगण-कृत युद्ध की घटना ही मुख्यतः वर्णित हुई है।

गरुड-अग्निपुराणों के इन अध्यायों के प्रथम श्लोक से यह भी ज्ञात होता है कि मूल भारतग्रन्थ कृष्णमहिमा-परक था। यह वाक्य सत्य ही है क्योंकि भारत-युद्ध की घटना में कृष्ण का एक प्रकार से नायकत्व हो है।

भारत-महाभारत के रचयिता—रचयिता के निर्देश में पुराणों में सर्वत्र व्यास, वेदव्यास, कृष्णद्वैपायन, सत्यवतीसुत, पाराशर्य आदि शब्द व्यवहृत हुए हैं (विष्णु० ३।४।५, भागवत० ३।५।१२, देवी भागवत० १।३।१७, मार्कण्डेय० १।८।९, भविष्य, ब्राह्म० १।५८ इत्यादि)। विभिन्न कालों में भारत ग्रन्थके उपबृंहण के विषय में साक्षात् रूप से पुराणों में कोई वाक्य नहीं मिलता, यह ज्ञातव्य है।

महाभारत के प्रसंग में पुराणों में व्यास के कुछ दर्शनीय विशेषण भी दिए गए हैं, जो व्यास की विशिष्ट प्रज्ञा के सूचक हैं, यथा–धीमान् (मार्कण्डेय० १।८), उदारकर्मा (मार्कण्डेय० १।९), तपः श्रुताचारनिधि (वायु० १।१७), मुनि (भविष्य ब्राह्म० १।१८।१९), महायोगी, सर्वज्ञ (सूतसंहिता शिवमाहात्म्य० अ०१)।

महाभारत के व्यास-कृतित्व को कहीं-कहीं भणितिवैचित्र्य के साथ भी दिखाया गया है, यथा—'व्यासवाक्यजलौघ' (मार्कण्डेय० १।१०), 'व्यास के मतिमन्थन दण्ड से महाभारत चन्द्र का उदय' (पद्म० ५।१।४१) इत्यादि।

पद्म० ५।१।४३ में तो यहाँ तक कहा गया है कि नारायण स्वरूप व्यास के विना कोई अन्य व्यक्ति महाभारत को रचना कर ही नहीं सकता। विष्णु० ३।४।५ में भी ऐसा ही एक वचन मिलता है[1]।

पुराणनन्तर महाभारत का प्रणयन—महाभारत-रचनाकाल के विषय में पुराणों में कोई विशिष्ट उल्लेख नहीं मिलता। भारतकार व्यास के काल के विषय में पुराणकारों का एक ही निर्देश है कि व्यास युधिष्ठिरादि के समकालिक हैं। यह काल पौराणिक दृष्टि के अनुसार द्वापरान्त है। कहीं-कहीं कलिद्वापर-सन्धि भी मानी गई है। विष्णु० ३।३।८० में द्वापरादि शब्द प्रयुक्त हुआ है, श्रीधर के अनुसार जिसका तात्पर्य है—'द्वापर का सन्ध्यंश'।

---

१. महाभारत के व्यासरचितत्व में सभी पूर्वाचार्य निःसंशय थे (द्र० भारतवर्ष का बृहद् इतिहास, भाग १, पृ० ७ :–९४)।

इस विषय में पुराणकारों ने यह निर्दिष्ट किया है कि १८ पुराणों की रचना के बाद व्यास ने महाभारत की रचना की थी (मत्स्य० ५३।६९)। यद्यपि ऐतिहासिक दृष्टि में यह बात असंगत है, तथापि पुराणकारों ने परम्परागत विश्वास के अनुसार ऐसा कहा है, यह ज्ञातव्य है। वस्तुतः प्रचलित सभी पुराण महाभारत से अर्वाचीन हैं, यह सामान्यतया कहा जा सकता है। (महाभारत के कुछ अर्वाचीन अंश पुराणों के प्राचीन अंशों की अपेक्षा अर्वाक्कालिक हैं, यह प्रमाणित किया जा सकता है[1])।

कहीं-कहीं यह कहा गया है कि १७ पुराणों की रचना के बाद व्यास ने महाभारत की रचना की थी और उस पर भी शान्ति न मिलने के कारण भागवत की रचना की गई (तत्त्वसन्दर्भ पृ० ४३)। यह उक्ति भागवत-महिमा के ख्यापन के लिए ही है (ऐतिहासिक दृष्टि से इस उक्ति का कोई मूल्य नहीं है)।

महाभारत का परिमाण—मत्स्य० ५३।६९ में 'लक्षेणैकेन यत् प्रोक्तम्' वाक्य है, जिससे यह सिद्ध होता है कि इस काल में महाभारत 'शतसाहस्रीसंहिता' के रूप में प्रतिष्ठित हो गया था। राजशेखर ने काव्य मीमांसा में (पृ० ७) यही परिमाण कहा है। अभिनवगुप्त भी "शास्त्रं सहस्रशतसम्मितम्" परिमाण को मानते हैं (गीताभाष्य का आरम्भ, श्लोक २)। शौनकीयचरणव्यूह में भी 'लक्षं भारतम्' मत दृष्ट होता है (५।१)। यहाँ भारत=महाभारत है।

देवी भागवत १।२।२६ में सपादलक्ष परिमाण कहा गया है। संभवतः इसमें हरिवंश का भी संयोजन विवक्षित है। शिशुपालवध की वल्लभदेवीय टीका में 'सपादलक्षं श्री महाभारतम्' वाक्य प्रयुक्त हुआ है (२।३९)।

महाभारत की महत्ता—महाभारत को 'कलिमलप्रध्वंसी' माना गया है (भविष्य ब्राह्म० १।४)। इसी पुराण के उत्तर पर्व में महाभारत को 'चतुर्वर्णधर्मयुक्त' कहा गया है। यहाँ यह भी कहा गया है कि चूँकि सूक्ष्म गंभीर शास्त्रों से लोग डरते हैं, अतः व्यास ने विस्तारपूर्वक इस अतिरोचक महाग्रन्थ की

---

१. वैद्य महोदय कहते हैं—"इस विषय में किसी को कुछ भी सन्देह नहीं कि वर्तमान पुराणग्रन्थ महाभारत के समय के इस पार के हैं" (महाभारत-मीमांसा पृ० ५९)। इस विषय में सारवान् विचार डा० हाजरा ने भी किया है (द्र० Puranic Records पृ० ३–४) और वे भी इस मत को ही मानते हैं।

रचना की है। वैद्य जैसे स्वादुपथ्य के रूप में औषध देता है, उसी प्रकार व्यास ने कठिन शास्त्र को रमणीय बना कर महाभारत के रूप में लोगों को दिया है। यह ग्रन्थ आस्तिक्य का सोपान है और इसके अध्ययन से देवता, तीर्थ आदि का स्वरूप ज्ञात होता है, श्रोता में भक्ति की उत्पत्ति होती है, धर्मार्थकाममोक्ष की सिद्धि होती है; यह शास्त्र निर्वाणकामियों के लिए सरल मार्ग दिखाता है। भविष्यपुराण (ब्रह्म० १।१७—२६, १।५६—५८) में भी महाभारत की प्रशंसा उपलब्ध होती है। मार्क० १।९ में इस ग्रन्थ का यह वैशिष्ट्य भी कहा गया है कि विरोधी तर्कों से इस ग्रन्थ का मत खण्डित होनेवाला नहीं है। इसको कुतर्कहारक भी कहा गया है (मार्क० १।१०)।

महाभारत के विचार्य विषय—'भारतग्रन्थ में धर्मादि प्रकटीकृत हुए हैं', यह तथ्य मार्क० ४।४२ में भाषित हुआ है। यह दृष्टि पूर्व निबन्धकारों के द्वारा समादृत हुई है। महाभारत में ही महाभारत को धर्मशास्त्र और इतिहास कहा गया है। देवता, तीर्थ आदि का विवरण इसमें है, यह भविष्य (ब्रह्म० १।२१) में कहा गया है। वृष्णि और पाण्डवों की संपत्ति-विपत्ति का विवरण इसमें है, यह भी २५वें श्लोक में उक्त हुआ है। मार्क० १।६—८ में कहा गया है कि इस शास्त्र में धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष तथा परस्पर व्यवहार आदि विषय वर्णाश्रमाचारादि-विवरण के साथ कहे गए हैं। वेदार्थ के साथ-साथ स्मृति और पुराणों के रहस्यों का प्रतिपादन भी महाभारत में है, यह बहुमूल्य सूचना काशीखण्ड ९५।४ में दी गई है। मार्क० ४।४२ में स्पष्टतया 'येन भारतमुद्दिश्य धर्माद्याः प्रकटीकृताः' कहा गया है, जो महाभारत के प्रतिपाद्य विषय का पूर्ण परिचय देता है।

भारत में एक हरि की महत्ता कीर्त्तित हुई है, यह काशी० ९५।१२ में कहा गया है। इस विषय में हरिवंश का यह वचन प्रसिद्ध है—

> वेदे रामायणे चैव पुराणे भारते तथा।
> आदावन्ते च मध्ये च हरिः सर्वत्र गीयते॥

(तत्त्वसन्दर्भ की वैद्याभूषणीटीका पृ० ४० में उद्धृत)

शास्त्रान्तर और महाभारत—मार्क० १।४–५ में सर्वशास्त्रों से इसकी श्रेष्ठता निम्नोक्त शब्दों में कही गई है—

> त्रिदशानां यथा विष्णुर्द्विपदां ब्राह्मणो यथा।
> भूषणानां च सर्वेषां च यथा चूडामणिर्वरः॥ ४॥

यथाऽयुधानां कुलिशम् इन्द्रियाणां यथा मनः ।
तथेह सर्वशास्त्राणां महाभारतमुत्तमम् ॥५॥

जैसे विष्णु, ब्राह्मण, चूड़ामणि, वज्र और मन यथाक्रम देव, द्विपाद्, भूषण, आयुध और इन्द्रियों में श्रेष्ठ है, उसी प्रकार महाभारत भी शास्त्रों में श्रेष्ठ है।

महाभारत एक शास्त्र है, यह स्कन्दपुराण के निम्नोक्त वचन से ज्ञात होता है—

ऋग्यजुः सामाथर्वाश्च भारतं पञ्चरात्रकम् ।
मूलरामायणं चैव शास्त्रमित्यभिधीयते ॥

(मध्वकृत ब्रह्मसूत्रभाष्य १।१।३ में उद्धृत स्कन्दपुराणवाक्य)। पुराणकारों ने इस ग्रन्थ को स्पष्टतः धर्मशास्त्र अर्थशास्त्र, कामशास्त्र, और मोक्षशास्त्र के रूप में माना है।

महाभारत के अनेक सन्दर्भों से यह ज्ञापित होता है कि इस ग्रन्थ में अनेक आख्यान-उपाख्यान-कथा आदि हैं, और इसीलिए रूपकात्मक वर्णन में 'कथाविस्तीण सलिलं' 'महाख्यानपराम्बुज' आदि पद प्रयुक्त हुए हैं (मार्क० १।११)।

भारत में जो कथा-आख्यानादि हैं, उनका तात्पर्य भो लोगों को हरिकथा में आकृष्ट करना ही है, यह सूक्ष्म रहस्य भागवत के इस पद्य में भाषित हुआ है—

मुनिर्विवक्षुर्भगवद्गुणानां सखाऽपि ते भारतमाह कृष्णः ।
यस्मिन्नृणां ग्राम्यकथानुवादैर्मतिर्ग्रहीता नु हरेः कथायाम् ॥ (३।५।१२)।

वेद और महाभारत—महाभारत को वेदार्थ के उपबृंहण[1] के रूप में बहुत्र कहा गया है, (मत्स्य० ५३।६९)।

भागवत में तो और भी स्पष्ट रूप में यह कहा गया है कि स्त्री शूद्र तथा द्विजबन्धु (पतित द्विज) चूँकि वेद के अनधिकारी हैं, अतः भारत की रचना व्यास ने की है (१।४।२५)। १।४।२९ में भी यहीं भाव व्यक्त हुआ है।

इस ग्रन्थ में सकल वेदार्थ का संयोग है, यह भविष्य (ब्राह्म० १।५६) में भाषित हुआ है। भारतव्यपदेश से आम्नाय का अर्थ प्रदर्शित किया गया है यह मत पुराणानुमोदित है (तत्त्वसन्दर्भ पृ० ३४ में उद्धृत वैष्णवपुराण वचन, जो मुद्रित विष्णुपुराण में नहीं मिलता)।

---

१. उपबृंहण=श्रुतिप्रतिपन्नार्थविशदीकरण। महाभारत में ही यह तथ्य स्वीकृत हुआ है—"इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्" (आदिपर्व १।२६७)। इतिहास में महाभारत का अन्तर्भाव है।

महाभारत की वेदवत्सत्ता या पञ्चमवेदवत्स्थिति भी पुराणों में बहुधा कही गई है। यह दृष्टि पर्याप्त प्राचीन है। छान्दोग्य उप० ७।२१ में इतिहास-पुराण को पञ्चम वेद कहा गया है। (यद्यपि उपनिषदुक्त इतिहासपुराण का लक्ष्य प्रचलित इतिहासपुराण - ग्रन्थ नहीं है)। देवीभागवत० १।२।२६ का 'पञ्चमं वेदसम्मितम्' वाक्य इस प्रसंग में द्रष्टव्य है।

भविष्य० में महाभारत को 'कार्ष्ण' (कृष्णसम्बन्धी) 'पञ्चम वेद' कहा गया है (तत्त्वसन्दर्भ पृ० २३ में उद्धृत वचन)। मार्क० १।११ में तो 'कार्ष्णवेद' पद ही प्रयुक्त हुआ है। महाभारत के लिए 'श्रुतिविस्तार' पद मिलता है (मार्क० १।१२)। वेद का मन्थन कर महाभारत के निर्माण के प्रसंग में वायुपुराण का यह श्लोक बहुत ही रमणीय है :—

"मतिं मन्थानमाविध्य येनासौ श्रुतिसागरात्।
प्रकाशं जनितो लोके महाभारतचन्द्रमाः॥ (१।४४–४५)

अर्थात् मति रूप मन्थनदण्ड से घर्षण कर श्रुतिसागर में से महाभारत रूप चन्द्र का प्रकटन व्यास ने किया है। इस वाक्य में जहाँ महाभारत का वेदोपबृंहकत्व सिद्ध होता है, वहाँ व्यास की विशिष्ट मनीषा का भी ज्ञान होता है। वस्तुतः महाभारत की संहननात्मक रचना में व्यास की अद्भुत मनीषा का उदाहारण पदे पदे मिलता है। (यह श्लोक पद्म० ५।१।४१ में ईषत् पाठभेद के साथ मिलता है)।

महाभारतीय शब्द प्रयोग और व्याकरण—भविष्य (ब्राह्म० १।५८) में कहा गया है कि आठ व्याकरणों को जानकर व्यास ने इस ग्रन्थ की रचना की थी। यह वर्णन सर्वथा अर्वाचीन है। जब से 'अष्ट व्याकरण' की प्रसिद्धि हुई[1] उसके बाद ही ऐसा कहा गया है। यह बात भी सत्य है कि भारत में ऐसे अनेक प्रयोग हैं, जो पाणिनि या अन्य किसी ज्ञात व्याकरण के आधार पर सिद्ध नहीं होते, अतः अज्ञातव्याकरणसिद्ध प्रयोगों की संगति के लिये ऐसी कल्पना की गई थी। वोपदेवदर्शित आठ शताब्दिकों में चन्द्र-अमर-जैनेन्द्र के भी नाम हैं; ये आचार्य व्यास-प्राचीन नहीं हैं, यह निश्चित ही है। 'अष्टधा व्याकरणम्' का अर्थ आठ व्याकरण नहीं है, बल्कि व्याकरण के आठ विभाग हैं।

मार्क० १।२–३ में महाभारतीय विवरण की अत्यन्त प्रशंसा की गई है—

---

१. 'अष्ट व्याकरण' की प्रसिद्धि एक भ्रान्ति पर आधृत है। इस विषय में विचार के लिये 'अष्टधा व्याकरण' शीर्षक मेरा लेख द्रष्टव्य है (परिषत् पत्रिका २।२)।

"पूर्णमस्तमलैः शुभ्रैर्नानाशास्त्रसमुच्चयैः ।
जातिशुद्धिसमायुक्तं साधुशब्दोपशोभितम् ।
पूर्वपक्षोक्तिसिद्धान्तपरिनिष्ठासमन्वितम् ॥"

महाभारत का एक विशेषण 'बह्वर्थ' मार्क० १।१२ में प्रयुक्त हुआ है, जो इसकी एक असाधारण विशिष्टता का ज्ञापक है। महाभारत (शान्ति० ३२०। ७९) में 'पञ्च अर्थ' के विषय में विशिष्ट मत उपलब्ध होता है। यहाँ सूक्ष्मता संख्या, क्रम, निर्णय और प्रयोजन—ये पाँच प्रकार के अर्थ कहे गए हैं। ये अर्थ महाभारत में बहुलतया प्रयुक्त हुए हैं, यह 'बह्वर्थ' विशेषण से ज्ञापित होता है।

वायु० १।१८ में व्यासकृत भारतगत शब्दप्रयोगों के लिए 'महाभारतवर्धिनी-भारती' शब्द प्रयुक्त हुआ है। भारतान्तर्गत अशेष वैचित्र्य युक्त शब्दप्रयोगों को देखने से यह प्रयोग सर्वथा समीचीन ही प्रतीत होता है। इस ग्रन्थ में नाना प्रकार की विचित्रताओं को देखकर ही पुराणकारों ने महाभारत का विशेषण 'आश्चर्य' दिया है (सूतसंहिता शिव माहात्म्य खण्ड अ० १)। इसी दृष्टि से महाभारत का एक विशेषण 'सर्वलोकमनोहर' भी दिया गया है (काशी० ९५।४)।

महाभारत ग्रन्थ का दान—भारतग्रन्थ-दान की महती प्रशंसा उपलब्ध होती है (अग्नि० ६३।२६)

महाभारत श्रवण विधि—महाभारत के श्रोता दक्षिण मुख होकर और वाचक उत्तर मुख होकर इस ग्रन्थ का श्रवण-प्रवचन करें— यह विधि भविष्य-पुराण में कही गई है। (मध्यम पर्व, प्रथम भाग ७।२४)।

भारत सम्बन्धी एक रोचक कल्पना—भविष्यपुराण (ब्राह्म० १।४) में महाभारत-पद्मरूपक का एक असाधारण विवरण मिलता है, जहाँ गीता को उत्कट गन्धरूप में, आख्यानों को पद्मकेशरों के रूप में और श्रोता सज्जनों को भ्रमरों के रूप में दिखाया गया है। मार्क० (१।१०-११) में भी एक रूपकात्मक वर्णन प्राप्त होता है—

"व्यासवाक्यजलौघेन कुतर्कतरुहारिणा ।
वेदशैलावतीर्णेन नीरजस्का महो कृता ॥

इससे ध्वनित होता है कि भारत से कुतर्कों का दूरीकरण होता है, तथा पृथिवी से दुष्कर्मों का अपाकरण हो जाता है। इसके बाद महाभारत (कार्ष्णवेद= कृष्ण सम्बन्धी वेद) और ह्रद का तादात्म्य दिखाया गया है—

'कलशब्दमहाहंस महाख्यानपराम्बुजम् ।
कथाविस्तीर्णसलिलं कार्ष्णवेदमहाह्रदम् ॥ (१।११)

: ५ :

कौटल्य का कौटिल्य-रूपान्तर

कौटल्यनाम की सत्ता—मत्स्य० (२७२।२२), वायु० (९९।३३१), और विष्णुपुराण में अर्थशास्त्रकार कौटिल्य का नाम उपलब्ध होता है। यह अर्थशास्त्रकार विष्णुगुप्त और 'कौटल्य' नामों से भी प्रसिद्ध हैं। आचार्य का गोत्र कुटल था, यह निश्चित है। जयमङ्गलाव्याख्या में स्पष्टतः इस तथ्य को माना गया है—"कुटलं नाम गोत्रं तस्यापत्यं कौटल्यः" (पृ० ७, हरिहर शास्त्रि-सम्पादित संस्करण)। यद्यपि 'कुटल' गोत्र प्रसिद्ध नहीं है, तथापि यह अवश्य ही कोई अवान्तर गोत्र रहा होगा, अन्यथा 'गर्गादिभ्यो यञ्' (अष्टाध्यायी ४।१। १०५) के उदाहरण में प्रक्रियासर्वस्वकार नारायण भट्ट 'कौटल्य' पद न पढ़ता। कुटल गोत्रकृत् ऋषि का नाम है, यह क्वचित् कोश में मिलता है (केशव कृत नानार्थार्णवसंक्षेप)। यह भी लक्षणीय है कि 'कौटलीय' शब्द भी इस अर्थशास्त्र के हस्तलेखों में मिलता है, अतः 'कौटल्य' नाम में कोई भी विप्रतिपत्ति नहीं हो सकती।

ध्यान देना चाहिए कि यदि मूल नाम (चाहे किसी भी कारण से क्यों न हो) 'कौटिल्य' होता, तो 'कौटल्य' बनने की कोई भी संभावना नहीं रहती, क्योंकि कौटिल्य शब्द सुप्रचलित तथा आचार्यस्वभावानुरूप है, अतः उसके स्थान पर अप्रसिद्ध गोत्र-नाम-घटित एवं अर्थव्यंजनाहीन कौटल्य नाम कदापि प्रसिद्ध न होता, विशेष कर जब कि 'वात्स्यायन' रूप गोत्रघटित एक अन्य नाम उनके लिए प्रसिद्ध ही था। ऐसा प्रतीत होता है कि वत्स गोत्र का ही कोई अवान्तर भेद कुटल रहा होगा, अन्यथा गोत्र घटित दो नाम प्रसिद्ध न होते।[1] 'वत्स' गोत्र-

---

१. कहीं ऐसा तो नहीं कि चाणक्य द्व्यामुष्यायण रहे हैं, अतः उनके दो गोत्र नाम भी हों। यदि कुटल गोत्र वत्स के अन्तर्गत न हो, तो ऐसा मानना संगत ही होगा। द्व्यामुष्यायण होने से जैसे एक ही व्यक्ति के दो गोत्र नाम होते हैं, उसी प्रकार दो व्यक्ति नाम भी होते हैं। छान्दोग्य उपनिषत् १।१२ में इसका उदाहरण है। दल्भ का अपत्य दाल्भ्य बक चूँकि द्व्यामुष्यायण था, अतः उनको मैत्रेय (मित्रा का पुत्र) ग्लाव (व्यक्ति नाम) कहा जाता था। चाणक्य, वात्स्यायन, कौटल्य—ये तीन नाम (गोत्रज या अपत्यज) निश्चित ही उपर्युक्त तथ्य के ज्ञापक हैं।

विशेष है, यह पाणिनि के 'गर्गादिभ्यो यञ्' (४।११०५) सूत्र से ज्ञात होता है। ४।१।१०१ सूत्र का उदाहरणभूत 'वात्स्यायन' शब्द भी इस प्रसंग में द्रष्टव्य है।

कौटिल्य नाम की प्रवृत्ति—इस प्रकार जब यह सिद्ध हुआ कि आचार्य का गोत्रनाम कौटल्य ही उचित है, कौटिल्य नहीं, तब प्रश्न होगा कि कौटिल्य नाम का हेतु क्या है ? श्रीधर स्वामी ने विष्णुपुराण ४।२४।२६-२८ की टीका में "कौटिल्यः=कौटिल्यप्रधानः" ऐसा कहा है। मुद्राराक्षस नाटक के आरम्भ में भी "कौटिल्यः कुटिलमतिः" कहा गया है, जो 'कौटिल्य' नाम के लिए कुटिलता की हेतुता को स्वीकार करता है। कादम्बरी (पिटर्सन संस्करण) के अन्तर्गत शुकनासोपदेशगत एक वाक्य (येषामतिनृशंसोपायनिघृणं कौटिल्यशास्त्रं प्रमाणम्–पृ० १०९) भी इस तथ्य का ज्ञापक माना जा सकता है।

इसमें विचार्य यह है कि यदि गुणघटित नाम को ही प्रसिद्ध होना था, तो 'कुटिल' पद ही प्रयुक्त होता, कौटिल्य (=कुटिलता)—यह भाववाची शब्द कैसे प्रचलित हो गया ? यदि गुण के लिए, लक्षणा के बल पर, आचार्य का बोध किया जाना अभीष्ट था, तो 'कौटिल्यम्' यह नपुंसक लिंग शब्द ही क्यों न चला ? कौटल्य चूँकि कुटिलता-प्रधान थे, अतः वे कौटिल्य पद से अभिहित होते थे, ऐसा कहना तब उपपन्न होगा जब उनके व्यक्तित्वगत कुटिलता के कुछ दृष्टान्त मिलेंगे।

यह तो निश्चित ही है कि आचार्य ने स्वयं अपने लिए कौटिल्य शब्द का व्यवहार नहीं किया, बल्कि कौटल्य शब्द ही अर्थशास्त्र २।१० में प्रयुक्त हुआ है। किंच आचार्य का ग्रन्थ भी कुटिलतापूर्ण उपायों के लिए मुख्यतः प्रणीत नहीं हुआ है। 'नरेन्द्रार्थे शासनस्य विधिः' (अर्थशास्त्र २।१० अ०) 'नीतिशास्त्रामृतं धीमानर्थशास्त्रमहोदधेः समुद्दध्रे' (कामन्दकीय नीति १।६) इत्यादि वाक्यों से ज्ञात होता है कि 'राजशासनमूलक अर्थशास्त्र' ही इस शास्त्र का मुख्य विषय है (इयमिदानीमाचार्य-विष्णुगुप्तेन मौर्यार्थे....संक्षिप्ता (दशकुमारचरित ८ उच्छ्वास)। अर्थ का स्वरूप भी इसी ग्रन्थ में दिया गया है, यह ज्ञातव्य है—'तस्याः पृथिव्या लाभपालनोपायशास्त्रमर्थशास्त्रम्' (अर्थशास्त्र १५।१ अ०)। अर्थशास्त्र पृथिवी के लाभपालन से सम्बद्ध है, यह ग्रन्थारम्भ में कहा भी गया है। यह अर्थशास्त्र केवल अर्थशास्त्र न होकर राजनीतिलक्षण है, विज्ञानेश्वर ने स्पष्टतः ऐसा ही कहा है (याज्ञवल्क्यस्मृति की मिताक्षरा टीका २।२१)। 'कौटिल्य' नाम भी आचार्य काल के बहुत समय बाद अन्य लोगों के द्वारा प्रचलित किया गया है। हमारी दृष्टि में 'कौटिल्य' नाम बाद में, एक भ्रम के कारण, प्रचलित हो गया है, जिस भ्रम के लिए आचार्य का कार्य (अर्थात् गुप्त मन्त्रणा के बल से नन्दवंश-ध्वंस) एवं 'कौटल्य' यह अप्रसिद्ध गोत्रप्रत्ययान्त शब्द भी सहायक है।

नामभ्रम का हेतु—बात यह है कि आचार्य चणकात्मज हैं,[1] यह चणक शब्द, जैसे मुनि-विशेष का नाम हो सकता है, उसी प्रकार यह शस्य-विशेष का भी नाम है (द्र० शब्द कल्प द्रुम)। चाणक्यमूलक एक मूलक-विशेष है (मूलक=कन्दविशेष)। इसी चाणक्यमूलक के पर्याय शब्द हैं—विष्णुगुप्तकम्, कौटिल्यम् (द० शब्दकल्पद्रुम)। विष्णुगुप्त को विष्णुकन्द भी कहा जाता है। मूलक कन्दविशेष है और चाणक्य मूलक भी एक प्रकार का मूलक है।

इन वाक्यों से यह ज्ञात होता है कि विष्णुगुप्त और कौटिल्य समानार्थक शब्द हैं, यद्यपि ये शब्द मूलक-विशेष के वाचक भी हैं। चणक शब्द मुनिनाम भी है, शस्य-विशेष का नाम भी है। चाणक्य के मूल में चणक शब्द है, यह ज्ञातव्य है। चूँकि 'विष्णुगुप्त' कौटल्य का व्यक्ति नाम था, और विष्णुगुप्त-कौटल्य-नामद्वय चाणक्यमूलक के पर्याय हैं, चाणक्य भी आचार्य का नाम है, अतः कौटल्य के स्थान पर कौटिल्य शब्द भ्रमवश बाद में प्रचलित हो गया था और क्रमशः यह नाम ही प्ररूढ़ हो गया है। पुराणों में सर्वत्र कौटिल्य शब्द ही है, कौटल्य नहीं।

नाम-भ्रान्तियों के दृष्टान्त—नामों के विषय में इस प्रकार के भ्रम इस देश में सुलभ हैं। नामों के शाब्दिक सादृश्य के कारण अनेक काल्पनिक मत इस देश में प्राचीन काल से ही चले आ रहे हैं। वास्तव में, ऐतिहासिक दृष्टि को प्रमुखता प्राचीन भारत में नहीं थी, अतः पूर्वाचार्यों ने इन विषयों पर उचित समीक्षा भी नहीं की है। वे यथाश्रुत घटनाओं को सत्य समझकर लिख देते थे, ऐतिह्य की सत्यता पर प्रायेण विचार नहीं करते थे। यहाँ प्रसंगतः कुछ उदाहरण दिये जा रहे हैं—

तैत्तिरीय ब्राह्मण ३।११।८ में नचिकेता मृत्यु नामक ऋषि के पास गये यह कथा वर्णित है। पर बाद में कठोपनिषत्कार ने जब नचिकेता का चरित लिखा, तब मृत्यु के स्थान पर 'यमराज' (यम, अन्तक) का उल्लेख किया गया है। मृत्यु नाम से उपनिषत्कार को भ्रम हो गया है; या यह कोई आलंकारिक वर्णन है, ऐसा मानना होगा (द्र० जैमिनीय उप० ब्रा० की भूमिका)। व्यास की अरणि नामक पत्नी से शुक का जन्म हुआ था, पर बाद में अरणि को लोग अरणिकाष्ठ (अग्निमन्थनोपयोगी काष्ठ) समझने लग गये थे (महामति पर्जिटर ने, एन्शियन्ट इण्डियन हिस्टॉरिकल ट्रेडीशन' ग्रन्थ में एतादृश अनेक उदाहरण दिखाए हैं, ११वाँ

---

१. चणकात्मजता पर भी संशय है। 'चणक' शब्द-जन्य 'चाणक्य' शब्द से अभिहित होने का अन्य कारण भी हो सकता है।

अध्याय द्र०)। रामायण में 'शबरी' किसी श्रमण का नाम है, शबर जाति से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है।[1] पर अज्ञ लोग 'शबरी' को 'भिलनी' समझते हैं; यह जानते हुए भी कि 'शबर' प्रसिद्ध आर्य विद्वानों का नाम हो सकता है (मीमांसा भाष्यकार का नाम शबर था)। इतिहासपुराण की वंशावली में 'पयोद' नामक एक राजा का उल्लेख है। हरिवंश० १।३३।५३ में उनको वृष कहा गया है (वर्षणरूप प्रवृत्ति निमित्त के कारण--जैसा टीकाकार नीलकण्ठ ने दिखाया है)। कलाप व्याकरण का 'कलाप' नाम इसलिए पड़ा है कि उसमें किसी प्राचीन व्याकरण की कला (=अंश) ही है, वह पूर्ण नहीं है। पर अज्ञता के कारण बाद में यह प्रसिद्धि हो गयी थी कि यह व्याकरण कलाप (=मयूर का पंख) से लिखा गया है और कार्त्तिक इसके लेखक हैं (द्र० संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास, भाग १, पृ० ५०२)। शिव का एक नाम 'निशाकर' है (अनुशासन पर्वस्थ शिवसहस्रनाम में)। टीकाकार नीलकण्ठ कहते हैं--'निशाकरश्चन्द्रः, चान्द्रव्याकरणप्रणेता (१७ ७८)। शिव से चान्द्र व्याकरण का कोई भी सम्बन्ध नहीं, पर 'चन्द्र' नाम के सादृश्य के कारण ऐसी निकृष्ट भ्रान्ति भी चिन्तित हो सकी।

ऐसे अनेक उदाहरण दिए जा सकते हैं, जिनमें नाम-निर्धारण और नाम-प्रयोग संबंधी अनेक प्रकार की भूलें प्राचीनकाल में होती थीं। उस समय के लोग इन पार्थिव विषयों पर अद्यतनीय ऐतिहासिक दृष्टि के अनुसार छानबीन नहीं करते थे और न उनके लिए ये असंगतियाँ आवश्यक विचार्य विषय ही होते थे। प्राचीन भारत के अध्येता को यह सत्य स्वीकार करना ही होगा[2]।

कौटल्य-कौटिल्य-समन्वय—इस दृष्टिकोण से यह स्पष्ट हो जाता है कि 'चणक-चाणक्यमूलक-विष्णु गुप्त-कौटिल्य' इन चारों के निकट सम्बन्ध के कारण (यह सम्बन्ध अर्थशास्त्रकार और शस्य-विशेष — इन दोनों

---

१. रामायण ३।७३।२६। शबरी एक नाम है, यह टीकाकारों ने भी कहा है (तिलक-गोविन्दराजीय-शिरोमणि टीका)।

२. ऐतिहासिक ज्ञानाभाव के कुछ विशिष्ट उदाहरणों के लिये 'व्याकरणदर्शनेर इतिहास' नामक बंगला ग्रन्थ द्रष्टव्य है (प्राक्कथन पृ० ६—९), यद्यपि सामान्यतया हम कहते ही हैं–"पूर्वचरितसंकीर्तनमितिहासः"। "इतिह-शब्द उपदेशपारम्पर्ये वर्तते। इति हास्यतेऽस्मिन्निति इतिहासः" (महाभाष्य-प्रदीप ४।२।६०)।

में है) विष्णुगुप्त कौटल्य बाद में कौटिल्य नाम से भी अभिहित होने लगा। इस भ्रम का प्रयोजक आचार्य की कूटनीति की प्रसिद्धि भी थी, जो परवर्ती काल में अत्यधिक पल्लवित और प्रचारित हो गयी थी। ध्यान देना चाहिए कि कौटिल्य शब्द ही इस क्षेत्र में प्रचलित हुआ, न कि 'छल' 'कापट्य' 'धूर्तता' आदि शब्द। कौटिल्य शब्द का ही प्रयोग होना, और छल आदि शब्दों का एक बार भी प्रयोग न होना, यह ज्ञापित करता है कि कौटिल्य शब्द के प्रचलन में, मूल में 'कुटिलता' के अतिरिक्त तदनुरूप वर्णानुपूर्वीविशिष्ट कोई अन्य शब्द था। गुण-निर्देशक एतादृश नामों में पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग होता है, जैसे—श्याम और कृष्ण (देवकीपुत्र के लिए), रुक्मी और रुक्मवान् (रुक्मिणी-भ्राता के लिए), इन्द्रप्रस्थ-शक्रप्रस्थ-हरिप्रस्थ (स्थान-विशेष के लिए) इत्यादि। चूँकि कौटिल्य नाम में एतादृश पर्याय-भेद कहीं भी, एक बार भी प्रयुक्त नहीं हुआ है, अतः कौटिल्य नाम का मूल आधार कुटिलता गुण नहीं हो सकता। साथ ही यह भी सोचना चाहिए कि भाववाची शब्द का व्यक्ति नाम के रूप में प्रयोग विरल है। यदि कुटिलता ही प्रवृत्तिनिमित्त होती, तो 'कुटिल' शब्द ही प्रचलित होता, 'कौटिल्य' नहीं।

इस प्रकार हम समझते हैं कि कन्दविशेष के अर्थ में विष्णुगुप्त-कौटिल्य के प्रयोग होने के कारण, तथा आचार्य के चाणक्य नाम के कारण (चाहे चणक के अपत्य के अर्थ में या चणकप्रियता के कारण) शब्दों का अन्योन्यसांकर्य हो गया था, जिसके फल में कौटल्य को बाद में कौटिल्य कहा गया था। यह हेतुनिर्देश पुनरपि विचारणीय है, अतः अधिकारी विद्वानों से इस पर विचार करने के लिए प्रार्थना कर रहा हूँ।

: ६ :

महाभारत के 'यतो धर्मस्ततो जयः' सिद्धान्त की उपपत्ति

'यतो धर्मस्ततो जयः' यह वाक्य 'महाभारत' में अनेक स्थलों पर पठित हुआ है (भीष्म० २१।११, उद्योग०, ३९।३, स्त्री० १३।९) और यह कहा ही जा सकता है कि 'महाभारत' में घटना-प्रमाणों से भी भगवान् वेदव्यास ने इस सत्य को प्रमाणित किया है।

ऋषिप्रोक्त नियम निरपवाद होता है और अपवाद हो तो आचार्य स्वयं ही उसको कह देते हैं। वस्तुतः आर्ष ग्रन्थों में जो नियम सार्वभौम रूप से प्रतिपादित हैं, वे निरपवाद ही रहने चाहिएँ, यह हमारी मान्यता है। पर इन सार्वभौम नियमों के विषय में यह देखा जाता है कि लोक में प्रायः अधार्मिकों की ही 'जय' होती है। जैसे मिथ्या साक्ष्य के बल पर न्यायालय में जीत जाना, काला बाज़ार के बल पर लक्ष्मीवान् होना, खुशामद के बल पर उच्च पद पर आसीन होना, कपटता और शठता के बल पर अधिनायक होना इत्यादि। इन उदाहरणों में कथित मिथ्याचार, खुशामद आदि स्पष्टतः अधर्म हैं क्योंकि (अहिंसादि की तरह) धर्मरूप से उनका विधान नहीं है। परन्तु उनसे जय, प्रतिपत्ति, यश आदि मिलते ही हैं, जो अभ्युदय में आते हैं और 'अभ्युदय धर्म का ही फल है' यह कहा जाता है।

ऐसी स्थिति में कुछ लोग यह भी मान लेते हैं कि 'उपर्युक्त वाक्य व्यक्ति विशेष के स्वार्थ से प्रणोदित हैं' या 'यह नियम सापवाद है' या 'यह नियम कलियुग में नहीं घटता'। पर चूँकि शास्त्रकारों ने इस प्रकार का कोई बन्धन इस नियम पर नहीं कहा, अतः हमें यह मानना होगा कि यह नियम सार्वभौम है, ('जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः' की तरह)। हम इस प्रकरण में यह दिखलायेंगे कि कहीं भी यदि 'जय' है, तो वह धर्म-प्रभव ही है, जो पूर्वोक्त उदाहरणों में भी सत्य है। चूँकि शंकाकारी ने 'धर्म' और 'जय' को अपनी कल्पना के अनुसार सोचा है—शास्त्र के अनुसार नहीं, इसलिये उन्हें यह शंका उत्पन्न हुई है।

धर्म कतिपय विशिष्ट आचारों का नाम है, जिसका विस्तृत विवरण शास्त्रकारों ने दिया हैं। धर्म में जितने आचरण आते हैं, उन पर विचारने से पता

लगता है कि 'धर्म वह ज्ञानमूलक आचरण है, जिससे अनिष्ट का निवारण और इष्ट की प्राप्ति होती है।' यह इष्ट स्तर-भेद से विभिन्न प्रकार का होता है। इष्ट का इष्टत्त्व इसी में है कि वह 'प्राणी को अनागत अनिष्ट से दूर रहने के लिए शक्ति दे और उच्चतर इष्ट पाने के लिए समर्थ प्रज्ञा दे।' इससे यह सिद्ध होता है कि धर्म के आचरण से ही सुख मिलता है (धर्मात् सुखम्) और जहाँ सुख मिलता है वहाँ किसी-न-किसी प्रकार का धर्म कुछ मात्रा में अवश्य है। धर्म का स्वरूप इतना सूक्ष्म और इतना विशाल है कि कहीं-कहीं 'यह धर्माचरण है' ऐसा कहना भी स्थूल दृष्टि से कठिन हो जाता है, पर हमें वहाँ भी अनुमान करना पड़ता है कि 'अवश्यमेव वहां धर्म है, नहीं तो सुख न मिलता।' सुख भी अनेक प्रकार का होता हैं। तामस सुख भी है, जो तामस धर्म से मिलता है, सात्त्विक धर्म से नहीं। चूँकि हम धर्म-प्रकृति और सुख-प्रकृति के समीकरण से परिचित नहीं होते, अतः हमें कहीं-कहीं 'धर्म से ही सुख मिलता है' इस वाक्य पर सन्देह आ जाता है। हम यज्ञ-रूप धर्म से ब्रह्मनिर्वाणरूप सुख यदि चाहें, तो वह भ्रान्ति होगी और मोक्ष-धर्म के आचरणों से यदि साम्राज्य-सुख चाहें, तो वह भी भ्रान्ति होगी। इसलिए 'यतो धर्मस्ततो जयः' की उपपत्ति के लिए जय, धर्म और पराजय—इन तीन पदार्थों का स्तर तथा प्रकृति भी जाननी होगी।

जय का स्वरूप पहले विचारणीय है। 'अनिष्ट से पराभूत न होना' ही जय है, जो समाज, राष्ट्र, सम्प्रदाय तथा व्यक्ति में समान रूप से चरितार्थ होती है। इस जय के लिए अपेक्षित शक्ति चाहिए। शरीर यदि उपयुक्त हो, तो वह व्याधि पर जय पा सकता है, मन में यदि स्थैर्यशक्ति हो, तो सुख-दुःख में चंचल न हो कर व्यक्ति इन दोनों पर विजय पा सकता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि क्लेशकारक पदार्थ से अभिभूत न होना ही 'जय' है।

यह जय भी स्तर-भेद से विभिन्न प्रकार की होगी। धर्म-सम्प्रदाय की जय यह नहीं कि उसके सम्प्रदाय में कितने अधिक व्यक्ति हैं, राष्ट्रिक जय का यह अर्थ नहीं कि उस राष्ट्र में अधिक व्यक्ति योगी हैं, व्यवसायी का जय यह नहीं कि वह कितना बड़ा विद्वान् है। जय अपनी स्थिति और लक्ष्य के अनुसार होती है। किञ्च 'जयी व्यक्ति' कोई एक अखण्ड तत्त्व नहीं है; उसका शरीर है, मन है, समाज है, बाह्य परिस्थिति है, सहायक है। इन सबका कुछ-न-कुछ योग प्रत्येक जय में सामान्य-विशेष-रूप से रहता है और यह सम्भव नहीं होता कि विजय के लिए इन सबों को समान शक्ति मिली हो। अतएव यही सर्वदा सम्भव होता है कि युद्ध में सेनापतियों को धीशक्ति रहने पर भी अस्त्रादि प्रयोग में

अपटुता के कारण पराजय हुई या संगठन की दृढ़ता होने पर भी किसी एक की विश्वासघातकता के कारण पूर्ण संघ को अवमानित होना पड़ा या प्रचार-कार्य-कुशलता के अभाव से त्यागी नेता की भी निर्वाचन में हार हुई।

तत्त्वतः धर्म केवल यागादि या सत्य - अहिंसादि ही नहीं हैं, पर उन प्रयोग-सिद्ध नियमों का आचरण है, जिनसे अनभीष्ट का निवारण होता है। इस दृष्टि से दन्त-दोष-क्षयार्थ दन्तधावन भी धर्म है और चित्त के कालुष्य-निवारणार्थ संयम भी धर्म है। उसी प्रकार सामाजिक और राष्ट्रिक धर्म भी है।

हमने अभी कहा है कि 'जय' के लिए शक्ति और शक्ति-प्रयोग का उपयोगी ज्ञान चाहिए। यह ज्ञान भी संबद्ध पदार्थों के समवाय से अधिगत होता है अर्थात् धर्म शब्द से ज्ञान, ऐश्वर्य (= ईश्वरता = प्रभुता=प्रयोग करने का सामर्थ्य, इच्छानुसार कार्य करने की निर्बाध शक्ति) और वैराग्य (अनुपादेय पदार्थ से दूर रहना)—इन तीन पदार्थों का भी ग्रहण करना चाहिए। किसी पर 'जय' प्राप्त करने के लिए इनकी आवश्यकता है और इन चारों का स्तर जिस में जितना है (क्लेशद पदार्थ की तुलना में), वह उतना जय प्राप्त कर सकेगा। जिस में इन चारों की सर्वथा पराकाष्ठा है, वह सर्वथा जयी होगा।[1]

अब हम विभिन्न उदाहरणों से यह सिद्ध करेंगे कि कहीं भी 'जय' यदि है, तो वह इन चारों के परिमाण के अनुसार ही है, इसका अन्यथाभाव कहीं भी नहीं है। चूँकि धर्म ही ज्ञान आदि का मूल है, अतः यह कहा जाता है कि 'जहाँ धर्म है, वहाँ जय है'; वस्तुतः धर्म में यह तीन स्वतः आ जाते हैं। यदि हम 'जय' का अर्थ 'अनिष्ट वस्तु, क्लेश या दुःख का पराभव' ऐसा मानें तो धर्म=धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य—इन चारों का समाहार होगा।

उपर्युक्त नियम के प्रमाणीकरण के लिए कुछ घटना-प्रमाण दिए जा रहे हैं:—

---

१. ये चार बुद्धि के चार सात्त्विक रूप हैं (धर्मो ज्ञानं विराग ऐश्वर्यम्, सात्त्विकमेतद् रूपम्, सांख्यकारिका,२३) और इन चार सात्त्विक रूपों के साथ इनके चार तामस रूपों की सत्ता भी है ('तामसमस्माद् विपर्यस्तम्'—सांख्यकारिका)। चूँकि बुद्धि ही सर्वशीर्ष व्यावहारिक आत्मभाव है और सभी की चालिका है, अतः ये ८ भाव बुद्धि, शरीर इत्यादि में विद्यमान हैं (यहाँ बुद्धि के राजस रूपों को नहीं माना गया, क्योंकि रज सभी का समान रूप से प्ररोचक है)। सभी जय इन आठ रूपों के बलाबल पर निर्भर हैं और प्रत्येक क्षेत्र में हम देखते हैं कि मूलतः सात्त्विक चार रूपों की ही जय होती है। यही कारण है कि 'यतो धर्मस्ततो जयः' कहा जाता है।

'किसी चोर ने किसी योगी के एक मात्र वस्त्र की चोरी की। चोर का पता नहीं लगा और योगी को कष्ट हुआ।' इस उदाहरण में यह कहा जा सकता है कि अपकर्मकारी चोर चोरी कर वस्त्रलाभ के कारण सुखी हुआ (जो धर्म का फल है) और सुकृतिकारी योगी को वस्त्राभावजन्य कष्ट हुआ। क्या 'यतो धर्मस्ततो जयः' नियम का यह अपवाद नहीं हैं ?

उत्तर में वक्तव्य है कि—नहीं। यहाँ भी धर्म की ही जय हुई है। यदि हम योगी और चोर के पूर्ववर्णित धर्म (धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य) के परिमाण को देखें तो स्पष्ट होगा कि यहाँ धर्म के कारण चोर को जय हुई है (केवल चोरी कर्म की सिद्धि में)।

प्रकृत उदाहरण में चोर में शारीरिक बलरूप ऐश्वर्य और चौर्य कर्म में ज्ञान (पटुता)—ये दो योगी की अपेक्षा अधिक हैं। चोरी के लिए जिन नियमों (धर्म) का पालन करना पड़ता है (निःशब्द पदसंचार आदि), उनका पालन भी उसने किया तथा चौर्य-बाधक साधुता, अशक्ति आदि में उसका वैराग्य है। पक्षान्तर में योगी में वस्त्र-रक्षण के लिए उपर्युक्त रक्षण-शक्ति का अभाव तथा शरीर-बल से चोर पकड़ने की शक्ति का अभाव एवं चौर्य-निवारक ज्ञान का अभाव है, इस लिए चोर ने अपनी चौर्य-क्रिया में साधु पर विजय पाई।

पर यह विजय चौर्य-क्रिया पर ही है। इसके बाद चोर को जो उद्वेग आदि होंगे, वे योगी में नहीं होंगे क्योंकि मानसिक स्थैर्य के लिए जो अध्यात्म ज्ञान, वृत्तिनिग्रहशक्ति, विषयवैराग्य आदि योगी में हैं, वे चोर में नहीं हैं, अतः बाह्य परिस्थिति-जनित मानस-चाञ्चल्य पर विजय पाने की दृष्टि में योगी ही विजेता रहेगा, चोर नहीं। किञ्च चोर में चौर्य-संस्कार की वृद्धि के बाद उसे अन्य कष्ट मिलेंगे, योगी को नहीं। इस दृष्टि से योगी एक क्षेत्र में पराजित होकर भी अन्य क्षेत्र में विजेता रहेगा। पर दोनों क्षेत्रों में धर्म की ही विजय हुई, यह मानना होगा।

किसी के द्वारा किसी के हनन में भी यही नियम प्रयोज्य है। श्येन (बाज) जब कपोत (कबूतर) को मारता है, तब कपोत को अशक्ति के कारण उसकी पराजय होती है और इस विजय के कारण आहार-जनित सुख भी श्येन को मिलता है। यह जय आहार-क्षेत्र तक सीमित है और यहाँ भी यथास्थान धर्मादि चारों का उत्कर्ष (कपोत की अपेक्षा) श्येन में अधिक है।

मनुष्यों में भी यही वस्तु दिखाई पड़ती है। दुष्ट कुप्रकृति के लोग सदाचारी को कष्ट पहुँचाते रहते हैं और वे अदान्त व्यक्ति कभी भी सज्जनों से डरते नहीं हैं। इससे यह नहीं समझना चाहिये कि असदाचारी की विजय होती है।

इस उदाहरण में अनेक विषय विचार्य हैं। पहले तो यही ज्ञातव्य है कि जिस समाज में दुष्टों पर निग्रह (राज-शक्ति की ओर से) नहीं है, वह समाज ही तामस है और यतः पूर्वजन्म के कर्म के फल के कारण किसी शिष्ट व्यक्ति को बाध्य हो कर उस समाज में रहना पड़ता है[1] अतः उस व्यक्ति ने जन्मान्तर में अधर्म (कृष्ण कर्म) किया था, जिसका प्रारब्ध फल उसे भोगना पड़ रहा है—यह भी मानना पड़ता है। तामस समाज में रहकर सात्त्विक-वृत्तिमान् का उत्कर्ष होगा—ऐसा सोचना भी अन्याय्य है। चूँकि अधर्म के कारण तामस समाज में जन्म हुआ है, इस लिए कुछ तामस कष्ट पाना भी अनिवार्य हो जाता है।

दूसरी बात यह है कि तामस समाज में सदाचारी धार्मिक को जो कष्ट मिलता है, उस कष्ट से धार्मिक विचलित नहीं होता (जैसा अन्य अधार्मिक को कष्ट मिलने से वह उसे अपना स्वरूपतः अपमान समझ कर अधिकतर शोक में मुह्यमान हो जाता है), क्योंकि वह जानता है कि किन्हीं पूर्व तामस कर्मों के कारण यह कष्ट कार्य-कारण-भाव के अपरिवर्तनीय नियम के अनुसार उसे भोगना पड़ रहा है। किञ्च वह यह भी समझता है कि देहात्माध्यास के कारण कष्ट का अनुभव होता है, जो अधर्म का फल है, अतः धार्मिक व्यक्ति को परिस्थिति-जन्य यह दुःख स्वलक्ष्य से सहसा भ्रष्ट नहीं करा सकता। इस प्रकार अधार्मिक व्यक्ति जहाँ दुःख से विचलित होगा, या लोभ का वशीभूत होगा, वहाँ धार्मिक व्यक्ति विचलित नहीं होगा। यह साधारण जय नहीं है।

किंच जैसे पूर्वोक्त पूर्व-जन्मीय अधर्माचरण और अज्ञान के कारण उसे यह प्रारब्ध भोगना पड़ता है, वैसे ही कुछ दुष्ट इहजन्मीय कारण भी हैं। तामस समाज में प्रतिपत्ति पाने के लिए तदनुरूप ज्ञान और चेष्टा करनी चाहिए तथा सात्त्विक ज्ञान के प्रति वैराग्य चाहिए। यतः वह व्यक्ति यथाशक्ति तामस क्षेत्रीय ज्ञानादि से अपने को दूर रखता है, अतः तामस समाज में उसकी पराजय होती है। यद्यपि साथ-साथ सात्त्विक क्षेत्र में उसकी विजय है। हमने पहले ही कहा था कि पराजय की एक निश्चित परिधि नहीं होती। इसी लिए एक क्षेत्र में पराजित होने से ही वह व्यक्ति सर्वतः पराजित नहीं होता। नकल-क्रिया में पटुता पाने से प्रथम श्रेणी-

---

१. प्राणियों के कर्मवैचित्र्य को देखकर यह मानना पड़ता है कि प्राणी में पूर्व-जन्मसंचित कर्मसंस्कार हैं। संस्कारानुरंजित कर्माशय विशिष्ट सादृश्य के कारण आकृष्ट होकर उपयोगी लोक में स्थूल शरीर में अभिव्यक्त होता है। सदाचार, संयम, पुण्य आदि से संबद्ध उपदेश इस सत्य पर आधारित हैं। यह दृष्टि न्याय्य है।

प्राप्ति में जय होती है, पर सत्संस्कार की आधान-क्रिया के क्षेत्र में वह नकलकारी पराजित हुआ, ऐसा जानना चाहिए।

यही कारण हैं कि 'जय' का स्तर भी जयविचार में आवश्यक विचार्य विषय होता है तथा किस परिस्थिति में वह जय हो रही है, इस पर भी ध्यान देना आवश्यक होता है।

जब किसी सत्याश्रयी सम्प्रदाय की हार होती है (निर्वाचन में) और छल-कपटतादि-युक्त किसी पार्टी की जीत होती है, तब भी धर्म की ही जीत हुई है, यह समझना चाहिए। धर्म का अर्थ है--'जिस क्रिया की सिद्धि के लिये जिन उपयोगी आचरणों का विवरण सफल प्रयोगकारी ने दिया है, उन आचरणों का पालन करना'। निर्वाचन क्रिया (वर्तमान काल के उपयोगी एक तामस कर्म विशेष) के लिए मूढ़ जनता को मिथ्या आशाएँ देकर प्रलोभित करना 'धर्म' है, क्योंकि उसी से आज जय होती है। उसके लिए जिन उपायों की आवश्यकता होती है, उनको यथावत् जानना 'ज्ञान' है। इसके विरोधी सत्य-भाषण आदि की उपेक्षा करना ही 'वैराग्य' है और इन उपायों की प्रयोगकारिणी शक्ति का नाम 'ऐश्वर्य' है। चूँकि वर्तमान निर्वाचन-पद्धति एक तामसिक कर्म है, इसलिए उसमें विजय पाने के लिए तामस गुण और क्रिया का आधान जो दल नहीं करेगा, उसकी जीत नहीं हो सकती। तामसिक निर्वाचन में जय पाना तामस दल के लिए तो सम्भव है, पर सात्त्विक दल के लिए नहीं, इस लिए निर्वाचन में हार जाने से किसी सात्त्विक दल को यह नहीं समझना चाहिए कि यहाँ धर्म की जीत नहीं हुई, क्योंकि कर्म का जैसा स्वरूप है, तदनुसार ही यदि धर्म हो, तो वहाँ जय होगी। निर्वाचन (जो आज तामस कर्म है) में जयी होने के लिए अपने को तामसिक बनाना पड़ेगा; कोई सात्त्विक व्यक्ति यदि अपने में तामस गुण का आधान न करे तो वह तामस कर्म में जयी नहीं होगा और तमोगुणी व्यक्ति ही जयी होगा, क्योंकि उसमें कर्मोपयोगी धर्म अधिक है।

न्यायालय में जब असत् व्यक्ति की जय होती है, तब भी यही युक्ति प्रयोज्य है। विचार-पद्धति की प्रकृति जैसी है, उस प्रकृति के अनुसार धर्म-ज्ञान-वैराग्य-ऐश्वर्य का परिमाण जिसमें अधिक होगा, वही उस स्तर में न्यायालयीय परिभाषा के अनुसार जयी होगा; अन्य परिभाषा में, अन्य प्रकृति के धर्म की दृष्टि में वहां पराजय भी समान रूप से हो सकती है। यह स्पष्ट जानना चाहिए कि वर्तमान न्यायालय में शीलवान् कोई व्यक्ति (भारतीय अध्यात्म दृष्टि के अनुसार) विचारक नहीं होता, अतः वह विचारक अपनी ज्ञानपरंपरा एवं चित्तप्रकृति के अनुसार कौन दोषी है, इसका विचार करता है और तदनुसार जयपराजय का निर्णय होता है। यह जय-पराजय

तात्त्विक नहीं है। अतः जिस क्षेत्र में यह जयपराजय होती है, तदनुसार ही उस पर विचार करना चाहिए। मान लीजिए कि आधुनिक विधि यही कहती है कि साक्ष्य-दाताओं की संख्या के अनुसार ही दोषी और निर्दोष का विचार करना चाहिए। अर्थात् इस विचार-क्रिया में जय उसी की होगी, जो किसी-न-किसी प्रकार से (लोभादि से भी) अधिकसंख्यक साक्षियों का संग्रह कर सके। यहाँ अन्य शास्त्र-संमत विचार-पद्धति[1] से उस जयी व्यक्ति की पराजय मानी जा सकती है (जैसे एक चरित्रवान् जो कहेगा वही ठीक है, सहस्रों असत् व्यक्तियों की बात वहां नहीं मानी जाएगी—यह नियम यदि न्यायालय में प्रयोज्य हो)। इसलिए 'पराजय' होने से ही हम उसे तात्त्विक पराजय नहीं मानते। हमें यह भी विचारना होगा कि उस पराजय का निर्णायक कैसा है। कौन दोषी है—इसका विचार तो तात्कालिक विधि के अनुसार ही किया जाता है और विधि तो व्यक्तिविशेषों के अनुसार बनती हैं। वे व्यक्तिविशेष जैसे होंगे, विधि भी वैसी ही होगी, सुतरां न्यायालयीय जय-पराजय से तत्त्वतः जय या पराजय सिद्ध नहीं होती।

स्थूल जय ही जय नहीं है। ऐसी भी 'जय' है, जिसका निर्णय 'फल' के अनुसार करना चाहिए। भारत की स्वाधीनता के लिए जिन लोगों ने अँग्रेज़ी-राज्य में स्वेच्छा से जेल में अवर्णनीय कष्ट सहे (जहाँ शठता और विश्वासघात करने से अँग्रेज़ उनको परम लौकिक सुख में रखते), हम उनकी ही विजय समझते हैं, क्योंकि अन्ततोगत्वा उनकी इच्छा ही पूर्ण हुई। अँग्रेज़ों का स्थूल शक्ति-स्तर इन महापुरुषों के स्थूल शक्ति-तर से उत्कृष्ट था। इन स्वराज्यकामियों को शरीरादि में स्थूल कष्ट अवश्य मिला, पर उस समय भी वे यह नहीं समझते थे कि हम पराभूत हो रहे हैं और वे निर्विकार रहते थे। इसलिए उस समय स्थूलकष्ट-दान-क्रिया में अँग्रेज़ जयी थे और सिद्धान्त-विजय की दृष्टि में तब भी स्वदेश-प्रिय व्यक्तियों की ही विजय हुई थी और आज भी उनकी ही विजय है।

यह भी ज्ञातव्य है कि 'जय' का स्वरूप तत्त्वतः चित्तानुसार ही होता है। यदि देश में यह शासकीय नियम हो जाए कि 'मिथ्यावादी व्यभिचारी ही राष्ट्रपति होगा,' तो सत्यवादियों की सामाजिक पराजय अवश्य होगी (क्योंकि वे मिथ्या-वादियों के अधीन हो कर रहेंगे) पर यहां भी स्थूल सामाजिक व्यवहार में उनकी

---

१. एकोऽपि वेदविद् धर्मं यं व्यवस्येद् द्विजोत्तमः।
स विज्ञेयः परो धर्मो नाज्ञानामुदितोऽयुतैः॥
—यह मनुवचन (१२।११२) इस प्रसंग में द्रष्टव्य है।

पराजय होने पर भी उन के आदर्श और इष्ट लक्ष्य के अनुसार उनका अनभिभव (= जय) ही होगा, क्योंकि इस परिस्थिति में भी वे अनृतवादी नहीं होंगे। अनृतवादी होने से जो 'जय' हो सकती, वह 'जय' उनमें नहीं होगी, पर उन की दृष्टि में जो 'जय' है, वह तो होगी ही; इसलिए जय-पराजय के विचार में 'किस का क्या लक्ष्य और आदर्श है' तथा 'उस आदर्श की कितनी सिद्धि उसने प्राप्त की'—ये दो तत्त्व भी विचारणीय होते हैं।

यहाँ शंका होगी—'यदि तामस कर्म में जय प्राप्त करने के लिए तामस उपाय ही समर्थ है, तो सात्त्विकता का अवसर कहाँ है' ? हमने प्रथम उदाहरण में इसका उत्तर दिया है कि 'चौर्य-कर्म में उपयोगी ज्ञान-शक्ति के आधिक्य के कारण साधु पर चोर की जीत होती है, पर चित्त के उत्कर्ष रूपी कर्म की दृष्टि से चोर की पराजय ही है, क्योंकि चोर का जीवन अशान्त है और साधु का जीवन शान्त, सुखमय है।' इस दृष्टि से 'यतो धर्मस्ततो जयः' के क्षेत्र में 'जय' की प्रकृति भी विचारणीय होती है अर्थात् तामस कर्म में जय प्राप्त करने के लिए जो धर्म चाहिए, उसे अवश्य ही तामसस्तर का होना चाहिए, न कि सात्त्विक स्तर का। इस रहस्य को न जानने से ही यह समझ में नहीं आता कि क्यों अहिंसा-सत्यादि-परायण व्यक्ति की पराजय (मार-पीट में मार खाना, मुकदमा में हार जाना) दुर्जन व्यक्ति के हाथ से होती है। आधुनिक न्यायालयों के विचारक चूँकि सात्त्विक प्रकृति के नहीं होते, (अध्यात्म शास्त्र की दृष्टि से, राजनीतिक संविधान की दृष्टि से नहीं; अध्यात्म दृष्टि से जो अतिनिकृष्ट तामस प्रकृति के मानव हैं, वे भी तो तमःप्रधान संविधान के अनुसार एक सुयोग्य नागरिक माने जा सकते हैं !) अतः उनके विचार में उसी को जय मिलेगी, जो उनकी असात्त्विक दृष्टि का अनुवर्तनकारी होगा, इसलिये किसी न्यायालय में 'जय' होने से ही यह नहीं समझ लेना चाहिये कि विजित व्यक्ति तत्त्वतः अधार्मिक है। तामस जय के लिए तामसिक शक्ति अधिक चाहिए और राजस जय के लिये राजस शक्ति अधिक चाहिए।

वस्तुतः 'जय' अनेक प्रकार की होती है, अतः केवल 'जय' शब्द से भ्रम में नहीं पड़ना चाहिए। किस प्रकार की 'जय' है और कितने अंश पर 'जय' है, इसका भी विचार अपेक्षित है। अहिंसादि-परायण एक योगी के निवासस्थान पर एक क्रूरकर्मा सेनाधिपति की 'जय' (आधिपत्य) हो सकती है, पर इससे साधुत्व पर विजय नहीं समझनी चाहिए। जिस देश में जो शासन-विधि प्रवर्तित है, तदनुसार जो जीवन नहीं चलाएगा, उसको राज-शक्ति दण्ड देगी। यह शासन-विधि सदैव सात्त्विक ही नहीं होती, अतः जिस देश की शासन-पद्धति में तामस भाव अधिक है, उस देश के सात्त्विक नागरिकों को बहुत कष्ट मिलेंगे, पर क्या

तब यह कहा जाएगा कि इस कष्ट का कारण उन सात्त्विक नागरिकों की अधार्मिकता है ?

बात यह है कि प्रत्येक व्यक्ति जिस देश-काल में रहता है, उस देश-काल में जो प्रचलित लोक-व्यवहार है, उसका सम्यक् अतिक्रमण वह (उस लोक-व्यवहार में रह कर) नहीं कर सकता, इसलिए यदि किसी को विशुद्ध लौकिक सुख की अपेक्षा हो, तो उसे तात्कालिक लोक-मानित ज्ञान और कर्म के अनुसार चलना होगा। यह नहीं हो सकता कि हम किसी लोकायतिक[1] (सेक्यूलर) राज्य में रहे और वेदानुकूल आचरण कर उस राष्ट्र के कर्णधार बन जाएँ। लोकायतिक धर्मयुक्त राष्ट्र में विधि के अनुसार विजय पाने के लिए हमें भी (कम से कम कुछ समय के लिये) लोकायतिक बनाना पड़ेगा और तभी हमें उनके अनुसार जय मिल सकती है। पर यदि हम एतादृश राज्य में रह कर भी वैदिक धर्म-पालन द्वारा विजय चाहें, तो हमें उस राज्य में निकृष्ट अवस्था ही प्राप्त होगी। हाँ, हमारे आदर्श के अनुसार तो हमारी जय ही है, क्योंकि अभीष्ट धर्माचरण में तो हमारी गति रहेगी। इस प्रकार एक क्षेत्र में पराजय होने पर भी अन्य क्षेत्र में हमारी विजय होती है—यह सिद्ध हुआ।

हिंसा-मिथ्यादि से भी जय होती है (किसी स्तर में, किसी सीमा तक), यह दिखलाया गया। यह जानना चाहिए कि हिंसादि का सत्यादि के द्वारा (तत्त्वतः) पराजय होती है, क्योंकि हिंसादि-बहुल प्राणियों में अशान्ति अधिक रहती है। इसीलिये सुखशान्ति के लिए असत् व्यक्ति को भी सत्यादि का आश्रय लेना पड़ता है। दस्यु (डाकू) यदि परस्पर कपटता का आचरण करें, तो उनकी पराजय होती है, इसलिए यह मानना पड़ता है कि सुख-शान्ति के स्थायित्व की दृष्टि से उन्हें भी कुछ-न-कुछ अहिंसा-सत्यादि को अपनाना ही पड़ता है।

किञ्च यदि राष्ट्रीय उन्नति या सामाजिक उन्नति (जय-विशेष) काम्य हो तो यथासम्भव सत्यादि की सहायता लेनी पड़ती है, अन्यथा वह जय क्षणभंगुर

---

१. 'सेक्युलर' शब्द का यथार्थ अनुवाद 'लोकायतिक' ही है, 'धर्मनिरपेक्ष' नहीं। जिस देश में देश-राष्ट्र-संविधान आदि पर निष्ठा रखने की बात कही जाती है, वहाँ अर्थतः धर्म की सत्ता स्वीकृत ही है। लोकायत शब्द में कोई दुर्भावना नहीं है, इसका अर्थ है—लौकिक अभ्युदय में नियत रहना—"लोकाय बुद्धि तनोति" (अर्थशास्त्र जयमंगला १।२)।

ही होगी। शौर्य-वीर्य आदि जो क्षात्रधर्म हैं, उनकी दृढ़ उन्नति के लिए राज-नीति और क्षात्र नीति का यथार्थ ज्ञान तथा संयमपूर्ण संगठन आवश्यक होता है। ये संयम आदि धर्म के ही स्थूल अंग हैं। राष्ट्र-जय स्थूल विषय है; इसमें जय पाने के लिए विशुद्ध मोक्षधर्म की आवश्यकता नहीं होती, अतः स्थूल संयमरूप धर्म (विश्वास, वश्यता, निष्ठा, प्रतिज्ञापालन इत्यादि) जितना दृढ़ होगा, उसकी विजय उतनी अधिक होगी।[1] पर विजय चूँकि और भी अनेक पदार्थों की अपेक्षा करती है तथा शत्रु का धर्मस्तर भी उसमें आता है, अतः जिस पक्ष में कार्यतः शक्ति-प्रयोग या सम्यक् ज्ञान अधिक होगा, वही जयी होगा। राज्यरक्षा के लिए मिथ्या-कथन, छल आदि भी आवश्यक होते हैं (राज्यधर्म मिश्र धर्म है), पर जिस पक्ष में अधिक धर्म (पहले वर्णित स्वरूप के अनुसार) होगा, वह तात्कालिक नियम के अनुसार जयी होगा। राष्ट्रीय विजय में राष्ट्रधर्म का आधिक्य चाहिए, संन्यासधर्म का नहीं, अतएव इष्ट लक्ष्य के स्वरूप के अनुसार यदि तत्स्तरीय धर्म का अधिक आचरण हो, तभी जय होगी।

इस दृष्टि से 'जय' के भी प्रकार-भेद होंगे। विशुद्धधर्म-सम्प्रदाय की जय उनके अनुयायियों की संख्या पर निर्भर नहीं है, क्योंकि उनका यह आदर्श ही नहीं है कि हमारे अनेक बाह्य अनुयायी हों। इसलिए धार्मिक संप्रदाय की जय में अनुयायियों की संख्या विचारणीय नहीं होती, बल्कि उस धर्म के आचरण से कितने व्यक्तियों को यथार्थ शान्ति मिल रही है, यही विचारणीय विषय होता है। त्यागी की जय अपरिग्रह के स्तर से निश्चित होता है और वैश्य की विजय न्याय्य सञ्चय को देखकर। इस प्रकार 'जय' का लक्षण भी जयपराजय-निर्णय में विचारणीय होता है।

अन्त में हम 'सर्वथा विजय' पर कुछ कहकर इस विचार को समाप्त करते हैं। किसी भी लौकिक अवस्था में सर्वथा विजय सम्भव नहीं है। क्योंकि प्रत्येक

---

१. इसी भाव को लेकर अथर्ववेद का पृथ्वीसूक्त (१२।१) रचित हुआ है। इस सूक्त का प्रथम मन्त्र है—"सत्यं बृहदृतमुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति'। इतिहासपुराण में राजधर्म के विवरण में विशेषतः राजा और सामान्यतः मन्त्री आदि के जिन गुणों की चर्चा की गई है, उससे यह तथ्य सुप्रमाणित होता है। व्यक्तिगत और समाजगत जीवन में (विजेता की तुलना में) अनेक प्रकार के दोष ही भारत की प्रजाओं के अधःपतन के कारण हैं।

लौकिक विजय अपने से अन्य पदार्थों का कुछ-न-कुछ सापेक्ष होती है। विवेक, (ज्ञातृ-ज्ञेय का भेदज्ञान) परवैराग्य और चित्तनिरोध से जो 'जय' होती है, वही अन्तिम जय है, क्योंकि न वह अन्य सहायकसापेक्ष है और न उसका बाध बाद में होता है। इस जय में देश और काल का सापेक्ष कोई भी बाधक तत्त्व नहीं रहता, अतः आत्मा की स्वस्थिति ही सर्वोच्च विजय है और ऐसे विजयी को ही उपनिषत् ने 'स्वराट्' कहा है। यही भारत का आदर्श है और इस आदर्श को मान कर जो कुछ किया जाएगा, वही अपेक्षाकृत स्थायी, अधिक सुखदायी और अधिकतर मङ्गल-कारक होगा।

: ७ :

हस्ति-वैद्यककार वीरसोम का परिचय

बृहत्संहिता की भट्टोत्पलकृत टीका में 'तथा च हस्ति-वैद्यककारो वीरसोमः' कह कर 'समासोक्तस्य शास्त्रस्य सुखं ग्रहणधारणः' यह वाक्य उद्धृत किया गया है (१।२ टीका)। यह वीर सोम सर्वथा अप्रसिद्ध है। बृहत्संहिता के सम्पादक श्री सुधाकर द्विवेदी लिखते हैं कि इस आचार्य का परिचय ज्ञात नहीं है (ग्रन्थारम्भ में द्विवेदी जी ने विचारणीय विषयों को एक सूची दी है, उसके आरम्भ में उन्होंने ऐसा स्पष्टतया कहा है)। हस्ति-शास्त्र के प्राचीन ग्रन्थ लुप्त हो गए हैं। कई ग्रन्थों में गजवैद्यकशास्त्र का सार मिलता है, फिर भी प्रचलित ग्रन्थों में वीर सोम का कोई निर्देश नहीं मिलता।

हम समझते हैं कि सोम (चन्द्रवंश का मूलपुरुष) और तारा के 'बुध' नाम के पुत्र को लक्ष्यकर यहाँ 'वीर सोम' पद प्रयुक्त हुआ है। परम्परा में उनके मतों पर आश्रित कोई ग्रन्थ प्रसिद्ध था, जो बुध की कृति समझा जाता था। यह सोमपुत्र 'राजपुत्र' शब्द से भी अभिहित होता है—"राज्ञः सोमस्य पुत्रत्वाद् राजपुत्रः" (मत्स्य० २४।३)। सोम के लिए 'राजा' शब्द व्यवहृत होता है, अतः सोमपुत्र के लिए 'राजपुत्र' शब्द का प्रचलन असंगत नहीं है (मत्स्य० का यह स्थल पद्मपुराण ५।१२।५२—५४ में ईषत् पाठभेद के साथ पाया जाता है। मत्स्य० का यह विशिष्ट कथन वायु, विष्णु, हरिवंश आदि पुराणों में सोमवंश-कथन के प्रसंग में नहीं मिलता)।

यह राजपुत्र बुध हस्ति-शास्त्र का प्रवर्तक था (मत्स्य० २४।२)। राजपुत्र के द्वारा प्रोक्त होने के कारण हस्ति-शास्त्र या गज-वैद्यक का नामान्तर 'राजपुत्रीय' भी पड़ गया था[1] (मत्स्य० २४।३) —यह ज्ञात होता है।

वस्तुतः यह शास्त्र 'राजपुत्रीय' नामक है, क्योंकि रघुवंश ४।३९ की मल्लिनाथीय टीका में यह शास्त्र स्मृत हुआ है। ध्यान देना चाहिए कि यह हस्ति-शास्त्र गजवैद्यक भी कहलाता है (मत्स्य० २४।३), अर्थात् 'वैद्यक' शब्द रहने पर भी 'गजवैद्यक' शास्त्र केवल चिकित्सा से सम्बद्ध न होकर हस्तिसम्बन्धी सर्वविध विषयों से सम्बन्ध रखता है। यह मत उचित ही है, क्योंकि नकुलीय अश्वचिकित्सा-शास्त्र को 'अश्वशास्त्र' भी कहा जाता है।

---

१. राजपदघटित एतादृश शास्त्रनाम अन्यत्र भी मिलता है, यथा—हरिवंश (२।४२–२३) में 'यथा नरपतिः प्राह' वाक्य है। नीलकण्ठ लिखते हैं—'नरपतिर्ग्रन्थविशेषः, यत्र वाहनध्वजादीनां संस्कार उच्यते।'

इस सोमपुत्र बुध को लक्ष्यकर 'वीरसोम' पद प्रयुक्त हुआ है, ऐसा कहा जा सकता है। वीरशब्द 'युवकपुत्र' को लक्ष्यकर मूलतः विशेषण के रूप में प्रवृत्त हुआ होगा। सोम का पुत्र सोम पदवाच्य हो सकता है, जैसे भृगु का पुत्र भी 'भृगु' पद से अभिहित होता है। शुक्र के लिए भृगु-शब्द प्रसिद्ध ही है, (शुक्र-वार = भृगुवार)। हरिवंश (१।२७।२६) में जो भृगुशब्द है, वह भागव ऋचीक का वाचक है, अतः सोमशब्द भी सोमपुत्र बुध का वाचक (परिस्थिति विशेष में) हो सकता है। चूँकि हस्तिशास्त्रवित् वीरसोम के नाम से अन्य कोई आचार्य ज्ञात नहीं है, अतः ऐसी सम्भावना की जा सकती है, यद्यपि यह संभावना भी पुनः परीक्षणीय है।

प्रसंगतः यह भी ज्ञातव्य है कि अग्निपुराण में कहा गया है कि पालकाप्य ने अङ्गराज को गजायुर्वेद कहा था (२९२।४४)। यह अङ्गराज रोमपाद (लोमपाद) हैं, यह भी अग्निपुराण (२८७।१) से ज्ञात होता है। कहीं ऐसा तो नहीं है कि लोमपाद का ही नामान्तर वीरसोम हो? अङ्गनृप (अङ्ग एक देश का भी नाम है) सोमवंशीय थे और उनके वंश में लोमपाद नामक राजा हुए थे (मत्स्यपुराण ४८ अ०)। सोमवंश की सुता शान्ता थी (४८।९५)। यदि सोमवंशीय रोम-पाद वीरसोम-पदवाच्य हैं, यह प्रमाणान्तर से सिद्ध हो जाय, तो पूर्वनिर्णय बाधित होगा।[1]

---

१. प्रसंगतः गजायुर्वेद के विषय में कुछ सामग्री संकलित की जा रही है—गजायुर्वेद का संक्षिप्त विवरण अग्नि० २८७ अ०, २९१ अ० और गरुड़० (१।२०१।३३–३९) में है। निश्चलकरने चक्रपाणिकृत 'चिकित्सा-संग्रह' की 'रत्नप्रभा' टीका लिखी है। इसमें हस्तिशास्त्रवेत्ता पालकाप्य के वचन उद्धृत हैं। इसमें पिंगल का नाम भी है, यह पिङ्गल रोमपाद-कालिक कोई हस्त्यार्वेदवित् है। ईश्वरसूरि के पुत्र हेमाद्रि के 'लक्षणप्रकाश' के गजप्रकरण में पालकापीय वचन-राशि उद्धृत है। यह ग्रन्थ नेपाल में सुरक्षित है (वैद्यकवृत्तान्त पृ० ४४० बंगला ग्रन्थ)। शिवदास की 'तत्त्व-चन्द्रिका' (पृ० ७०४) में पालकाप्य-नाम है। हस्त्यायुर्वेद-कार पालकाप्य और राजपुत्र कुमारिलकृत 'तन्त्रवार्तिक' में भी स्मृत हैं (पृ० २५९)। 'आकाशभैरवकल्प' नामक अमुद्रित ग्रन्थ (११५ पटल) में गजोत्पत्त्यादि विषय थे (गोडे-कृत आकाश भैरवकल्प नामक लेख, कर्नाटक हिस्टोरिकल रिव्यु ५।१ में प्रकाशित)। मल्लिनाथकृत काव्यों की टीकाओं में गज-शास्त्रपरक वचन उद्धृत हैं। वराहमिहिर की 'बृहत्संहिता' (६६ अ०, ९३ अ०) में यह शास्त्र विवृत हुआ है। हस्तिसूत्र (हस्तिसम्बन्धी सूत्र-मय ग्रन्थ) महाभारत में उल्लिखित है—(सभापर्व ५।१२१–१२२)। सिद्धान्त (१६।९) में प्रकाशित 'गजशास्त्र संबन्धी संस्कृत और हिन्दी ग्रन्थ' लेख श्री (अगरचन्द नाहटा-कृत) इस प्रसंग में द्रष्टव्य है।

: ८ :

वेदोक्त 'वाग्धेनु' का पौराणिक उपबृंहण

पुराणों में 'त्रयीमयी धेनु' का एक प्रसंग मिलता है, जहाँ त्रयी को धेनु के रूप में मानकर एक रूपकालङ्कारमय वर्णन किया गया है। यह वर्णन 'मार्कण्डेयपुराण' (२९।६–११) तथा स्कन्दपुराणीय धर्मारण्यखण्ड (६।५–१०) में मिलता है। धेनु के विभिन्न अंगों के साथ त्रयीसम्बन्धी पदार्थों का ऐकात्म्य यहाँ दिखाया गया है। इसका मूल श्रुति में है (वृहदारण्यक ५।८), यथा—

"वाचं धेनुमुपासीत। तस्याश्चत्वारः स्तनाः स्वाहाकारो वषट्कारो हन्तकारः स्वधाकारः। तस्यै द्वौ स्तनौ देवा उपजीवन्ति, स्वाहाकारं च वषट्कारं च। हन्तकारं मनुष्याः। स्वधाकारं पितरः। तस्या प्राण ऋषभो मनो वत्सः"।

श्रुति में जो 'वाक्' शब्द है, वह त्रयी का वाचक है, (शंकर भाष्य)। शतपथ० १४।८।९।१ भी इस प्रसंग में द्रष्टव्य है। वाक् को धेनु के रूप में मानना अन्यान्य वैदिक ग्रन्थों में भी मिलता है (शतपथ० ९।१।२।१७; ताण्डय० १८।९।२१, गोपथ पूर्व २।२१ आदि द्रष्टव्य हैं)। ताण्डय० २१।३।१ में वाक् को 'शबली' कहा गया है। यह शबली कामधेनु है (सायण)।

उपनिषत् की इस वाग्-रूपी धेनु सम्बन्धी दृष्टि का उपबृंहण पुराणों में किया गया है। उपनिषत् में धेनु के चार स्तन और देव-मनुष्य-पितरों से उसके उपभोग की बात कही गयी है। धेनु के प्राण और मन का वर्णन भी उपनिषत् में है, जो इन पुराणों में नहीं है।

उपबृंहण करने के समय पुराणकार ने कई विचार्य बातें कही हैं। वाक् के स्थान पर पुराणों में त्रयी शब्द है, जो समीचीन है।

पुराण में त्रयी का विशेषण 'सर्वाधारभूता' है। इसको 'विश्वहेतु' और 'विश्वप्रतिष्ठा' भी कहा गया है। इसको स्वरूपतः क्षय-उपचय-हीन भी कहा गया है।

जहाँ उपनिषत् में धेनु के केवल स्तनों का ही उल्लेख है, वहाँ पुराण में धेनु के पृष्ठ, मध्य, वक्त्र, विषाण, लोम, विष्ठा, मूत्र के साथ वैदिक पदार्थों का सम्बन्ध दिखाया गया है। वेद की दृष्टि यहाँ मूर्त हो उठी है और वस्तुतः पुराण ने यहाँ वेदार्थ का पूरण किया है। 'पूरणात् पुराणम्' यह निर्वचन जीवगोस्वामी ने तन्त्रसन्दर्भ ग्रन्थ के पुराण-प्रस्ताव में दिखाया है। वेद के सूत्रभूत वाक्यों को लेकर

पुराणों ने उनका जो विशदीकरण किया है, उसे देखकर ही पूर्वाचार्यों ने पुराण को वेदोपबृंहक एवं वेदपूरक माना है।

उपनिषत् में देवों का सम्बन्ध स्वाहा-वषट् से, मनुष्यों का सम्बन्ध हन्त से, पितरों का सम्बन्ध स्वधा से कहा गया है। यहाँ वेद और पुराण की दृष्टि में कुछ भेद है।

मार्कण्डेय० में देव का सम्बन्ध केवल स्वाहा से और वषट् का सम्बन्ध मुनि और 'देवभूत-सुरेतर' से कहा गया है। यहाँ का पाठ कुछ भ्रष्ट प्रतीत होता है। धर्मारण्य० में 'देवभूत-सुरेश्वराः' पाठ है। इस वाक्य में देव शब्द का अर्थ विचार्य है। हो सकता है कि यह देव कोई अन्य प्रकार का देव हो। यह भी हो सकता है कि 'देवभूत'....इत्यादि पद का अन्वय मुनि के साथ न होकर मनुष्यों के साथ हो, जैसा कि धर्मारण्य० के बंगला अनुवाद में म० म० पञ्चानन तर्करत्न जी ने दिखाया है। उपनिषत् में देवों से ही वषट् का सम्बन्ध दिखाया गया है। शिवपुराण ५।१०।४३–४५ में यह वर्णन आंशिक रूप में आया है। यहाँ 'देवा भूतेश्वरास्तथा' पाठ है। पुराण में 'मुनि' का प्रसंग क्यों किया गया—यह विचारणीय है। देवभूतसुरेतर का अर्थ है—देव, भूत और असुर।

दोनों पुराणों में कुछ पाठान्तर भी मिलते हैं, जिनका अध्ययन आवश्यक है। सामान्य पाठान्तरों को छोड़कर कुछ विशिष्ट पाठान्तर यहाँ उदाहृत हो रहे हैं—

धर्मारण्य (६।५–१०)	मार्कण्डेय (२६।६–११)
यजुः सन्ध्या	यजुर्मध्या[1]
सामकुक्षिपयोधरा	सामवक्त्रशिरोधरा[2]
उपजीव्यमाना	आजीव्यमाना
पदक्रमजटाघनैः	साक्षया नापचीयते

इन पाठभेदों का निर्णय इनके मूलभूत श्रुति पाठ के द्वारा नहीं किया जा

---

१. चूँकि यहाँ धेनुशरीर का प्रसंग है, अतः मध्य पाठ युक्त है।

२. मार्कण्डेय का पाठ असमीचीन है। साम के साथ कुक्षि और पयोधर रूपी दो पदार्थों का सम्बन्ध दिखाना संगत है, क्योंकि साम का अर्थ वेदमन्त्र सम्बद्ध गीत ही होता है तथा लक्षणा से साम का अर्थ गीत्याश्रयभूत मन्त्र भी होता है।

सकता क्योंकि श्रुतिगत वर्णन इतना विशद नहीं है।[1] धर्मारण्य का 'पदक्रम-जटाघनैः' पाठभेद विचारणीय है। निश्चित ही मार्कण्डेयपुराण-धर्मारण्यखण्ड से प्राचीन है और 'जटा–घन–पाठ' अर्वाचीन काल में प्रचलित हुए हैं, अतः मार्कण्डेय-समंत-पाठ ही प्राचीन पाठ प्रतीत होता है। धर्मारण्य खण्ड के रचनाकाल में 'जटा–घन–पाठ' के प्रचुर प्रचार के कारण ही उनका उल्लेख किया गया है, ऐसा प्रतीत होता है। इन पुराणों के प्राचीन हस्तलेख के मिलने पर ही ऐसे स्थलों का सम्यक् पाठनिर्णय हो सकता है।

---

१. यह भी संभव है पुराणकारों ने काण्वबृहदारण्यक (जिस पर शंकराचार्य का भाष्य है) के अतिरिक्त अन्य किसी शाखा के बृहदारण्यक के वचन का आश्रय कर यह प्रकरण लिखा हो। वैदिक नियम के अनुसार १५ बृहदारण्यक उपनिषत् ग्रन्थ हो सकते हैं, जब कि दो ग्रन्थ ही मिलते हैं।

: ९ :

इतिहासपुराणोक्त आचार्यस्वरूप

भारत में आचार्य, गुरु, अध्यापक आदि का सम्मान चिरकाल से सुप्रतिष्ठित है। परा और अपरा—इन दोनों विद्याओं के क्षेत्र में यह मत अवश्यमेव माना जाता है कि 'आचार्यवान् पुरुषो वेद'[1] अर्थात् आचार्य के उपदेश के बल पर ही शिष्य के हृदय में ज्ञान अंकुरित, प्रस्फुटित और विकसित होता है। उपदेश के विना केवल अपनी प्रतिभा से ज्ञान प्राप्त करना प्रायः असंभव है, और इसीलिये भारत में 'नमो गुरवे' कह कर ही अध्ययनाध्यापन का आरंभ किया जाता है।

आचार्य की यह महत्ता कोई प्रशंसापरक वाक्य-मात्र नहीं है और न केवल स्तुति के लिये ही ऐसा कहा गया है। यदि हम विद्या का स्वरूप, उसका अध्ययन और अध्यापन तथा आचार्य-अन्तेवासिसम्बन्ध इत्यादि विषयों पर पूर्वाचार्यों की दृष्टि के अनुसार गम्भीरता से विचार करें, तो यह स्पष्ट प्रतीत होगा कि प्राचीन भारत में आचार्यों की जो महिमा मानी गई थी, वह वस्तुतः सार्थक थी। वर्तमान काल के आचार्यों की मर्यादा को देख कर और उनकी अध्यापन-पद्धति को जान कर हम आज यह सोच भी नहीं पाते कि आचार्यों की यह महिमा क्यों कीर्तित की गई थी। पर यदि हम प्राचीन काल के आचार्यों के लक्षण, उनकी शिष्यों पर दया, उनको शिक्षण-प्रणाली आदि पर ध्यान दें, तो पुराकाल में आचार्यों को जो सम्मान दिया जाता था, उसकी युक्तता को भी जान सकेंगे।

इस विषय के विशदीकरण के लिये हम मुख्यतः इतिहासपुराणोक्त वचनों के आधार पर आचार्यों का लक्षण, उनकी अध्यापनपद्धति, शिष्यों के साथ उनका सम्बन्ध इत्यादि से सम्बन्धित अनुशासन और घटना-प्रमाणों पर विचार करना चाहते हैं। धर्मसूत्र, दर्शनग्रन्थ आदि से पौराणिक-वचनों का विशदीकरण भी किया जाएगा।

(क) वायु पुराण में आचार्य का एक गम्भीर लक्षण दिया गया है, यथा—

वृद्धा ह्यलोलुपाश्चैव आत्मवन्तो ह्यदम्भकाः।
सम्यग्विनीता ऋजवः तान् आचार्यान् प्रचक्षते॥

---

१. छान्दोग्य उपनिषत् ६।१४।२

(५९।२९) अर्थात् जो वृद्ध (वयोवृद्ध और ज्ञानवृद्ध), लोभहीन, आत्मवान्, दम्भशून्य, विनीत और सरल स्वभाव वाले हैं, वे आचार्य कहलाते हैं।

इस सारभूत वाक्य का प्रत्येक पद सार्थक है। ज्ञान के दीर्घकालीन अभ्यास के कारण विद्या और वयस में जो वृद्ध होते हैं, उनका उपदेश और अध्यापन ही फलप्रद हो सकते हैं। आजकल जो अल्पवयस्क लोग एक बार ही अध्यापक के रूप में नियुक्त हो जाते हैं, उनका अध्यापन सम्यक् कार्यकर नहीं होता, क्योंकि उनके पीछे अनुभव नहीं है। किसी कार्य की सफलता के लिये स्वानुभव एक महान् कारण होता है। इसके साथ 'आत्मवान्' अर्थात् अध्यात्म-दृष्टि-संपन्न भी होना चाहिए। आजकल अध्यात्म-दृष्टि का सम्यक् तात्पर्य न जान कर लोग इस पर उपहास करते हैं, उनको जानना चाहिए कि अध्यात्मज्ञानी ही सब कार्य (व्यावहारिक कार्य, अर्थात् शारीरिक कार्य से ध्यान, धारणादि पर्यन्त) में सफल होते हैं। अध्यात्मवित् जागतिक रहस्यों को अच्छी तरह से जान सकते हैं। भारत में कृष्ण आदि महापुरुष अध्यात्मज्ञानी थे, इसलिये व्यावहारिक क्षेत्र में भी उनकी असाधारण सफलता हुई थी। मनु ने भी सर्व-कार्य में इस अध्यात्मज्ञान की आवश्यकता को स्पष्टतः कहा है—"न ह्यनध्यात्म-वित् कश्चित् क्रियाफलमुपाश्नुते" (६।८२)। इस अध्यात्मज्ञान के अभाव से ही आज हमारे नेताओं की परिकल्पनाएँ सफल नहीं होतीं। मनु आदि ने अध्यात्म-ज्ञान का जो स्वरूप बताया है, उसके विचार से इस मत की युक्तता स्पष्ट होगी।

ये आचार्य के आभ्यन्तरिक सूक्ष्म लक्षण हैं। उनका स्थूल लक्षण है—लोभ-हीनता, दम्भहीनता, विनय और सरलता। विद्या का अभ्यासी कभी भी धनवान् या श्रेष्ठी नहीं हो सकता, क्योंकि अधिकधन के परिग्रह करने से उसके रक्षण आदि में चित्त जितना चंचल होगा, उससे विद्या में एकनिष्ठता नहीं होगी। इसका अर्थ यह नहीं है कि आचार्य अर्थाभावजनित कष्ट में रहेगा। इसका अर्थ है कि आचार्य को प्रयोजनातिरिक्त अधिक धन का संग्रह कर अपने को लोभी नहीं बनाना चाहिए। अधिक धन से चंचलचित्त होने की संभावना रहती ही है, जिसकी सत्यता आधुनिक विश्वविद्यालयीय प्रभूतवेतन-भोगी अध्यापकों को देख कर प्रमाणित होती है। अपरिग्रह की महिमा योगशास्त्र में भी कीर्तित हुई है। अर्थोपार्जन की क्रमिक उन्नति के अनुसार सुख-शान्ति नहीं मिलती, इसलिये चित्त में अध्यात्मज्ञान आहित कर अपेक्षित अर्थ का ग्रहण करना चाहिए।

दम्भ और अविनय से चित्त तमोभावापन्न होता है, जो विद्या-विरोधी है। नचिकेता के विषय में यम ने जो कहा था, विद्याव्यसनी को उसे कभी न भूलना

चाहिए—"विद्याभीप्सिनं नचिकेतसं मन्ये, न त्वं कामा बहवो लोलुपन्त" (कठोपनिषत्)।

(ख) यह तो आचार्य के व्यक्तिगत चरित्र के विषय की बात हुई। विद्या के क्षेत्र में उनका आदर्श क्या होना चाहिए, इस विषय में पुराण में कहा गया है—

स्वयमाचरते यस्माद् आचारं स्थापयत्यपि।
आचिनोति च शास्त्रार्थान् यमैः संनियमैर्युतः ॥[1]

(वायु० ५९।३०) अर्थात् जो स्वयं अपनी विद्या के अनुकूल आचरण करते हैं, विद्यार्थियों को आचार में स्थापित करते हैं और यम-नियम-शील होकर शास्त्रीय अर्थों को उपपत्ति करते हैं, वे आचार्य हैं। यह वाक्य आचार्य के कार्यों को लेकर आचार्य का लक्षण प्रस्तुत करता है। इसमें तीन विशिष्ट कार्य कहे गये हैं, यथा—

(१) स्वयमाचरण; (२) दूसरों को आचरण सिखाना; (३) शास्त्रज्ञान का सक्रिय अभ्यास करना। यहाँ आचरण का अर्थ सन्ध्या-पूजा ही नहीं, बल्कि अध्येतव्य शास्त्र के अनुकूल व्यवहार करना, अपना जीवन चलाना इत्यादि समझना चाहिए। यहाँ हम उदाहरण देकर इन तीन कार्यों का विशदीकरण कर रहे हैं :—

स्वयमाचरण की आवश्यकता इसलिये है कि उसके विना अन्तेवासी को आचार्य के प्रति श्रद्धा नहीं हो सकती। वेदान्त का अध्यापक यदि शम-दमादि साधनसम्पन्न न हो, योग का अध्यापक यदि अष्टांगयोग का सामान्य अभ्यास भी न करे, साहित्य का अध्यापक यदि लोकाचार का प्रत्यक्षदर्शी और व्यवहारपटु न हो, तो वह कदापि शिष्यों के हृदय में श्रद्धा की उत्पत्ति नहीं करा सकता। इसके साथ आचार्य में यह योग्यता भी होनी चाहिए कि वे अन्तेवासी को शास्त्रीय आचार का पालन कराने की शक्ति रखते हों, यानी उनके उपदेश में इतना बल हो कि वे अन्तेवासी के विपरीत संस्कार का नाश या अभिभव कर उनमें शास्त्रानुकूल संस्कार का उत्पादन कर सकें।

पर आचार्य कितना ही उपदेश करने में समर्थ हों, उनका उपदेश तब तक फलप्रसू नहीं हो सकता, जब तक वे शास्त्रीय तत्त्वों की उपपत्ति (क्यों और कैसे शास्त्रीय मत संगत है, इसका विचार) न कर सकेंगे। जो जिस शास्त्र के आचार्य हैं, वे चाहे कितना ही आचरणशील हों, वे तभी आचार्य कहलाएंगे, जब वे अपने मत की उपपत्ति कर सकेंगे। इसीलिये भारतवर्ष में कोई ब्रह्मवित्

---

१. द्र० लिंग० उत्तरार्द्ध २०।२० तथा पूर्वार्द्ध १०।१५–१६।

तब तक 'आचार्य' नहीं होता, तब तक वह श्रोत्रिय नहीं होता।[1] जो यह नहीं समझा सकता कि क्यों और कैसे चित्त में समाधिशक्ति आविर्भूत होगी, वह चाहे अपने लिये चित्तवृत्ति का निरोध ही कर ले, पर वह आचार्य नहीं कहलाएगा। उपपत्तिपूर्वक मनन कराने की शक्ति आचार्य में अवश्य होनी चाहिए और यही कारण है कि आचरण के साथ शास्त्र का ज्ञान होना और उसका प्रतिपादन करने की शक्ति होना आचार्य का एक आवश्यक लक्षण माना गया है।

(ग) आचार्य के लिये वायुपुराण में जो कहा गया है, वह भगवान् यास्क के द्वारा भी अनुमोदित है। निरुक्त में उन्होंने कहा है—"आचार्यः कस्मात्, आचारं ग्राहयति, आचिनोत्यर्थान् आचिनोति बुद्धिमिति वा" (१।२ खण्ड)। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि आचार्यत्व के तीन भाग होते हैं—(१) शास्त्रों के मनन की योग्यता; (२) शिष्य में ज्ञान को आहित करने की योग्यता; और (३) स्वयं आचारसम्पन्न होना, अपने मत को कार्यनिष्ठा प्राप्त कराना। भारत का यह मत कितना सुप्रतिष्ठित है, यह कहने की आवश्यकता नहीं है।

पूर्वोक्त विचार से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि आचार्य अपने शास्त्र के लिये 'आप्त' होते थे, और वस्तुतः आप्त पुरुष ही आचार्य-पदवाच्य होते हैं। पूर्वाचार्यों ने आचार्य को आप्त कहा भी है, अतः यहाँ आप्त और उनके उपदेश पर कुछ विचार अप्रासंगिक नहीं होगा। जिसे हम शब्द-प्रमाण (शब्द के बल पर अज्ञात अर्थ का यथार्थ ज्ञान जिसका फल है) कहते हैं, वह आप्त पुरुष का ही अनन्य साधारण कार्य है, जैसा कि आचार्य गौतम ने कहा है—"आप्तोपदेशः शब्दः" (न्यायसूत्र १।२।७), अर्थात् आप्त[2] का जो उपदेश है, वह शब्द है। इस शब्द प्रमाण से श्रोता के मन में यथार्थज्ञान उत्पन्न होता है।

---

१. भागवत में वेदज्ञ और ब्रह्मवित् गुरु के पास जाकर ज्ञान लेने की बात कही गई है। (११।३।२१)।

२. आप्त शब्द का अर्थ विशेष रूप से जानना चाहिए। वात्स्यायन ने आप्त को उपदेष्टा कहा है—"आप्तः खलु साक्षात्कृतधर्मा यथादृष्टस्य अर्थस्य चिख्यापयिषया प्रयुक्त उपदेष्टा" (न्यायभाष्य १।२।७)। पुनश्च आप्त की व्याख्या में उन्होंने कहा है—"साक्षात्-करणमर्थस्य आप्तिः, तया प्रवर्तते इत्याप्तः" (वहीं)। इसी प्रकार माठराचार्य ने भी कहा है—"आप्तिः साक्षादर्थप्राप्तिः यथार्थोपालम्भः, तया प्रवर्तते इत्याप्तः साक्षात् कृतधर्मा" (सांख्यकारिका ५)। इन वाक्यों से यह निर्गलित होता है कि विषय का साक्षात् ज्ञान आचार्य के लिये आवश्यक है और जब तक ऐसा ज्ञान न हो, तब तक उपदेश करने की शास्त्रीय योग्यता नहीं होती।

पर आप्त या आचार्य होने से ही कोई श्रोता में यथार्थ ज्ञान उत्पन्न नहीं करा सकता। कीदृश आप्त इस कार्य में समर्थ होता है, इसका विचार वाचस्पति मिश्र ने किया है। संक्षेप में उनका कथन है कि साक्षात्कृतधर्मा[1] होने पर ही कोई व्यक्ति आप्त नहीं हो जाता, बल्कि अकरुण और अलसता आदि के कारण विपरीत कहने से भी आप्तत्व की हानि होती है; तथा जब तक कोई उपदेश नहीं देता, तब तक वह आप्त नहीं कहलाता; इसके साथ आप्त में यह भी गुण होना चाहिए कि उनकी उपदेश-पद्धति दोषहीन और श्रोताओं की हृदयावर्जक हो।

इससे यह स्पष्ट होता है कि केवल विशुद्ध ज्ञानी ही आचार्य नहीं हो सकते; उनमें शिष्य के प्रति करुणा, उपदेश करने की दक्षता आदि गुणों की सत्ता भी होनी चाहिए।

(घ) आप्तोपदेश का अन्य नाम "आगम प्रमाण" है, अतः आचार्य-योग्यता के विचार में आगम-प्रमाण पर भी विचार प्रसक्त होता है। वेदव्यास ने कहा है—"आप्तेन दृष्टः अनुमितोऽवार्थः परत्र स्वबोधसंक्रान्तये शब्देन उपदिश्यते, शब्दात् तदर्थविषया वृत्तिः श्रोतुरागमः" (योगभाष्य १।७)। यहाँ आप्त के द्वारा देखा गया (अनुभव किया गया) और अनुमान किया गया—ऐसे दो ही अर्थ लिए गए हैं। जिस प्रकार प्रत्यक्ष से यथार्थ ज्ञान होता है, उसी प्रकार अनुमान (अन्दाज नहीं; अनुमान सदैव प्रमाण होता है) से भी यथार्थ ज्ञान होता है। जब दृष्ट या अनुमित अर्थ का ज्ञान श्रोता में आहित करने के लिये शब्द से आप्त पुरुष उपदेश करता है, तब वह शब्द आगम-प्रमाण होता है।

वाचस्पति मिश्र ने आप्त का अर्थ किया है—"तत्त्वदर्शनकारुण्यकरणा-पाटवादि-संबन्धश्च आप्तिः, तया प्रवर्तते इत्याप्तः" (तत्त्ववैशारदी)। यहाँ भी

---

१. अपने अभीष्ट पदार्थों का साक्षात्कार जिन्होंने किया है, वे ऋषि हैं और वे उनको उपदेश देते हैं, जो साक्षात्कारी नहीं हैं। ज्ञानक्षेत्र के इस मान्य तथ्य को आचार्य यास्क ने निम्नोक्त शब्दों में कहा है—"साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुः, ते अवरेभ्योऽसाक्षात्कृतधर्मभ्यः उपदेशेन मन्त्रान् सम्प्रादुः" (निरुक्त १।२० खण्ड)। आचार्य जब शब्द की सहायता से ज्ञान देते हैं, तब वह शब्द 'उपदेश' कहलाता है। जिस शब्द के पीछे वक्ता का अनुभव है, और वक्ता उपर्युक्त योग्यता के साथ शब्द-प्रयोग करता है, तब वह शब्द 'उपदेश'-पद-वाच्य होता है। साधारण वाक्य उपदेश नहीं होता। उपदेश तभी होगा, जब वह आप्तोच्चारित होगा।

आचार्य की तीन योग्यताओं की बात कही गई है—तत्त्व का दर्शन, शिष्य के प्रति करुणा और ज्ञानशक्ति की पटुता अर्थात् उपदेश करने की दक्षता। विज्ञान भिक्षु ने और भी स्पष्ट शब्दों में कहा है—"भ्रम-प्रमाद-विप्रलिप्सा-करणापाटवादि-दोषरहितेनेत्यर्थः" (योगवार्त्तिक)। विप्रलिप्सावंचना करने की इच्छा।

योगभाष्यकार ने 'स्वबोध संक्रान्ति के लिये' उपदेश की सार्थकता कही है। वाचस्पति ने इसकी व्याख्या में कहा है—"आप्तचित्तवर्तिज्ञान-सदृशस्य ज्ञानस्य श्रोतृचित्ते समुत्पादः" अर्थात् आप्त के चित्त में जो ज्ञान है, तत्सदृश ज्ञान शिष्य में हो जाय, यह उद्देश्य आप्तोपदेश का फल है।

(ङ) आचार्योपदेश रूप आगम कब सार्थक या व्यर्थ होता है, इसके लिये भाष्यकार ने कहा है–"यस्य अश्रद्धेयार्थो वक्ता न दृष्टानुमितार्थः स आगमः प्लवते" (योगभाष्य १।७) अर्थात् यदि वक्ता में श्रोता की श्रद्धा न हो, या आप्त का अर्थ (विषय) यदि दृष्ट या अनुमित न हो, तो वह आगम व्यर्थ होता है।

आचार्य कब अपने ज्ञान को शिष्य-हृदय में आहित करने में समर्थ होते हैं, इसके लिये योगसूत्र-भाष्य में एक मननीय युक्ति है। भाष्यकार ने कहा है कि ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठ व्यक्ति शिष्यहृदय में ज्ञान का आधान कर सकता है—"यस्य लाभाद् अप्रतिघान् गुणान् उत्कर्षयति, सिद्धश्च विनेयेषु ज्ञानमाधातु समर्थो भवति" (२।३८)। इसका तात्पर्य यह है कि ब्रह्मचर्य के उत्कर्ष से तार-सुतार–तारतार आदि आठ सिद्धियाँ[1] आप्त पुरुष को मिलती हैं, जिनके बल से आचार्य स्वज्ञान को शिष्य में आहित कर सकते हैं। आज वस्तुतः इस गुण के अभाव से ही विद्यार्थी ज्ञान को चित्त में आहित करने में असमर्थ होता है, (यहाँ ब्रह्मचर्य की व्याख्या अप्रयोजनीय है) और यदि अध्यापकों में अपेक्षित ब्रह्मचर्य हो, तो उनका उपदेश कदापि व्यर्थ नहीं होगा।

---

१. तार आदि इस विद्या के पारिभाषिक शब्द हैं, अतः उनकी व्याख्या की जा रही है—

तार—विद्या का शाब्दिक अध्ययन।

सुतार—शब्दजनित अर्थ ज्ञान।

तारतार—न्याय से अर्थ का परीक्षण, मनन।

रम्यक—गुरु-शिष्य-सब्रह्मचारी से संवाद।

सदामुदित—दीर्घकाल ज्ञान के अभ्यास के चित्तशुद्धि।

इसके बाद त्रिविधदुःख-हानि-जनित तीन प्रकार की सिद्धियाँ हैं। ज्ञान-लाभ के लिये सिद्धि का यह विचार अत्यावश्यक है, यह स्पष्ट है।

आचार्य या आप्त पुरुष के उपदेश में यह शक्ति रहती है जिससे वे यथाभूत अर्थ का प्रतिपादन कर सकते हैं। यह शक्ति अनाप्त पुरुषों में नहीं रहती। वेद-व्यास ने उचित ही कहा है—"यद्यपि हि तत्तच्छास्त्रानुमानाचार्योपदेशैरवगतमर्थ-तत्त्वं सद्भूतमेव भवति, एतेषां यथाभूतार्थ-प्रतिपादनसामर्थ्यात्....."(१।३५)। इसका कारण क्या है, यह पहले ही कहा गया है।

(च) योग की तरह सांख्य में भी आगम का बल स्वीकृत है। हम संक्षेप में सांख्य संमत आचार्य का प्रामाण्य और बल पर विचार कर रहे हैं।

सांख्यकारिका में 'आप्तश्रुति' का उल्लेख है (पंचमकारिका)। आप्त के लक्षण में माठर ने कहा है—"आप्ता रागद्वेषादिरहिता ब्रह्म-सनत्कुमारादयः" (चतुर्थकारिका)। पुनश्च पंचमकारिका की व्याख्या में उन्होंने इस विषय में (किसी पुराण या स्मृति ग्रन्थ से) प्राचीनकारिकाएँ उद्धृत की हैं, यथा—

आगमो ह्याप्तवचनम् आप्तं दोषक्षयाद् विदुः।
क्षीणदोषोऽनृतं वाक्यं न ब्रूयाद् हेत्वसंभवात्॥
स्वकर्मण्यभियुक्तो यः रागद्वेष - विवर्जितः।
पूजितस्तद्विधैर्नित्यमाप्तो ज्ञेयः स तादृशः॥

अर्थात् आप्त का वचन आगम है। निर्दोष व्यक्ति आप्त है। दोषहीन व्यक्ति अनृत (अयथाभूत) कथन नहीं करता। रागद्वेषहीन स्वकर्मनिष्ठ माननीय व्यक्ति आप्त है। 'दोषहीन', 'रागद्वेषशून्य'–ये दो विशेषण आप्त के लिये आवश्यक हैं। यहाँ दोष शब्द से 'उपदेश में अदक्षता' तथा 'ज्ञानशक्ति की अपटुता', ये दो भी लिए जा सकते हैं। जयमंगलाटीका में भी आप्त को क्षीण-दोष कहा गया है (४र्थ का०) और ५म कारिका की व्याख्या में पूर्वोक्त 'स्वकर्मण्यभि-युक्तः.....' वाला श्लोक उद्धृत किया गया है। विष्णुधर्मोत्तर० में भी आप्त के लक्षण में 'रागद्वेष-विनिर्मुक्त आप्तः' (३।५।१५) कहा गया है।

ज्ञान का श्रवण किससे करना चाहिए, इस विषय में उपनिषद् कहती है—"इति शुश्रुमो धीराणां ये नस्तद् व्याचचक्षिरे" (ईशोपनिषत्)। धीर व्यक्ति से ही श्रवण करना चाहिए; किसी अदान्त व्यक्ति में उपदेश करने की शक्ति नहीं होती, यह मत बार-बार श्रुति-स्मृति में प्रतिपादित हुआ है।

आचार्य या आप्त को शिष्ट और गुरु भी कहा जाता है। गुरु का अर्थ है–'गृणाति उपदिशति इति गुरुः' अर्थात् उपदेशक ही गुरु है। उपदेश का अर्थ पहले कहा गया है।

(छ) शिष्ट व्यक्ति के विना केवल विद्या का ज्ञाता कभी आचार्य नहीं हो सकता। इतना ही नहीं, पूर्वाचार्यों की धारणा थी कि शिष्टता के विना विद्या का अधिगम भी नहीं हो सकता। शास्त्रों में शिष्ट का सविशेष लक्षण दिया गया है, जिस पर संक्षेपतः विचार करना आवश्यक है।

बौधायन धर्मसूत्र में शिष्ट का मान्य लक्षण है—"शिष्टाः खलु विगतमत्सरा निरहंकाराः कुम्भीधान्याः अलोलुपाः, दम्भदर्पलोभमोहक्रोधविवर्जिताः"(१।१।१-५) यहाँ चित्त की दृष्टि से मात्सर्यहीन तथा दम्भविहीन कहा गया है, और व्यवहार क्षेत्र की दृष्टि से 'कुम्भीधान्य' कहा गया है। इसका तात्पर्य यह है कि शिष्ट उतना ही परिग्रह (विषय का अर्जन, रक्षण) करेंगे, जिससे उनका जीवनधारण सुखकर हो, विलासिता उनके जीवन में न हो। यह व्याख्या पूर्वाचार्यों की है।

शिष्ट का यह लक्षण आचार्य पतंजलि को भी अनुमत है। उन्होंने कहा है—"ये ब्राह्मणाः कुम्भीधान्या अलोलुपा अगुह्यमानकारणाः किंचिदन्तरेण कस्याश्चिद् विद्यायाः पारंगताः तत्र भवन्तः शिष्टाः" (महाभाष्य ६।३।१०९)। यहाँ भी विद्यापारगामित्व शिष्ट का लक्षण कहा गया है। वसिष्ठधर्मसूत्र में भी "शिष्टः पुनरकामात्मा" (१।३-६) कह कर लोभहीनता को शिष्ट का लक्षण बताया गया है। इस लक्षण का सम्प्रसारण निम्न श्लोक में मिलता है—"सत्यं तपस्तथा यज्ञो दया क्षान्तिरलोभता, ब्रह्मचर्यं दमोऽक्रोधो दानं शिष्टस्य लक्षणम्" (तु० मत्स्य० १४५।३८)। शिष्टों के इन लक्षणों से आचार्य का प्रकृत स्वरूप जाना जाता है।

(ज) ऐसे आचार्य के द्वारा ही विद्या का अध्यापन संभव होता है। वस्तुतः गुरु के विना ज्ञान का अधिगम होता ही नहीं—"न विना गुरुसंबन्धं ज्ञानस्याधिगमः स्मृतः" (शान्ति० ३२६।२२; अनुशासन० ९३।१२३)। यह वाक्य मिथ्या नहीं है और आज भी हम इसकी सत्यता की परीक्षा कर सकते हैं।

वेद में कहा गया है कि आचार्य पूर्वरूप और अन्तेवासी उत्तररूप है। विद्या सन्धि है और प्रवचन सन्धान है—"आचार्यः पूर्वरूपम्, अन्तेवास्युत्तररूपं, विद्या सन्धिः प्रवचनं सन्धानम्" अर्थात् जिस प्रकार एक काष्ठ को अन्य काष्ठ से रगड़ने से अग्नि उत्पन्न होती है, उसी प्रकार आचार्य और अन्तेवासी का जो मिलन है, उससे विद्यारूप अग्नि उत्पन्न होती है, जो अज्ञान रूप तमः का नाशक है। पुराण में इस मत की प्रतिध्वनि मिलती है—"आचार्योरणिराद्यः स्यादन्तेवास्युत्तरा रणिः, तत्सन्धानं प्रवचनं विद्यासन्धिः सुखावहः" (भागवत ११।१०।१२)।

(झ) महाभारतान्तर्गत सनत्सुजातीयपर्व में इस विषय में एक बहुत मार्मिक श्लोक है :—

आचार्ययोनिमिह ये प्रविश्य भूत्वा गर्भे ब्रह्मचर्यं चरन्ति ।
इहैव ते शास्त्रकारा भवन्ति विहाय देहं परमं यान्ति सत्यम् ॥

(३।५) अर्थात् जो शिक्षार्थी आचार्य के अन्तःकरण में प्रविष्ट हो जाते हैं, और ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं, वे ही बाद में शास्त्रकार होते हैं। आचार्य के चित्त में जो अपने चित्त को संस्थापित नहीं कर सकते, वे कभी भी शास्त्र का यथार्थ ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकते। ब्रह्मचर्य का अर्थ है विद्या के अर्जन के लिये शरीर-मन-प्राण को केन्द्रित करना। इसके विना डिग्रियाँ मिल सकती हैं, दुनिया में वाहवाही मिल सकती है, पर शास्त्र में न सम्यक् ज्ञान ही होता है और न विद्यार्थी बाद में 'शास्त्रकार' ही हो सकता है। यदि विद्यार्थी को पाकर शास्त्र स्फीत न हो (पतंजलि की भाषा में—शास्त्राणि प्रथन्ते—१।१।१ महाभाष्य) तो अध्ययन, अध्येता और अध्यापक एक प्रकार से निरर्थक ही होते हैं। शास्त्राध्ययन कर जीविका चलाना एक आवश्यक कर्तव्य और प्राथमिक अधिकार है, पर वह चरम नहीं है, भारतीय आचार्य का यह दृष्टिकोण मननीय है।

सनत्सुंजात में और भी कहा गया है—"शरीरमेतौ कुरुतः पिता माता च भारत, आचार्यतश्च यज्जन्म तत् सत्यं वै यथाऽमृतम्" (३।७) अर्थात् माता-पिता से तो केवल शरीर मिलता है और आचार्य से जो जन्म मिलता है, वही सत्य है, वही अमृत है। ज्ञान आचार्य से मिलता है और ज्ञान मनुष्यजीवन में दीपवत् है, अतः इस वचन में जो दृष्टि कही गई है, वह पूर्ण सत्य ही है।

आपस्तम्ब ने भी इस मत की प्रतिध्वनि की है—"स हि विद्यातस्तं जनयति, तच् श्रेष्ठं जन्म, शरीरमेव मातापितरौ जनयतः" (धर्मसूत्र) अर्थात् आचार्य विद्या से जिस शिष्य को जन्म देता है, वही श्रेष्ठ जन्म है, माता-पिता से तो शरीर ही मिलता है। यही कारण है कि गुरु के प्रति उपनिषत् में यह भक्तिविनम्र वाक्य मिलता है—'त्वं हि नः पिता, योऽस्माकमविद्यायाः परं पारं तारयसीति' (प्रश्नोपनिषत्)।

आचार्य के प्रति श्रद्धा से ही यथार्थ ज्ञान मिलता है, यह मत श्रुतिमूलक[1] अग्नि पु० श्लोक में भी मिलता है—"यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे यथा गुरौ, तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः" (३७२।३६)। अन्य श्रुति भी कहती हैं—"आचार्याद् हैव विद्या विदिता"—आचार्य से ही विद्या विदित होती है।

(ञ) आचार्य की इतनी महत्ता के कारण शिष्य के आचरण से संबन्धित कुछ

---

१. श्वेताश्वतर० ६।२२

अनुशासन भी पुराणस्मृत्यादि में मिलते हैं, जिनका दिग्दर्शन मात्र यहाँ कराया जा रहा है—

जो विद्यार्थी आचार्य को अवमानना करता है, वह अपने जीवन में सफल नहीं होता, यह एक सामान्य सिद्धान्त है—"अध्यापिता ये गुरून् नाद्रियन्ते विप्रा वाचा मनसा कर्मणा वा...." (निरुक्त २।१ पाद)। आचार्य के प्रति कभी द्रोह नहीं करना चाहिए, यह आपस्तम्ब ने भी कहा है—"तस्मै न द्रुह्येत् कदाचन, स हि विद्यातस्तं जनयति।" इस विषय में सनत्सुजातीय में एक बहुत सार बात कही गई है—

स आवृणोत्यमृतं संप्रयच्छन् तस्मै न द्रुह्येत् कृतमस्य जानन्।
गुरुं शिष्यो नित्यमभिवादयीत स्वाध्यायमिच्छेच्च सदाऽप्रमत्तः॥

(३।८) यहाँ हेतु के साथ कहा गया है कि आचार्य के प्रति कभी द्रोह नहीं करना चाहिए तथा नित्य उनका अभिवादन करना चाहिए।

इतिहास-पुराण में गुरूपस्थान के विषय में अनेक अनुशासन मिलते हैं, यहाँ जिनका उल्लेख अनावश्यक है। उपस्थान का सारभूत नियम गीता में स्पष्टतया कहा गया है—"तद् विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया" (४।३४)। यहाँ प्रणिपात, परिप्रश्न (श्रद्धा के साथ जिज्ञासा) और गुरु-सेवा—ये तीन आचरण कहे गए हैं, जो शिष्यों के द्वारा अवश्य पालनीय हैं। शिष्य के कर्तव्यों के विषय में महाभारत में अनेक विचार हैं (आदि० ९१ अ०; शान्ति० २४१ अ०; शान्ति० १९१ अ० में विशेष वर्णन है)।

'गुरुशुश्रूषया विद्या' यह मत इस देशमें चिरकाल से प्रतिष्ठित है (अनुशासन० ५७।१२; १३०।६; १३३।२)। यह शुश्रूषा कुछ कठोर अवश्य होती है, क्योंकि महाभारत में स्पष्टतः कहा गया है—"सुखार्थिनः कुतो विद्या नास्ति विद्यार्थिनः सुखम्" (उद्योग० ४०।६)। शुश्रूषा के अभाव से विद्या नहीं होती। इसके साथ यह भी ज्ञातव्य है कि आत्मश्लाघा (मिथ्या आत्मगौरव) और त्वरा होनेसे भी विद्या का अधिगम नहीं होता, जैसा उद्योग पर्व में स्पष्टतया कहा गया है—"अशुश्रूषा त्वरा श्लाघा विद्यायाः शत्रवः त्रयः" (४०।४), पर इन वाक्यों का यह अर्थ नहीं है कि आचार्य स्वेच्छा से विद्यार्थी को कष्ट देते थे। कहीं ऐसा विरल उदाहरण मिल भी जाय (द्रोण की तरह) तो वह कदाचित् घटित समझना चाहिए। पुराकाल में आचार्य केवल विद्यादान ही नहीं करते थे, बल्कि गार्हस्थ्याश्रम के लिये विद्यार्थी को योग्य भी बनाते थे (जो पद्धति आजकल नष्ट हो गई है), अतः उस समय आचार्य विद्यार्थी को श्रमादि कराकर कष्ट-सहिष्णु

बनाते थे, जो उचित ही था। यह निश्चित है कि प्राचीनकाल में गुरुकुलवास श्रमयुक्त था, आजकल की तरह विद्यार्थी अलग नहीं रह पाते थे। महाभारत में यह भी लिखा है कि आचार्य वेद अपने किसी भी अन्तेवासी को कर्म में नियुक्त नहीं करते थे, क्योंकि उहें गुरुकुल का कष्ट ज्ञात था—"दुःखाभिज्ञो हि गुरुकुलावासस्य शिष्यान् परिक्लेशेन योजयितुं नेयेष" आदि० ३।८१)। पर ऐसा उदाहरण विरल है; सामान्य नियम यही था कि विद्यार्थी गुरुकुल में जाकर श्रमपूर्वक विद्या का अध्ययन करे।

(ट) आचार्य जब इतने महान् होते थे, तब यह भी आवश्यक था कि वे उपयुक्त शिष्य को ही विद्यादान करें। वस्तुतः प्राचीन आचार्य शिष्य की बहिरंग और अन्तरंग परीक्षा कर ही विद्या देते थे, यह शास्त्रीय वाक्य और उदाहरण—इन दोनों से ही प्रमाणित होता है। शान्ति में कहा गया है—"नापरीक्षितचारित्रे विद्या देया कथंचन" (३२७।४६)। निरुक्त में यास्क ने भी कहा है—"उपसन्नाय तु निब्रूयात् यो वालं विज्ञातुस्यात् मेधाविने तपस्विने वा" (२।१ पाद)। परीक्षा करने की यह पद्धति अतिप्राचीनकाल में भी थी और हम जानते हैं कि तक्षशिला और नालन्दा में भी यह प्रथा किसी-न-किसी रूप में विद्यमान थी।

जैसे परीक्षणपूर्वक शिष्य का ग्रहण किया जाता था, वैसे यह भी शिष्टाचार था कि आचार्य अध्यापन में असंगत उत्तर न दें। दुर्गाचार्य ने एक श्लोक उद्धृत किया है—"यश्चान्यायेन निर्ब्रूयाद् यश्चान्यायेन पृच्छति, तयोरन्यतरो मृत्युं विद्वेषं वाऽधिगच्छति" (निरुक्तवृत्ति २।३ खण्ड)। हम यह भी देखते हैं कि प्राचीन आचार्य शब्दतः कह देते थे कि यदि मैं यथार्थ रूप से जानता हूँ तो कहूँगा, नहीं तो नहीं। इस व्यवहार का उदाहरण प्रश्नोपनिषत् में मिलता है, जहाँ पिप्पलाद ने कहा था—"यदि विज्ञास्यामः सर्वं ह वो वक्ष्याम इति" (यदि मैं जानता हूँ, तो कहूँगा)। शिष्य के सामने गुरु का यह कहना कितना महत्त्वपूर्ण और अनुकरणीय है, यह कहने की आवश्यकता नहीं।

(ठ) चूँकि आचार्य इतने महान् होते थे, अतः यह आवश्यक था कि शिष्य अध्ययन के बाद गुरुदक्षिणा दे। महाभारत में कहा गया है—"दक्षिणा परितोषो वै गुरुणां सद्भिरुच्यते" (अश्वमेध० ५६।२१) अर्थात् गुरु का परितोष ही दक्षिणा है और दक्षिणा देने के बाद ही समावर्तन होता था—"गुरवे दक्षिणां दत्वा समावर्तेद् यथाविधि" (शान्ति० २४१।२९; १९१।१२; २३३।३)। जीवन में कृतकृत्य होने के बाद शिष्य जो दक्षिणा अपने जीवनदायक गुरु को

देता था, उससे आजकल की 'फीस' की तुलना नहीं होती, क्योंकि १४।१५ वर्ष तक 'फीस' लेने के बाद भी आधुनिक गुरु विद्यार्थी को जीवन में प्रतिष्ठित कराने का दायित्व नहीं लेता। जब गुरु यह दायित्व नहीं ले सकता, तो वह गुरु नहीं होता, बल्कि सत्य बात तो यह है कि जैसे लोग भृत्य रखते हैं, उसी प्रकार अभिभावक पढ़ाने के लिये अध्यापक रखते हैं। दोनों दृष्टिकोणों में अर्थतः कुछ भी भेद नहीं है। जीवन में प्रतिष्ठित कराने का दायित्व जिस गुरु में नहीं है, वह भृत्य है (भृतिवेतन लेने के कारण) और यही कारण है कि आधुनिक विद्यार्थी अपने अध्यापक के प्रति पूर्णतः श्रद्धालु नहीं हो पाते। इसमें विद्यार्थी का पूर्ण दोष नहीं है, अतः वर्तमान शिक्षाविधि में ऐसा परिवर्तन करना चाहिए जिससे गुरुशिष्य-सम्बन्ध पूर्वकाल की तरह मर्यादित हो जाय।

: १० :

पुराणोक्त तीर्थ-विवेचन

पुराणों में पाँच मुख्य विषयों (सर्ग-प्रतिसर्ग-वंश-वंशानुचरित-मन्वन्तर) के अतिरिक्त अन्यान्य नवीन सामग्री भी विपुल मात्रा में मिलती है;[1] यथा—व्रत, पूजाविधि, तीर्थयात्रा, दान इत्यादि। यद्यपि ये विषय सामाजिक आवश्यकता की पूर्ति के लिये बाद में जोड़े गए हैं,[2] तथापि इनकी महत्ता कम नहीं है। भारतवर्ष के इतिहास, भूगोल, धर्म-दर्शन-सम्प्रदाय इत्यादि के ज्ञान के लिए इस नवीन सामग्री का ज्ञान अत्यावश्यक है। यहाँ तीर्थसम्बन्धी पौराणिक विवेचन का एक सार संकलित किया जा रहा है, जिससे अध्येता को पौराणिक दृष्टि का परिचय प्राप्त हो।

तीर्थलक्षण—स्कन्दपुराण में तीर्थ का मान्य लक्षण है—"सद्भिः समा-

---

१. पुराणेष्वेषु बहवो धर्मास्ते विनिरूपिताः ॥ ११ ॥
रागिणां च विरागाणां यतीनां ब्रह्मचारिणाम् ।
गृहस्थानां वनस्थानां स्त्रीशूद्राणां विशेषतः ॥ १२ ॥
ब्राह्मणक्षत्रियविशां ये च संकरजातयः ।
गङ्गाद्या या महानद्यो यज्ञव्रततपांसि च ॥ १३ ॥
अनेकविधदानानि यमैश्च नियमैः सह ।
योगधर्मा बहुविधाः सांख्या भागवतास्तथा ॥ १४ ॥
भक्तिमार्गा ज्ञानमार्गा वैराग्यानिलनीरुजाः ।
उपासनविधिश्चोक्तः कर्मसंशुद्धिचेतसाम् ॥ १५ ॥
ब्राह्मं शैवं वैष्णवं च सौरं शाक्तं तथाहतम् ।
षड् दर्शनानि चोक्तानि स्वभावनियतानि च ॥ १६ ॥
एतदन्यच्च विविधं पुराणेषु निरूपितम् ।
(वायु० १०४।११–१७)।

२. कालेनाग्रहणं दृष्ट्वा पुराणस्य ततो नृप ।
व्यासरूपमहं कृत्वा संहरामि युगे युगे ॥ (मत्स्य० ५३।८–९)।
इतिहास-पुराणानि भिद्यन्ते कालगौरवात् । (लिङ्ग० १।३९।६१)।

श्रितो भूमिभागस्तीर्थतयोच्यते" (कुमारिका० ११।११), अर्थात् सज्जनों के द्वारा समाश्रित स्थान तीर्थ है। यह कहना अनावश्यक है कि ये सज्जन भगवत्प्रेमी महात्मा ही हैं, जिनका कार्य ही है—हरिकथा के द्वारा अविद्या के प्रभाव को हटाना, जैसा भागवत में कहा गया है—"सन्त एवास्य छिन्दन्ति मनोव्यासङ्ग-मुक्तिभिः"। स्कन्द पुराण में अन्यत्र कहा गया है—

आश्रयाः सन्मुनीन्द्राणां देवानां च तथा प्रिये।
भूमिभागाः पर्वताः स्युः तत्कीर्त्यं तीर्थमित्युत॥

(नागर० १०५।१३), अर्थात् मुनि, देव आदि का आश्रयभूत जो भूमि-भाग और पर्वत हैं, वे तीर्थ हैं। वस्तुतः धर्मस्थान ही तीर्थ हैं—

"तीर्थशब्दो वरारोहे धर्मकृत्येषु वर्तते।
धर्मस्थानेषु सर्वेषु" (नागर० १०५।१२)।

कर्मभूमि होने के कारण ही किसी स्थान का नाम 'तीर्थ' होता है, यह भी ब्रह्मपुराण में कहा गया है—"कर्मभूमिर्यतः पुत्र तस्मात् तीर्थं तदुच्यते" (७७।२१)।

यज्ञपेक्षया तीर्थ महत्ता—तीर्थ का सार्थक्य क्या है, इस पर कई पुराणों में कहा गया है कि चूँकि दरिद्र यज्ञादिकार्य नहीं कर सकते और तीर्थ यज्ञफल को पूर्णतः दे सकता है, अतएव यज्ञादि के स्थान पर तीर्थगमन ही श्रेयस्कर है—

न ते शाक्या दरिद्रेण यज्ञाः प्राप्तुं, महीपते।
बहूपकरणा यज्ञा नानासंभारविस्तराः॥
यो दरिद्रैरपि विधिः शक्यो प्राप्तुं जनेश्वरः।
तुल्यो यज्ञफलैः पुण्यैः तं निबोध महीपते॥
ऋषीणां परमं गुह्यमिदं धर्मभृतां वर।
तीर्थाभिगमनं पुण्यं यज्ञैरपि विशिष्यते॥

(पद्म० आदि० ११।१४–१७; यह विचार मत्स्य० एवं वनपर्व में भी है)। यह दृष्टि वैदिक यज्ञ प्रधान धर्म के विपरिणाम को भी प्रकाशित कर रही है। अर्वाचीनकाल में तीर्थों ने यज्ञ का स्थान पूर्णतः ले लिया है, इसमें कोई संशय नहीं है।

तीर्थ-विस्तार—केवल भूमिभाग ही तीर्थ नहीं होते, बल्कि पर्वत, वन, नदी आदि भी तीर्थ कहलाते हैं, जैसे हिमालय, रैवतक, अमरकण्टक, वृन्दावन, चम्पकवन, दारुवन, गंगा, यमुना इत्यादि। पौराणिक तीर्थविवरण के अध्ययन से यह भी पता चलता है कि अधिकांश तीर्थ नदीतट में ही होते हैं। रेवा-

खण्ड में इस विषय में एक सूक्ति है—"तीर्थमुक्तावली पुण्या ग्रथिता तटरज्जुना मण्डनायेह साधूनाम्...." (२३०।१०८) अर्थात् नदीतटरूपरज्जु से जो तीर्थरूप मुक्तावली ग्रथित हुई है, वह साधुओं के मण्डन के लिये है।

तीर्थगत विषय—पुराणों में जो तीर्थविवरण मिलता है, उसमें किन विषयों का उल्लेख रहता है, इस पर पुराणकार ने स्वयं कहा है—

"क्षेत्रसंस्थाप्रमाणं हि तत्र स्थितिफलं च यत्।
तीर्थानि कानि सन्त्यत्र किमन्यद् वा रहस्यकम् ॥
किमधिष्ठातृकं क्षेत्रम्" (उत्कल० २।४९-५०)

अर्थात् तीर्थ का प्रमाण (आयतन), तीर्थ का फल, वहाँ के अवान्तर तीर्थ, अन्य विशिष्ट घटना तथा किस देव का वहाँ अधिष्ठान है—ये पाँच तीर्थ के विषय में ज्ञातव्य हैं।

तीर्थ नामकरण—तीर्थ का नाम किस रूप से दिया जाता था, इस विषय में पुराणों में निश्चित उल्लेख मिलता है। इस विषय में प्रधान नियम यह है कि जिसने जहाँ तप किया, उसके नाम के अनुसार उस तीर्थ का नाम पड़ता है ('येन यत्र तपस्तप्तं तस्य नाम्नातिविश्रुतः', नागर० १२।१३)। अधिकांश तीर्थों के नाम के लिये पुराणों में यही हेतु दिया गया है। कभी-कभी तीर्थ का नामान्तर भी मिलता है, जिसके हेतु के लिये नागर० १०६।२ द्रष्टव्य है।

तीर्थ का पुण्यजनकत्वः—चिरकाल से तीर्थ का परम पावन रूप इस देश में प्रसिद्ध है। मनः-शुद्धि के लिये तीर्थ की आवश्यकता है, ऐसा पुराणकारों ने माना है (केदार० ३१।३७-३८)। कुमारिका० में भी "तीर्थानां दर्शनं धन्यमवगाहस्ततोऽधिकः, माहात्म्यश्रवणं तस्मादित्येव मुनिरब्रवीत्" (२।१७) कहा गया है। इसी खण्ड में पुनः कहा गया है—"तीर्थानां दर्शनं श्रेयः स्पर्शनं स्नानमेव च, कीर्तनं स्मरणं चापि न स्यात् पुण्यं विना परम्" (५८।११-१२)। मुण्डन और उपवासादि के लिये भी तीर्थ की प्रशस्तता मानी गई है (स्कन्द० सेतु० ५२।१००-१०२; पद्म० पाताल० १९।२०-२२; इत्यादि)।

क्यों तीर्थ इतना पुण्यकर है, इस पर सयुक्तिक उपपत्ति भी पुराण में मिलती है। काशीखण्ड में इस विषय में कहा गया है—

भौमानामपि तीर्थानां पुण्यत्वे कारणं शृणु
यथा शरीरस्योद्देशाः केचिन्मेध्यतमाः स्मृताः
तथा पृथिव्यामुद्देशाः केचित् पुण्यतमाः स्मृताः।

प्रभावाद् अद्भुताद् भूमेः सलिलस्य च तेजसा
परिग्रहान्मुनीनां च तीर्थानां पुण्यता स्मृता ॥
(काशी० ६।४२–४४)

जिस प्रकार शरीर का स्थान विशेष मेध्य माना जाता है (पर पूरा शरीर नहीं), उसी प्रकार पृथिवी के स्थानविशेष को मेध्य माना जाता है। भूमि के प्रभाव, जल के तेजः या मुनियों के आवासस्थान होने के कारण ही तीर्थ का पुण्यदायकत्व माना जाता है।

तीर्थयात्री :—तीर्थों की इतनी पवित्रता के कारण तीर्थयात्री के गुणों पर भी विचार किया गया है। इस विषय में एक श्लोक बार-बार आता है—"यस्य हस्तौ च पादौ च मनश्चैव सुसंयतम्। 'विद्यातपश्च कीर्तिश्च सतीर्थफलमश्नुते" (प्रभास० २६।१५–१६; कुमारिका० २।६; ६०।२६; तथा अन्यान्य पुराण), अर्थात् जिसके मन, आदि शुद्ध हैं तथा जिसमें विद्या, तप और कीर्ति है, उसको तीर्थयात्रा का फल मिलता है। अन्यत्र भी कहा गया है–"तस्माद् भक्तियुतैर्नित्यं सर्वतीर्थसमागमः" (अरुणाचल० ७।७१)। तीर्थयात्री की योग्यता के विषय में पुराणों में अनेक वाक्य मिलते हैं, जिनके लिये निम्नस्थलों को देखना चाहिए–केदार० ३१।२९–३०; प्रभासक्षेत्र० ३।१२१; तथा निबन्ध-ग्रन्थस्थ तीर्थविचार।

तीर्थ को 'मेध्य' कहा गया है (त्रयाणामपि लोकानां तीर्थं मेध्यम्, ब्रह्म० ७०।२०), यह ज्ञातव्य है।

तीर्थगत सदाचार :—तीर्थयात्री की योग्यता के साथ-साथ 'तीर्थ में क्या त्याज्य है' 'तीर्थ का अपव्यवहार' आदि विषयों पर भी पुराणों में प्रभूत वाक्य मिलते हैं। पद्म पुराण में कहा गया है—"न तीर्थ पातकं कुर्यात् त्यजेत् तीर्थोपजीवनम् तीर्थे प्रतिग्रहस्त्याज्यः त्याज्यो धर्मस्य विक्रयः' (उत्तर० २४४।८३–८४)। यदि जीविका के रूप में तीर्थ का व्यवहार किया जाय, तो वह एक कुत्सित कर्म ही होगा, जैसा पद्मपुराण में कहा गया है–"अनभ्यासगता विद्या हतो बोधो विरोधकृत् जीवनार्थं हतं तीर्थम्" (आदि०२९।३१)। कहीं-कहीं अन्य दृष्टि से भी तीर्थदोष का उल्लेख मिलता है, जैसा स्कन्द० में कहा गया है—"तीर्थानि म्लेच्छसंस्पर्शाद् दूषितानि" (नागर० २७।९२)। तीर्थ को गुप्त रखने का उल्लेख भी पुराणों में मिलता है (प्रभासक्षेत्र० ३।१४२)। तीर्थोपजीविका के विषय में वायु० १०६।८३ द्रष्टव्य है।

तीर्थ की इस मान्यता के साथ पूर्वाचार्यों ने यह भी कहा है कि तीर्थ का उद्देश्य मूलतः मनः शुद्धि है और इस शुद्धि के प्रति आग्रह यदि न हो, तो

तीर्थसेवा व्यर्थ है। इस विषय में नारदपुराण की यह सूक्ति स्मर्तव्य है—

गङ्गादितीर्थेषु वसन्ति मत्स्या देवालये पक्षिगणाश्च नित्यम्।
भावोज्झितास्ते न फलं लभन्ते तीर्थाच्च देवायतनाच्च मुख्यात् ॥

अर्थात् तीर्थ के फललाभ के लिये भावशुद्धि की अत्यन्त अपेक्षा है, और इसके अभाव के कारण ही गंगादि तीर्थों में रहनेवाले मत्स्य आदि को पुण्य नहीं मिलता।

तीर्थ के प्रति श्रद्धाभाव के विना तीर्थ का फललाभ नहीं होता, यह भी पुराणों में बहुधा कहा गया है। एक श्लोक प्रसिद्ध है—"अश्रद्धधानाः पापात्मा नास्तिकोऽच्छिन्नसंशयः, हेतुनिष्ठश्च पञ्चैते न तीर्थ-फलभागिनः"(काशी० ६।५४)।

तीर्थवास से चित्तशुद्धि क्यों होती है, इसका विचार पुराणों में मिलता है, यथा—

तीर्थेषु लभ्यते साधू रामचन्द्र-परायणः।
तस्मात् तीर्थेषु गन्तव्यं नरैः संसारभीरुभिः।
पुण्योदकेषु सततं साधुश्रेणि-विराजिषु ॥

(पद्म० पाताल० १९।१६–१७) अर्थात् तीर्थों में चूँकि साधु-सन्त रहते हैं, अतः तीर्थ में जाना चाहिए।

तीर्थभेद—पुराणों में तीर्थों के कतिपय भेदों का उल्लेख मिलता है। स्कन्दपुराणान्तर्गत कुमारिका खण्ड में 'चरतीर्थ' और 'स्थावरतीर्थ' नाम के दो प्रकार के तीर्थ-भेदों का उल्लेख आया है। प्रवहनशील नदी आदि 'चरतीर्थ' हैं तथा पर्वत, देवायतन आदि 'स्थावरतीर्थ' (एक स्थान पर स्थित) कहे गए हैं (६०। २०-२२)। यहाँ यह भी कहा गया है कि चर तथा स्थावर तीर्थ में किस प्रकार से अपने को पवित्र करना चाहिए। कहा गया है—"चरे तु किन्तु संविश्य स्थावरे तु बहिःस्थितः" अर्थात् चरतीर्थ में प्रवेश कर और स्थावर तीर्थ में बाहर रहकर स्नान आदि करना चाहिए।

'अकृत' और 'कृत'रूप दो प्रकार के तीर्थों का उल्लेख भी है—"द्विप्रकारस्य तीर्थस्य कृतस्याकृतकस्य च" (प्रभास क्षेत्र० २६।३७)।

दैव, आर्ष, मानुष और आसुर नामक चार प्रकार के तीर्थों का उल्लेख ब्रह्मपुराण में आया है—

चतुर्विधानि तीर्थानि स्वर्गे मर्त्ये रसातले।
दैवानि मुनिशार्दूल आसुराण्या[1]रुषाणि च ॥

---

१. 'आरुषाणि' पाठ भ्रष्ट है; वस्तुतः यहाँ 'आर्षकाणि' पाठ उचित है, क्योंकि परवर्ती श्लोक में 'आर्ष' पाठ है।

मानुषाणि त्रिलोकेषु विख्यातानि सुरादिभिः ।
मानुषेभ्यश्च तीर्थेभ्य आर्षं तीर्थमनुत्तमम् ॥
आर्षेभ्यश्चैव तीर्थेभ्य आसुरं बहु पुण्यदम् ।
आसुरेभ्यस्तथा पुण्यं दैवं तत् सार्वकामिकम् ॥

(७०।१६–१८) । यहाँ दैव आदि चार प्रकार के तीर्थों का उत्कर्षापकर्ष भी कहा गया है । इसके बाद के श्लोकों में इन चार प्रकार के तीर्थों का लक्षण तथा तीर्थकारक देव, असुर आदि के नामों का उल्लेख भी किया गया है । तीर्थों के नामकरण पर विचार करने के लिये यह प्रसंग अवश्य विज्ञेय है ।

स्कन्दपुराण में भी तीर्थभेद पर कुछ विवरण मिलते हैं । यहाँ पाँच प्रकार के पुण्यस्थानों का निर्देश है : "श्मशानम् ऊषरं क्षेत्रं पीठं तु वनमेव च" (अवन्ती क्षेत्र० १।४१) । यहाँ इन नामों के कारण भी कहे गए हैं, यथा—

क्षीयते पातकं यत्र तेनेदं क्षेत्रमुच्यते
यस्मात् स्थानं च मातॄणां पीठं तेनैव कथ्यते ।
मृतः पुन र्न जायन्ते तेनेदमूषरं स्मृतम् ॥
(अवन्ती क्षेत्र० १।३०-३१) ।

श्मशान और वन का स्वरूप स्पष्ट है ।

स्कन्द में 'हंसतीर्थ' शब्द वासुदेवतीर्थ के लिए आया है (कुमारिका० ३७।३) ।

इस प्रसंग में यह भी विचारना चाहिए कि क्षेत्र और तीर्थ में कोई भेद था या नहीं । यद्यपि इस विषय में कुछ प्रमाण वाक्य नहीं मिलते, तथापि इन दोनों शब्दों के व्यवहार से कुछ भेदों का पता चल ही जाता है । उदाहरण के लिए पुराणों में गयातीर्थ का परिमाण दो क्रोश (वायु० १०५।२९; गरुड० १।८३।२) और गयाक्षेत्र का परिमाण पाँच क्रोश कहा गया है (वायु० १०५।२९; अग्नि० ११५।४२), जिससे पता चलता है कि क्षेत्र तीर्थ से बृहत् होता है ।

इसके साथ यह भी ज्ञातव्य है कि 'इस क्षेत्र में कितने तीर्थ हैं', ऐसे प्रश्न पुराणों में बहुधा मिलते हैं; इन प्रश्नों से भी यही सिद्ध होता है कि क्षेत्र तीर्थ से आयतन में बड़ा होता है, अर्थात् तीर्थ का मूलस्थान (जो अधिष्ठातृ-देवता का स्थान है) तो 'तीर्थ' कहलाता है, और बाद में उस स्थान की जब विस्तृति हो जाती है (अधिक लोगों के बस जाने के कारण या अन्य कारणों से) तब वह

पूरा स्थान 'क्षेत्र' कहलाता है। यह निर्णय अन्तिम नहीं है। इस पर अधिक विचार अपेक्षित है।[1]

प्रभासखण्ड में तीर्थों के गुह्य, अतिगुह्य आदि भेद भी किए गए हैं। यहाँ गुह्याष्टक, अतिगुह्य, गुह्यात् गुह्य, पवित्राष्टक, तत्त्वतीर्थ और अतत्त्वतीर्थ—इन नामों से इन भेदों का विवरण दिया गया है (प्रभासक्षेत्र० ८।७१–७९)। उसी प्रकार 'क्षेत्र-पीठ-गर्भगृह' का दिया गया भी दिया गया है (प्रभासक्षेत्र० ४।१२-२७)।

तीर्थ के अवयव—पुराणकारों ने यह भी कहा है कि सामान्यतः तीर्थ में कितने दर्शनीय पदार्थ रहते हैं। यह कहा गया है कि तीर्थ में 'वापी-कूप-तड़ाग-देवायतन-सरस्-सरित्-पल्वल'—ये सात रहते हैं (प्रभासक्षेत्र० ४।२८; इस प्रकरण के अन्यान्य श्लोक भी द्रष्टव्य हैं)। यह कहना अनावश्यक है कि प्रत्येक तीर्थ में कोई-न-कोई अधिष्ठाता लिंग (= देव) होता ही है (यानि कानि च तीर्थानि तानि लिङ्गानि—अवन्तीक्षेत्र० ७०।८४)।

तीर्थ के विषय में यह भी ज्ञातव्य है कि तीर्थ या क्षेत्र के केन्द्र में एक ऐसा विशिष्ट स्थान होता है, जो उस तीर्थ में सर्वाधिक पुण्यतम माना जाता है, और उसको 'तीर्थतम' कहा जाता है। इस विषय में स्कन्दपुराण के निम्नोक्त श्लोक द्रष्टव्य हैं—

वाराणस्यां यथा विद्वन् वर्तते मणिकर्णिका।
उज्जयिन्यां यथा विप्र महाकालनिकेतनम्॥
नैमिषे चक्रवापी तु यथा तीर्थतमा स्मृता।
अयोध्यायां तथा विप्र गोप्रताराभिधं महत्॥
(अयोध्या० ६।१४–१५)

अर्थात् वाराणसी, उज्जयिनी, नैमिष और अयोध्या तीर्थों में यथाक्रम मणिकर्णिका, महाकालनिकेतन, चक्रवापी तथा गोप्रतार 'तीर्थतम' हैं, अर्थात् अधिक महिमामय हैं। इन स्थानों के जो मुख्य अधिष्ठातृ-देवता हैं, उनका अधिष्ठान इन विशिष्ट स्थानों में हैं, यह प्रसिद्ध है।

---

१. क्षेत्र और तीर्थ का भेदपूर्वक निर्देश भी मिलता है, यथा—"नयामि सर्वतीर्थेषु क्षेत्रेषु च" (नागर० १३२।३३)।

तीर्थ का परिमाण—तीर्थविचार में तीर्थ के आयतन और आकार पर भी विचार आवश्यक है। प्रसिद्ध तीर्थ या क्षेत्र का आयतन कितना है, यह प्रायः पुराणकारों ने दिया है। इन वाक्यों का भौगोलिक मूल्य स्वीकरणीय है। उदाहरणार्थ काशी के आयतन के विषय में मत्स्यपुराण में कहा गया है—"द्वियोजनं तु तत् क्षेत्रं पूर्वपश्चिमतः स्मृतम्, अर्धयोजनविस्तीर्णं तत् क्षेत्रं दक्षिणोत्तरम्" (१८३।६१)। उसी प्रकार समन्तपञ्चक तीर्थ के परिमाण के विषय में कहा गया है—"समन्तपञ्चकं नाम धर्मस्थानमनुत्तमम्, आसमन्ताद् योजनानि पञ्च पञ्च च सर्वतः" (वामन० २२।१५–१६)।

कभी-कभी योजनादि शब्द से तीर्थ का आयतन न कहकर अवधि का उल्लेख किया जाता है। पृथूदकसरः के विषय में कहा गया है—

सरः प्रमाणं यत् प्रोक्तं तच्छृणुष्व द्विजोत्तमाः।
विश्वेश्वराद् हस्तिपुरं तथा कन्या जरद्गवी।
यावदोघवती प्रोक्ता तावत् सन्निहितं सरः।
(वामन० २२।५२–५३)।

उसी प्रकार कुरुक्षेत्रपरिमाण के विषय में कहा गया है—

तरन्तुकारन्तुकयो र्यदन्तरं यदन्तरं रामह्रदस्य पञ्चकात्।
एतत् कुरुक्षेत्रसमन्तपञ्चकं पितामहस्योत्तरवेदिरुच्यते॥
(वामन० २२।६०)

तीर्थसंख्या—तीर्थसंख्या से संबन्धित पौराणिक विवरण भी इस प्रसंग में आलोच्य हैं। तीर्थसंख्या के विषय में अनेक अर्थवादमूलक एवं तथ्यमूलक वाक्य पुराणों में मिलते हैं। तीर्थगणना में प्रायः कहा गया है कि तीर्थों की संख्या सार्धत्रिकोटि (३,५०,००,०००) है (नागर० १८९।१; अर्बुदखण्ड १।४; प्रभासक्षेत्र० २७२।७–८; द्वारका० २५।२४; इत्यादि)।

उसी प्रकार अन्यान्य संख्याओं का भी उल्लेख मिलता है, यथा—"षष्टितीर्थसहस्राणि षष्टिकोटयस्तथा पराः" (अग्नि० ११३।२), या "दशकोटिसहस्राणि तीर्थानां वै महीपते" (पद्म० आदि० ११।२०), या "दशतीर्थसहस्राणि षष्टिकोटयस्तथापराः" (मत्स्य० १०६।२३), या "दशतीर्थ–तीर्थानि कोटिसंख्यानि" (प्रभासक्षेत्र० ८।५२)। इसी दृष्टि से कभी-कभी तीर्थों की संख्या को असंख्य कहा गया है—

"एवं पुण्यानि स्थानानि असंख्यातानि भूतले,
मुनिभिः परिगीतानि पावनानि महीपते।" (नागर० १२।१४)।

तीर्थसंख्या-सूची-संबन्धी विवरण—इस विषय में यह विज्ञेय है कि पुराणकारों ने कहीं-कहीं स्पष्टतया कहा है कि अमुक गणना संक्षिप्त एवं निदर्शन-मात्र है। मत्स्यपुराण में पितृतीर्थों की एक बहुत बड़ी सूची देकर कहा गया है—"तीर्थानि यानि शस्तानि पितॄणां वल्लभानि च, एष तूद्देशतः प्रोक्तः तीर्थानां संग्रहो मया" (२२।७९)। अन्यत्र भी ऐसा उल्लेख मिलता है (मत्स्य० १३।५४)।

तीर्थसंबन्धी गणनात्मक निर्देश (तीर्थत्रय, नवारण्य इत्यादि) पुराणों में सर्वत्र मिलते हैं, पृथक् प्रकरण में यह विषय विवृत हुआ है।

तीर्थगणना में सबसे महत्त्वपूर्ण है—६८ तीर्थों की सूचियाँ। तीर्थों की तरह पीठों की गणना भी इसी प्रकार की गई है।[1] ६८ तीर्थ या पीठों का उल्लेख और सूची जहाँ-जहाँ मिलती है, उसकी एक अपूर्ण तालिका यहाँ दी जा रही है—

नागर०	१३२।२९
,,	२२४।१११
,,	१९९।३४
,,	१०५।२८–४० (६८ तीर्थों के नाम)
,,	१०५।२९–४० (यहाँ ६८ तीर्थनाम तथा देवताओं के नाम भी दिए गए हैं)।
,,	१०४।४०
,,	१०४।२१–२२
,,	१०३।२९
,,	६३।७०–७३
,,	१०६।५–२० (शिव के ६८ स्थाननाम)
प्रभासक्षेत्र०	१३३।११–२८ (यहाँ स्थानों के नाम तथा संबन्धित सूर्यलिंगों के नाम भी हैं)
पद्म०	२।९०।३४
मत्स्य०	१८१ अ० (इस अध्याय में ६८ शिवस्थानों का उल्लेख है)।

---

१. पीठ के विषय में दिनेशचन्द्र सरकारकृत 'The Sakta Pithas' ग्रन्थ द्रष्टव्य है। प्रसंगतः यह भी ज्ञातव्य है कि वरदराजकृत 'गीर्वाणपदमञ्जरी' में भी ६८ तीर्थों की एक सूची है।

लिंग० ९२।१३९

कूर्म० अ० ३५ से अ० ३७

इस प्रकार १०८ तीर्थों के विषय में भी उल्लेख मिलता है। यथा—

मत्स्य०—अ० १३

देवीभागवत०—७।३०।५५–८३

रेवा०—१९८।६४–९१

स्कन्द०—ब्रह्मा के १०८ स्थान (प्रभासक्षेत्र० १०५।७४–९७)।

गरुड़० १।८१ में एक तीर्थसूची है, जिसमें ९२ तीर्थों के नाम मिलते हैं। क्या ये नाम वस्तुतः १०८ हैं ?

स्कन्द० १।३।१५।६–८० में शिव के १२० स्थाननाम मिलते हैं, यह ज्ञातव्य है।

तीर्थसंबन्धी कुछ अवान्तर सूचियों का स्थाननिर्देश भी यहाँ किया जा रहा है। ऐसी सूचियाँ सभी पुराणों में स्थान-स्थान पर बिखरी पड़ी हुई हैं और यहाँ निदर्शनार्थ कुछ स्थल निर्दिष्ट किए जा रहे हैं—

१—नौ पुण्यनदियों के नाम (स्कन्द० सेतु० ३।१।३।६–७)।

२—शिवस्थान, विष्णुस्थान (स्कन्द० सेतु० ३।१।५२ अ०)।

३—नदियों की सामान्यसूची (स्कन्द० प्रभासक्षेत्र० २७१।१८–२०; स्कन्द० प्रभासक्षेत्र० ३१७।३९–४२; स्कन्द० प्रभासक्षेत्र० ३२१।१५–१६)।

४—तीर्थों की सामान्य सूची (स्कन्द० द्वारका० ४१।१७–२८; द्वारका० ४०।३८–४४; द्वारका० ४०।१४–१५; द्वारका० ३५।१६–२०)।

५—१८ तीर्थों की सूची (स्कन्द० कुमारिका० ११।४८–४९)।

६—कूर्म० ३१।४६–४८; अ० २२।३२–३५ में भी तीर्थों के नाम मिलते हैं।

७—पर्वतसूची—केदार० २७।१–४; केदार० ३०।३३–३५।

इस प्रकार की अनेक सूचियाँ पुराणों में यत्र-तत्र मिल जाती हैं, जिनका भौगोलिक मूल्य स्वीकार्य है।

तीर्थ स्थानों की पहचान की युक्तियाँ—तीर्थविवरण[1] के साथ

---

१. तीर्थविवरणात्मक ग्रन्थ संख्या में विपुल हैं। इस विषय में एक उपयोगी पर अप्रसिद्ध (अप्रकाशित) ग्रन्थ 'तीर्थ-प्रबन्ध' भी है, जो मध्वसंप्रदाय के

यह भी जानना आवश्यक है कि इन प्राचीन काल में तीर्थों की पहचान कैसे की जाती थी।

यह बात निर्विवाद है कि हमारे पूर्वाचार्यों को अपने देश का सुविशद भौगोलिक ज्ञान था। यह ज्ञान केवल पुस्तकस्थ ही नहीं था, बल्कि तीर्थ-सम्बन्धी प्रत्यक्ष ज्ञान एवं अन्यान्य आनुषंगिक कृत्यों के आधार पर प्रयोग-सिद्ध भी था। हमें यह देख कर आश्चर्य होता है कि कैसे पूर्व विद्वानों ने नर्मदा नदी की लम्बाई के विषय में इतनी यथार्थ बात कही थी कि "योजनानां शतं साग्रं श्रूयते सरिदुत्तमा" (मत्स्य० १८६।२४), जो आधुनिक पर्यवेक्षण से भी सिद्ध होता है (नर्मदा लम्बाई में ८०० मील है; १ योजन=८ मील)। इतना ही नहीं, प्रायः सभी स्थानों की स्थिति, अन्य स्थानों से उसकी दूरी, स्थान का परिमाण, स्थानों के निकटस्थ प्रसिद्ध स्थल, प्रसिद्ध स्थान के अन्तर्गत अन्य अवान्तर स्थान आदि-आदि अनेक विषयों का विवरण भी इतिहासपुराणोक्त भौगोलिक विवरणों में मिलता है। हमें यह जानकर विस्मय होता है कि पुराणों में पर्वतों की उच्चता के साथ भूगर्भस्थ पर्वत-परिमाण भी दिए गए हैं, जैसा मेरुपर्वत के विषय में कहा गया है—"प्रविष्टः षोडशाधस्ताद् द्वात्रिंशद् मूर्ध्नि-विस्तृतः' (विष्णु० २।२।८)। ऐसे स्थलों की जाँच कर उसकी सत्यता की परीक्षा होनी चाहिए।

यह ठीक है कि आज पुराणादि में वर्णित भौगोलिक विवरण की यथावत् जाँच करने में कई बाधाएँ उपस्थित हो जाती हैं। पहली बात तो यह है कि पुराणों का वैज्ञानिक संस्करण उपलब्ध नहीं है, अतः भौगोलिक स्थान सम्बन्धी निश्चित विचार करना बहुत कुछ दुरूह हो है।[1] दूसरी बात यह है कि हमें अनेक

वादिराज स्वामी के द्वारा प्रणीत है। स्वामी ने रजतपीठपुर से आरम्भ कर प्रदक्षिणापूर्वक भारतवर्ष के सब क्षेत्र–नदी–पर्वत–देवालय आदि में विचरण किया था और इस भ्रमणविवरण को ही उन्होंने 'तीर्थप्रबन्ध' नामक ग्रन्थ में लिपिबद्ध किया है। यह पद्य में रचित है। श्री विश्वपति तीर्थ ने इसकी एक टीका भी लिखी है (श्री तीर्थ पेजावरमठ के यति थे)।

१. इस विषय पर विद्वानों का ध्यान आकृष्ट हुआ है। डॉ० दिनेशचन्द्र सरकार ने विभिन्न पुराणपाठों का आश्रय कर नदी और जनपद नामों के निर्णय करने के लिए प्रशंसनीय चेष्टा की है। इस सम्बन्ध में Purana Bulletin (Vol. IV, No 1–2) में प्रकाशित 'The Geographical Text of the Puranas : A Further Critical Study शीर्षक लेख द्रष्टव्य है।

पौराणिक शब्दों के विवक्षित अर्थ भी ज्ञात नहीं हैं। प्रचलित कोषों में जो अर्थ दिखाए गए हैं, वे ही हमारे आश्रय हैं, और प्रायः पौराणिक पारिभाषिक अर्थों के उल्लेख इन कोषों में नहीं मिलते। हम आज निश्चित रूप से यह भी नहीं समझ पाते कि कौन-सा वर्णन अतिरञ्जित है या अर्थवाद-मूलक है। इतना होने पर भी यदि अनेक विद्वान् इस विषय पर यत्नपूर्वक कार्य करें तो पौराणिक विवरणों को बहुत दूर तक जाँचा जा सकता है।

इतिहासपुराण के प्राचीन व्याख्याकारों ने स्थान-स्थान पर भौगोलिक स्थानों की पहचान के लिए प्रयास किए हैं। उनके विचारों के अध्ययन से 'भौगोलिक स्थान-निर्णय' पर कुछ प्रकृष्ट प्रकाश पड़ता है। हम पूर्वाचार्यों के इन विचारों के आधार पर इस विषय में एक संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत कर रहे हैं।

प्रस्तुत विवरण मित्रमिश्रकृत 'तीर्थप्रकाश' ग्रन्थ पर आधारित है। उनके विचार उनके अपने नहीं हैं, बल्कि उनके पहले जितने निबन्धकार हो चुके हैं, उन आचार्यों के द्वारा कथित विचारों का सार इस ग्रन्थ में मिलता है। अन्यान्य आचार्यों के एतद्विषयक वाक्य विस्तारभय से छोड़ दिए गए हैं।

शिष्टव्यवहार के द्वारा स्थानों की पहचान—स्थानों की पहचान के लिये उन स्थानों के शिष्ट लोगों की स्मृति की सहायता लेनी चाहिये, यह पूर्वाचार्यों की बलिष्ठ मान्यता थी। वे जानते थे कि व्यक्तियों का परम्परागत साक्ष्य कभी-कभी साहित्यिक प्रमाण का अतिक्रमण भी कर सकता है। महाभारत में वेदव्यास ने अत्यन्त स्पष्ट रूप से कहा है—"प्रत्यक्षदर्शी लोकानां सर्वदर्शी भवेन्नरः" (उद्योग० ४३।६२)।

इस लोकप्रामाण्य के विषय में आचार्य मित्रमिश्र ने जो विचार व्यक्त किया है, भूगोलवेत्ताओं के लिए वह एक उपादेय सिद्धान्त है। उनका कथन इस प्रकार है—"तत्तत्-तीर्थभेदाः तत्तद्देशवासि-प्रसिद्धयावसेयाः। एवं संगत-योर्नद्योः एतद्भागे इयं नदी परभागे सा इत्यत्रापि तत्तद्-देशीय-शिष्ट-व्यवहार एव नियामकः। एवं तन्नदीच्युतप्रवाहस्य तन्नदीत्वान्यनदीत्वशङ्कायामपि। तथा मध्यवच्छिन्नस्रोतसि ग्रीष्मशुष्यद्वर्षा-प्रवृत्तस्रोतसि वा तन्नदीत्वे देशव्यवस्थैव शरणम्" (तीर्थप्रकाश पृ० १२)। अर्थात् तीर्थों के भेद के विषय में वहाँ के शिष्ट व्यवहार के अनुसार निर्णय करना चाहिए। नदीसंगमों के किस भाग में कौन नदी है, इसका निर्णय भी तत्स्थानीय लोकश्रुति के अनुसार करना चाहिए। नदी से विच्युत प्रवाह के विषय में भी लोक का प्रमाण मानना चाहिए। नदियों के विच्छिन्न होने के बाद नदीस्वरूप का निरूपण भी लोक-प्रसिद्धि के अनुसार कर्तव्य है।

इस सिद्धान्त के ऊपर कुछ भी टीका करना निरर्थक है। पृथ्वी नित्य परिवर्तनशील है और प्रत्येक परिणाम का यथावत् विवरण शास्त्रों में सर्वदा नहीं किया जाता, पर वहाँ के निवासी अपने परम्परागत व्यवहार से उन परिवर्तनों को यथावत् जानते रहते हैं, अतः उन लोगों के साक्ष्य के अनुसार ही भौगोलिक स्थानों की पहचान करनी चाहिए।

इतिहासपुराण में कहीं-कहीं इतने छोटे-छोटे स्थानों का भी उल्लेख किया गया है, जिनकी आज पहचान करना असम्भव नहीं तो अतिदुरूह अवश्य है। अयोध्या के अन्तर्गत अनेक छोटे-छोटे स्थानों का उल्लेख स्कन्दपुराणान्तर्गत अयोध्या-माहात्म्य में मिलता है, आज जिनकी पहचान करना असम्भव जान पड़ता है। इस कठिनता के समाधान के लिए मित्रमिश्र ने पुनः वही युक्ति दोहराई है, यथा—"अत्र तानि तानि तीर्थानि लोक-प्रसिद्धितः अवसेयानि" (तीर्थ प्रकाश, अयोध्याप्रकरण, पृ० ५०२)।

प्रत्यक्ष प्रमाण की बलवत्ता—मित्रमिश्र ने एक बहुत युक्तिसंगत बात कही है कि विशेष परिस्थिति में शास्त्र-प्रसिद्धि रहने पर भी प्रत्यक्ष-प्रमाण का अनुसरण कर भौगोलिक स्थानों का निर्णय करना चाहिये। उन्होंने अत्यन्त स्पष्ट भाषा में इस सत्य का सोदाहरण विवेचन किया है, यथा—"तदेव आहवनीयकुण्डं कलियुगे कृतम्। तदुत्तरभागे पुराणप्रसिद्धेऽपि सद्य आम्रवाटिकानिकटे कतिपयलोक प्रसिद्धे तिष्ठतीति सरांसि प्रत्यक्षसिद्धानि नापलपितुमर्हाणि" (पृ० ४६७)। यहाँ 'प्रत्यक्ष सिद्ध होने के कारण उसका अपलाप नहीं किया जा सकता' यह वाक्य विशेष रूप से दर्शनीय है। यह नियम भूगोल जैसे विषय में तो सर्वथा मानने योग्य है कि केवल शास्त्रवाक्यों के आधार पर निर्णय नहीं करना चाहिए। इस प्रसंग में वायुपुराण का ज्योतिष-संबन्धी यह श्लोक अवश्य ही द्रष्टव्य है—

आगमादनुमानाद् वा प्रत्यक्षादुपपत्तितः।
परीक्ष्य निपुणं भक्त्या श्रद्धातव्यं विपश्चिता॥ (५३।१२२)

अर्थात् शास्त्र, अनुमान, प्रत्यक्ष और उपपत्ति से अच्छी तरह से परीक्षा कर ही भक्ति पूर्वक श्रद्धा करनी चाहिये, न कि 'बाबा वाक्यं प्रमाणं' मान कर प्रत्यक्षसिद्ध विषय का अपलाप करना चाहिए।

स्थान की व्याप्ति का ज्ञान—पौराणिक विवरणों में कभी-कभी एक देशस्थ पदार्थों को स्थानान्तर से सम्बद्ध कर प्रयुक्त किया गया है जिससे यथार्थ स्थानों की पहचान में बड़ी कठिनाई उपस्थित हो जाती है। एक उदाहरण लीजिए—

वामनपुराण कहता है कि ब्रह्मसरस्, रामह्रद और कुरुक्षेत्र, ये तीन एक ही के नामान्तर हैं "आदौ ब्रह्मसरः पुण्यं ततो रामह्रदः स्मृतः, कुरुणा कृषिणा कृष्टं कुरुक्षेत्रं ततः स्मृतम्"। पर पुराणों में ब्रह्मसर को कुरुक्षेत्र से पृथक् कर भी निर्दिष्ट किया गया है और कुरुक्षेत्र के जिस स्थान में ब्रह्मसर है, उसका भी निर्देश किया गया है। ऐसी स्थिति में, ब्रह्मसरः का जो विशिष्ट स्थल कहा गया है, उसको हम अधिक प्रामाणिक मानते हैं और कुरुक्षेत्र के लिए ब्रह्मसर के प्रयोग को रूढ़ि या निरूढ़ लक्षणा समझते हैं। पुराणों में रामह्रद को कुरुक्षेत्र के नैर्ऋत कोण में और ब्रह्मसरः को ईशान कोण में कहा गया है, अतः पूर्वोक्त निर्णय ही उचित है, ऐसा जानना चाहिए। (सरः=सरोवर=सर)।

इस विषय में मिश्रजी का कहना इस प्रकार है—"ननु आदौ ब्रह्मसरः पुण्यं ततो रामह्रदः स्मृतः' (द्र० वामन० ३२।३४) इत्यनेन रामह्रद-ब्रह्मसरसौरैक्यं गम्यते, न च तत् संभवति, रामह्रदाणां नैर्ऋतकोणे वृत्तेरितिचेन्न–तत्र ब्रह्मसरो रामह्रदानां शक्त्या लक्षणया वा समस्तकुरुक्षेत्रपरत्वात्" (तीर्थप्र० पृ० ४६४)।

इस लाक्षणिक प्रयोग का अन्य उदाहरण भी है। मत्स्यपुराण कहता है (प्रयाग के विषय में)–"आ प्रयागं प्रतिष्ठानाद् यत् पुरो वासुकेर्ह्रदात्, एतत् प्रजापतेः क्षेत्रं त्रिषु लोकेषु विश्रुतम्"। यहाँ प्रतिष्ठान शब्द का लक्ष्यार्थ सामुद्रकूप है, ऐसा मिश्रजी ने कहा है (पृ० ३२७)।

एक स्थान का नामान्तर हो जाना—एक स्थान का कालान्तर में किसी हेतु से अन्य नाम भी हो जाता है। कुरुक्षेत्र के विषय में कहा है—"एवं ब्रह्मसर इति तस्यैव संज्ञान्तरम्। रामह्रद इति च त्रेतायाम्। 'रामह्रदः स्मृत' इत्युक्तेः। एवमुत्तरवेदि–संज्ञा, विनशनसंज्ञा, प्रयागसंज्ञा, सन्निहतसंज्ञा, सन्निहत्यादि संज्ञापि अस्यैव" (तीर्थप्र० पृ० ४६३)। इस प्रकार एक के अनेक नाम पड़ जाने पर उन नामों का निर्णय पूर्वापर शास्त्रसंगति देखकर ही करना चाहिए, अन्यथा प्रतिपद भ्रम की संभावना रहती है।

इस प्रकार का नामभेद क्यों हो जाता है, इसके लिए मिश्रजी ने युक्ति दी है कि जैसे बाल्यकाल में किसी व्यक्ति का एक नाम रहता है और बाद में राज्य-लाभादि होने पर उसका अन्य नाम हो जाता है, उसी प्रकार स्थान-नाम के विषय में भी समझना चाहिए—"वस्तुतः संज्ञाभेदमात्रमेतत्। प्रथमं ब्रह्मसरःसंज्ञा, ततः कुरुक्षेत्रसंज्ञेति। यथा बालस्य प्रथममेका संज्ञा, ततो राज्यादिलाभे विक्रमादित्यादिसंज्ञा" (तीर्थप्र० ४६३)।

कारणान्तर से नामान्तर हो जाता है, इसका एक विलक्षण उदाहरण 'कृत-शौच' तीर्थ के प्रसंग में दिया गया है, यथा—"कृतशौचस्य नामान्तरं वेदिकेति। यद्वा वेदिकाग्राही पक्षिह्रद आदौ स्थितः, पश्चाद् नरसिंहेन कृतं शौचमस्मिन् इति कृतशौचमिति" (तीर्थप्र० पृ० ४७३)।

जब दो नाम हो जाते हैं तब उनके निर्णय में जैसा 'लोकप्रमाण' माना जाता है, उसी प्रकार शास्त्रान्तर से मिलाकर भी उसका समाधान किया जा सकता है। मत्स्यपुराण के श्राद्ध योग्य तीर्थों के नामों में "तथा रुद्रसरः पुण्यम्" (२२।२३) कहा गया है। सन्निहितसरः भी श्राद्धयोग्य है, तथा अन्यत्र रुद्रह्रद का उल्लेख न होने के कारण लोग रुद्रह्रद को सन्निहितसरः हो समझते हैं, जो मिश्रजी के अनुसार ठीक ही है।

पर्याय-शब्दसंबद्ध विवाद—पर्यायवाची शब्द भी कभी-कभी अन्य नामों की तरह प्रसिद्ध हो जाते हैं। हेमाद्रि के तीर्थसंग्रह में एक वाक्य उद्धृत है "तत्तीर्थं सर्वदेवानां प्राचीनं प्रवरं स्मृतम्", यह 'प्राचीन तीर्थ' आदितीर्थ है, यह मिश्रजी का मत है। प्राचीन=आदि (तीर्थप्र० पृ० ४७८)।

सबसे विकट समस्या तब उत्पन्न होती है, जब विभिन्न पदार्थों के प्रायः समान शब्दानुपूर्वी वाले नाम एक के लिए हो प्रयुक्त होते हैं। इसका एक विशिष्ट उदाहरण दिया जाता है—

कुरुक्षेत्र में चार प्रसिद्ध सरः (तालाब) हैं—सन्निहित-सन्निहत्या-सन्निहत्य-सन्निहत। ये नाम चार पृथक्-पृथक् सरों के हैं और इन चारों के पृथक् परिमाण भी दिए गए हैं, पर ऐसा स्थल भी पुराणों में मिल जाता है जहाँ इन चारों के प्रयोग में विपर्यास हो गया है, अर्थात् एक सर का जो परिमाण है, वह दूसरे सर के लिये दिखाया गया है। ऐसे स्थलों पर हमें बाध्य हो कर यह मानना पड़ता है कि यहाँ 'एक शब्द के स्थान में अन्य का भी यथासंभव प्रयोग हो जाता है'। स्वयं मिश्रजी ने ही ऐसी बात कही है, यथा—"सन्निहत-सन्निहत्या-सान्निहत्य-सन्निहत-पदवाच्यानि चत्वारि सरांसि। सन्निहतादिपदानां चतुर्ष्वपि यथासंभवं क्वचित् क्वचित् प्रयोगो दृश्यते। अतएव 'सरः सन्निहितं प्रोक्तं समन्तादर्धयोजनम्' इति संगच्छते, अन्यथा अष्टक्रोशात्मकस्य सन्निहतस्य अर्धयोजनात्मकत्वानुपपत्तेः। तस्मादत्र सन्निहितशब्देन सरोऽन्तरमेवोक्तम्" (तीर्थ प्र० पृ० ४६६)। अन्तिम वाक्य से यह स्पष्ट सूचित होता है कि 'सन्निहित-सरः' कहने पर भी इससे पृथक् अन्य सरोवर का ग्रहण होगा।

हमने पहले कहा है कि प्रकरण के बल पर भी विवक्षित नाम का निर्णय

होता है, जिससे उसकी पहचान की जा सकती है। एक उदाहरण लीजिए। नरसिंह पुराण में कहा गया है—"गङ्गा-प्रयाग-गय-नैमिष पुष्कराणि, पुण्यानि यानि कुरुजाङ्गलयामुनानि, कालेन तीर्थसलिलानि पुनन्ति पापात्, पादोदकं भगवतस्तु पुनाति सद्यः", यहाँ जिस पादोदक तीर्थ का उल्लेख किया गया है, वह वस्तुतः 'चक्रतीर्थ' है, क्योंकि प्रकरण से इसका ही बोध होता है (तीर्थ प्रकाश पृ० ५५६)।

स्थानगत लिङ्ग का ज्ञान—महाभारत में कहा गया है—"येन लिङ्गेन यो देशो युक्तः सन्नुपलभ्यते, तेनैव नाम्ना तद्देशं वाच्यमाहुर्मनीषिणः" (आदिपर्व) अर्थात् जिस देश का जो प्रसिद्ध लिङ्ग (=चिह्न) है, उसके नाम से उस देश का नाम पड़ जाता है। भौगोलिक स्थानों के नामकरण में यह एक सार्वभौम नियम है और आज भी यह सत्य ही है। पुराणों में कहा गया है कि जम्बूद्वीप, प्लक्षद्वीप आदि जो प्रसिद्ध सात द्वीप हैं, उनका नामकरण जम्बू, प्लक्ष आदि वृक्षों के नाम के आधार पर ही हुआ था। पुराणश्लोकों में स्थानज्ञापक चिह्नों के उल्लेख भी यत्र-तत्र मिल जाते हैं। स्थानों की पहचान के लिए हम इस नियम का उपयोग कर सकते हैं। यदि इस प्रकार लिङ्गनाम से युक्त किसी स्थान का उल्लेख पुराणादि में मिलता है, तो उस प्रसिद्ध लिंग के बल पर ही उस स्थान को पहचान की जा सकती है।

पुराणों में वस्तुतः स्थानों के चिह्न भी कहीं-कहीं कहे गए हैं, जैसे वराह-पुराण में योगितीर्थ के विषय में 'तस्य चिह्नं प्रवक्ष्यामि सोमतीर्थस्य सुन्दरि" कह कर उसका चिह्न कहा गया है (अ० १३७।५१)। उसी प्रकार करवीरतीर्थ का चिह्न भी उक्त हुआ है (अ० १२६।५४)।

स्थान की पहचान के विशिष्ट उदाहरण—हमारे प्राचीन आचार्यों को यह स्थाननिर्णयविद्या इतनी प्रिय थी कि उन्होंने पुराणों में वर्णित अनेक स्थानों की पहचान आधुनिक स्थानों से भी की है। इस विषय के अनेक उदाहरण दिए जा सकते हैं; पर संक्षेपार्थ कुछ विशिष्ट उदाहरण दिए जा रहे हैं—

(१) पुराणों में प्रसिद्ध सोमतीर्थ का उल्लेख आता है। इस तीर्थ का यथार्थ स्थान अज्ञात है, पर मित्रमिश्र ने कहा है—"मुङ्गेरत्वेन प्रसिद्धग्राम एव सोमतीर्थमिति वदन्ति" (तीर्थप्र० पृ० ३७५)।

(२) पुराणों में कहा गया है "शिवनद्यां शिवकरं गयायां च जनार्दनम्"। इस शिवनदी की स्थिति के विषय में तीर्थप्रकाश में कहा गया है—"शिवनदी विहारनगरोपकण्ठेऽस्ति" (पृ० ४१३)।

(३) पुराणों में प्रद्युम्न तीर्थ का उल्लेख आता है, जिसका नामान्तर 'दक्षिणप्रयाग' है। यह कहाँ है, इस विषय में तीर्थप्रकाश कहता है "तच्च गौडदेशे सप्तग्रामे मोक्षवेणोति प्रसिद्धम्" (पृ० ३३५)।

(४) वेणीबाह्य नामक किसी तीर्थ के विषय में कहा गया है—"वेणीबाह्यं ततस्तीर्थं सरयूर्यत्र गङ्गया"। यह वेणीबाह्य तीर्थ कौन है इसके लिए मिश्रजी ने कहा है—"वेणीबाह्यं दर्दरीति प्रसिद्धम्" (तीर्थप्रकाश पृ० ३५७)।

इस प्रकार के अनेक निर्देश प्राचीन आचार्यों के ग्रन्थों में हैं, जिनका संकलन करने से तात्कालिक आचार्यों के स्वदेशपर्यवेक्षण का स्पष्ट प्रमाण मिल जाता है।

: ११ :

भौगोलिक पदार्थों की पौराणिक गणना

जिन पदार्थों के अनेक नियत अवान्तर भेद हैं, उनके उन भेदों को स्मृतिपथ में रखने के लिए मूलशब्द और उनके भेदों की संख्या को लेकर समासबद्ध शब्द बनाने की पद्धति प्रत्येक शास्त्र में दिखाई पड़ती है। केवल नामों को याद रखना कठिन होता है, पर उनकी प्रकृत संख्या यदि ज्ञात रहे तो भ्रम होने की सम्भावना नहीं रहती। इसीलिए स्वशास्त्रीय पदार्थों को कहने के बाद (जिनको 'उद्देश' कहा जाता है) उनकी गणना भी शास्त्रकारों ने की है, जैसे सांख्यसूत्र में २५ पदार्थों को कहकर 'इति पञ्चविंशतिर्गणः' (१।६१) कहा गया है। निघण्टु में भी यही पद्धति है। यहाँ २१ गो-नाम कहने के बाद 'इत्येकविंशतिर्गोनामानि' कहा गया है।

पौराणिक भौगोलिक विवरणों में भी हम यही पद्धति देखते हैं। किसी भी एक जातीय पदार्थ को कहने के बाद उसकी संख्या भी दी जाती है, और अन्यत्र उन्हीं संख्यायुक्त शब्दों का व्यवहार पुराणकार करते हैं। ऐसे स्थलों में अभीष्ट वर्ण्य पदार्थों को न कहने पर भी उनका बोध संकेतज्ञ श्रोता को हो जाता है। हम पुराणों में 'सप्तपुरी', 'वनत्रय', 'अष्टषष्टितीर्थ', 'पञ्चगङ्गा' आदि शब्द पाते हैं। इन शब्दों में जो सप्त, अष्ट आदि संख्याएँ हैं, उनसे कुछ निश्चित पदार्थों का ग्रहण करना पौराणिकों को इष्ट है। वनत्रय का अर्थ यह नहीं कि कोई भी तीन वन या सप्तपुरी का अर्थ यह नहीं कि कोई भी सात पुरियाँ, बल्कि निश्चित वन और पुरियों का ही ग्रहण इन शब्दों से होता है।

यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि कभी-कभी कालभेद या सम्प्रदायभेद आदि से इन सूचियों में कुछ-न-कुछ परिवर्तन हुए हैं, अन्यथा एक ही गणना में विभिन्न नाम न होते, जैसे 'पञ्चगङ्गा' की कई प्रकार की सूचियाँ मिलती हैं, पर प्रत्येक सूची निश्चित है। हम 'पञ्चगङ्गा' की दो सूचियों में पठित नामों का व्यत्यास कर एक तृतीय 'पञ्चगङ्गा' की सूची नहीं बना सकते। सूचियों की इस संघबद्धता के कारण ही इन सूचियों का अविपर्यस्त ज्ञान आवश्यक हो जाता है। पुराणों में कहीं-कहीं गणनात्मक निर्देश ही दिए गए[1] हैं जो इन गणनाओं की महत्ता के ज्ञापक हैं।

---

१. संख्याघटित उल्लेख पुराणों में प्रायः मिलते हैं, यथा—
'सप्त पुर्यस्त्रयो ग्रामा नवारण्या नवोपराः।
चतुर्दशानि गुह्यानि मुक्तिद्वाराणि भूतले॥' (अवन्तीक्षेत्र० ५४।१३)।

चूँकि इन सूचियों के विवक्षित तात्पर्य के ज्ञान के विना पुराणों की दृष्टि अज्ञात रह जाती है, इसलिए यहाँ कुछ ऐसी सूचियों का तात्पर्य विवृत किया जा रहा है। हमने यहाँ ऐतिहासिक-भौगोलिक दृष्टियों से विचार नहीं किया है; बल्कि जहाँ जो सामग्री मिली है, उसका संकलन-मात्र प्रस्तुत कर दिया है।

'एक' पदघटित गणना नहीं हो सकती। एकाम्रक आदि शब्दों में कोई गणना नहीं हैं।

'द्वि' संख्या-घटित सूची पुराणों में प्रायः नहीं मिलती। 'द्वियमुनम्' शब्द व्याकरण ग्रन्थ में आता है (काशिका २।१।२०), पर दो यमुनाएँ कौन-कौन-सी हैं, यह पता नहीं। कालिन्दी और यमुना में यदि कुछ स्थानपरिच्छिन्न भेद कर ये दो शब्द बनाए गए हों तो असम्भव नहीं (तुलनीय पद्म० आदि० २९।४६-४७), यद्यपि अभी इस अनुमान को सिद्ध करने के लिए प्रमाण नहीं मिले हैं।

'त्रि'-संख्या-घटित गणना पुराणों में बहुधा मिलती है, जैसा निम्नोक्त उदाहरणों से सिद्ध होगा—

महानदीत्रय—गंगा, नर्मदा, सरस्वती (स्कन्द० नागर० १८९।२२)।

पुरीत्रय—वाराणसी, द्वारका, अवन्ती (स्कन्द० नागर० २८९।१४-१५)।

अरण्यत्रय—पुष्करारण्य, नैमिषारण्य, धर्मारण्य (स्कन्द० नागर० १८९।१३)।

क्षेत्रत्रय—कुरुक्षेत्र, हाटकेश्वर, प्रभास (स्कन्द० नागर० १८९ ९-१०)।

पर्वतत्रय—श्रीपर्वत, अर्बुद पर्वत, रैवत पर्वत (नागर० १८९।२०-२१)।

तीर्थत्रय—अग्नितीर्थ, शुक्लतीर्थ, पितृतीर्थ (नागर० १८९।१९)।

त्रिगङ्गा—इसका उल्लेख मात्र मिलता है (वन० ८४।२९)। 'त्रिवेणी'[1] शब्द से गण्डकी-देविका-ब्रह्मपुत्र-संगम लिया गया है (वराह० १४४।८३)।

ग्रामत्रय—इस विषय में कहा गया है "शालग्रामशिलायोगः शम्भलं हरिमन्दिरम्, नन्दिग्रामस्त्रयो ग्रामाः", अर्थात् शालग्राम–शम्भलग्राम–नन्दिग्राम ही तीन ग्राम हैं।

वनत्रय—वृन्दावन, खण्डववन, द्वैतवन (स्कन्द० नागर० १८९।१६)।

---

१. अन्य एक त्रिवेणी भी है, जो ताम्रा, अरुणा और कोशी (वराहक्षेत्र के पास) का संगम है। प्रयागस्थ त्रिवेणी की प्रसिद्धि अप्राचीन है।

'चतुः'-संख्या सम्बन्धी गणना पुराणों में स्वल्प मिलती है। भुवनकोष में 'चतुर्द्वीप' शब्द आता है, जिसका अर्थ है—जम्बूद्वीप के अन्तर्गत चार भद्राश्व आदि महाद्वीप (द्र० वायु० ४८।४३)। 'चतुर्द्वीपवती पृथिवी' का यही अर्थ न्यायसंगत है।[1]

तीर्थचतुष्टय—इसमें कूपिका-शंखतीर्थ-विश्वामित्र तीर्थ-बालमण्डलनस्थ शक्र-तीर्थ की गणना है (स्कन्द० नागर० १८९।४४-५०)।

चतुर्गङ्ग—इसका विवक्षित अर्थ ज्ञातव्य है। सम्भवतः भुवनकोशान्तर्गत चक्षुः-सीता-अलकानन्दा-भद्रा रूप चार नदियाँ इस शब्द के द्वारा गृहीत होती हैं।

'पञ्च' संख्या से सम्बन्धित गणना पुराणों में बहुत मिलती है। निम्नोक्त उदाहरणों को देखिए—

पञ्चगङ्गा—इसकी भिन्न-भिन्न गणनाएँ मिलती हैं। एक मत यह है—"कावेरी तुङ्गभद्राच कृष्णवेणा च गौतमी, भागीरथीति विख्याता पञ्चगङ्गा प्रकीर्तिता" (काशी० २५।२६ की रामानन्दकृत टीका में उद्धृत)। अन्य सूचो में ये नाम हैं—"भागीरथी, गोदावरी, कृष्णा, पिनाकिनी और कावेरी"। द्रोणपर्व में भी 'पञ्चगङ्गा' शब्द आया है (५४।२३)। अन्य गणना भी है, यथा—भागीरथी-अलकनन्दा-मन्दाकिनी-जाह्नवी-विष्णुगङ्गा। काशीस्थ 'पञ्चगङ्गा' भी प्रसिद्ध है। उनके नाम हैं—किरणा, धूतपापा, सरस्वती, गंगा और यमुना (काशी० ५९।११५-११६)।

पञ्चनद—इसकी गणना इस प्रकार है—"लौहित्यो मणिमांश्चैव स्वर्ण-बिन्दुरकल्कः, ऐरावतश्च पञ्चैते नदाः परमपावनाः" (नारदीय पुराण)। अन्य गणना तो प्रसिद्ध है—शतद्रु—विपाशा—इरावती—चन्द्रभागा—वितस्ता।

पञ्चसरस्वती—इसका उल्लेख स्कन्दपुराण में है (प्रभासक्षेत्र० २९।५); पर इनके नाम ज्ञात नहीं।

'पञ्चायतन'—पौराणिक साहित्य में प्रसिद्ध है। काशी के पाँच अवान्तर तीर्थों के लिए 'पञ्चायतन' शब्द आया है (द्र० मत्स्य० का काशी माहात्म्य)। नर्मदास्थ अन्य पांच आयतनों के लिए भी 'पंचायतन' शब्द आया है (मत्स्य० १७१।५-६)।

---

१. कुछ गवेषक चतुर्द्वीप का अर्थ यह समझते हैं कि जैसे सप्तद्वीप एक विभाग है, उसी प्रकार चतुर्द्वीप भी पूर्ण पृथिवी का एक चतुर्था विभाग है। उपक्रम-उपसंहार-न्याय से यह मत असमीचीन ज्ञात होता है।

'पञ्चतीर्थ' का प्रयोग काञ्ची के अवान्तर तीर्थों के लिए आया है (ब्रह्माण्ड० ४।४०।५७-६१)।[1] पञ्चाप्सरस् तीर्थ भी पाँच अवान्तर तीर्थों को समष्टि है। तथा–अगस्त्यतीर्थ, सौभद्र, पौलोम, कारन्धम तथा भारद्वाज (आदि० २१५।३-४),

'पञ्च प्रयाग'––हिमालयक्षेत्रस्थ पंचप्रयाग बहुत प्रसिद्ध है। इसमें पाँच प्रयागों को गणना है, यथा––देव प्रयाग–कर्ण प्रयाग–रुद्र प्रयाग–नन्द प्रयाग–विष्णु प्रयाग।

'पञ्चवदरी'––इनके नाम हैं— बदरीनाथ–वृद्ध वदरी–भविष्य वदरी–पाण्डुकेश्वर–आदि वदरी। ये सब हिमालयस्थ स्थान हैं। पञ्चप्रयाग की तरह **पञ्चकेदार** भी है। पाँच केदारों के नाम हैं—केदारनाथ–तुंग नाथ–रुद्रनाथ–मध्यमेश्वर–कल्पेश्वर।

राजतरंगिणी में **'पञ्चगौड़'** का एक भौगोलिक विभाजन मिलता है (ब्राह्मण जाति सम्बन्धी विभाग को छोड़कर)। यह प्राचीन अंग देश के ५ भाग हैं, यथा—पुण्ड्रवर्धन–राढ–मगध–तीरभुक्ति–वारेन्द्र (भाग १, पृ० १६३)। **पञ्चवेदी** भी प्रसिद्ध है। इसमें गया (पूर्वदिक्) विरज (दक्षिणदिक्), पुष्कर (पश्चिम-दिक्), समन्तपंचक (उत्तरदिक्) तथा प्रयाग (मध्यदेश)––इन पाँच वेदियों का ग्रहण होता है।

'षट्' संख्या से सम्बन्धित गणना पुराणों में कदाचित् ही मिलती है। महा-परिनिब्बान सुत्त में षट्पुरी (छह प्रसिद्ध पुरियों) का उल्लेख आया है, जिसमें राजगृह, श्रावस्ती, साकेत, कौशाम्बी, काशी और चम्पा की गणना की गई है (११।९९)।

'सप्त' संख्या से सम्बन्धित गणना पुराणों में अनेक स्थानों में मिलती है; यहाँ कुछ ही उदाहरण दिए जा रहे हैं।

सप्तपुरी—इस विषय में एक प्रसिद्ध श्लोक काशीखण्ड में मिलता है—"काशी काञ्ची च मायाख्या त्वयोध्या द्वारवत्यपि, मथुरावन्तिका चैताः सप्त पुर्योऽत्र मोक्षदाः" (६।६८)।

सप्तगङ्गा—स्कन्दपुराण में इसकी गणना इस प्रकार मिलती है—जाह्नवी, वृद्धगङ्गा, कालिन्दी, सरस्वती, कावेरी, नर्मदा और वेणी (वैशाख मास० ४।१५)। नीलमतपुराण में अन्य प्रकार की गणना है––'भागीरथी-पावनी-ह्लादिनी-ह्लादिनी-सीता-सिन्धु-वंक्षु' (७२० श्लो०)। वनपर्व में, गंगा-कावेरी-

---

१. पाँच विभिन्न कुण्डों के लिए भी 'पञ्चतीर्थ' शब्द आया है। ये हैं––अमृत-कुण्ड, तप्तकुण्ड, सीताकुण्ड, रामकुण्ड और सूर्यकुण्ड।

गोदावरी-ताम्रपर्णी-सिन्धु-सरयू-नर्मदा' की गणना है (८४।२९)। यह गणना शिवपुराण में भी है (२।१३ अध्याय)। सप्तगङ्गनाम पद्मपुराण में द्रष्टव्य है (आदि० २८।२९) ।

सप्तनद—इसकी एकाधिक गणनाएँ मिलती हैं। एक मत यह है—'शोणो नैरञ्जनो घोणो घर्घरोऽथ मरीचकः, मणिपुष्पो महावर्तो नदाः' (हेमाद्रिधृत कालिका पुराण वाक्य)। दूसरा मत देवल का है, यथा—"शोण–सिन्धु–हिरण्याक्ष–कोक–लोहित–घर्घराः, शतद्रूश्च नदाः सप्त पावनाः ब्रह्मणः सुताः"।

सप्तगोदावर—व्याकरण के उदाहरण में 'सप्तगोदावरम्' शब्द आता है (काशिका २।१।२०)। ये सात गोदावरी के सात मुख हैं (राजतरंगिणी भाग २, पृ० २७१, स्टीन संस्क० टिप्पणी द्र०)।

सप्तकोंकण—इसका उल्लेख पुराण में नहीं मिलता। इसमें केरल–तुलु–गोवराष्ट्र–कोंकण–करहाटक–वरालाट्ट–बर्बर की गणना होती है (राजतरंगिणी भाग १, पृ० १३६ स्टीन संस्क०)।

सप्तकौशिकी—यह नेपालस्थ सप्त कोशी-नदियों के लिए प्रसिद्ध है। इनके नाम ये हैं–मिलञ्चि, सोनकोशी, तम्बकोशी, निखुकोशी, दूधकोसी, अरुणा और तमोर। इसमें तमोर ताम्रा नदी है। पुराणों में इसका उल्लेख नहीं मिलता।

सप्तद्वीप[1]—इनके नाम हैं—जम्बू, प्लक्ष, शाल्मलि, कुश, क्रौञ्च, शाक और पुष्कर। आज इन द्वीपों की पहचान अत्यन्त कठिन है, यद्यपि श्री नन्दलाल दे महोदय ने स्वकृत भौगोलिक कोश में इनको पहचान के लिए चेष्टा की है।

सप्तसारस्वत—वामनपुराण में इन सात सरस्वतियों के नाम तथा वे कहाँ प्रवाहित होती हैं, इसका उल्लेख है (३७।१७।१८)।

सप्तसिन्धु—इसमें शतद्रू आदि पाँच नदियाँ, सिन्धु तथा सरस्वती की गणना की जाती है।

---

१. मत्स्यपुराण में (१२३।१, १२३।१२) गोमेद शब्द मिलता है। यह पाठ भी पर्याप्त प्राचीन और समूल है, क्योंकि योगभाष्य (३।२६) में सप्त-द्वीपनामगणना में गोमेद शब्द है (यद्यपि कुछ संस्करणों में पुष्कर और मगध शब्द मुद्रित हुए हैं)। भास्कराचार्य ने गोलाध्याय में गोमेदपाठ ही माना है, जिससे इस पाठ की प्रसिद्धि अनुमित होती है। सभापर्व की ज्ञान-दीपिका टीका में एक द्वीपगणनात्मक श्लोक है, जिसमें गोमेध पाठ है (पृ० ११)। समराङ्गणसूत्रधार में भी गोमेध शब्द आया है (५।७३)। स्कन्द के कुमारिकाखण्ड में भी गोमेदद्वीप नाम दृष्ट हुआ है (३७।७६)।

'अष्ट' संख्या से सम्बन्धित उल्लेख अल्प हैं। एक उदाहरण दिया जा रहा है—'तीर्थाष्टक' का उल्लेख स्कन्द पुराण में आया है। इसमें भैरव–केदार–पुष्कर–कुरजांगल-वाराणासी–कुरुक्षेत्र–महाकाल–नैमिष–इन आठ तीर्थों की गणना है (प्रभासक्षेत्र० ८८।२२)।

'नव' संख्या से सम्बन्धित उल्लेख भी अधिक नहीं मिलते। कुछ उदाहरण लीजिए—

नवारण्य—देवीपुराण में इसकी गणना है—"सैन्धवं दण्डकारण्यं नैमिषं कुरुजाङ्गलम्, उत्पलावर्तकारण्यं जम्बूमार्गं च पुष्करम्, हिमवान् सह्यकोऽरण्यमित्येतत् परिकीर्तितम्" ("तीर्थप्रकाश पृ० ११८ में उद्धृत; काशी खण्ड २५।३७ टीका भी द्रष्टव्य है)।

नवोषर—ऊषर- मृताः पुनर्न जायन्ते तेनेदमूषरं स्मृतम्—(अवन्ती क्षेत्र० १।३१)। इस विषय में तीर्थप्रकाश में उद्धृत कारिका यथा—

रेणुका शूकरः काशी कालो कालंवटेश्वरौ।
कालञ्जरो महाकाल ऊषरा नव कीर्तिताः॥ (पृ० ११८)।

यहाँ 'काली' से दो स्थान ग्रहणीय हैं, जैसा तीर्थप्रकाश में स्पष्टतः कहा गया है—"कालीशब्देन कालिकालय-कालिकाशिखरौ उच्येते" (पृ० ११८; तथा काशी खण्ड २५।३८ टीका भी द्रष्टव्य)।

पश्चिम बंगाल में जो **'नवद्वीप'** नामक स्थान है, वह नौ द्वीपों की समष्टि है, ऐसा माना जाता है। विशेष जानकारी के लिए नरहरिदास-कृत 'नवद्वीपपरिक्रमा' द्रष्टव्य है।

'नवभेद'—भारत के समुद्रान्तरित नौ द्वीपों के लिये **'नवभेद'** शब्द मत्स्यादि-पुराणों में आया है (भारतस्यास्य वर्षस्य नवभेदान् निबोध मे—मार्क० ५७।५)। पुराणों में इन द्वीपों के नाम भी दिए गए हैं।

'दश' संख्यात्मक उल्लेख नहीं मिलते हैं। **दशाश्वमेध, दशकन्यातीर्थ** आदि नामों में अनेक अवान्तर तीर्थों की गणना नहीं है। यह ज्ञातव्य है।

अब हम दश से अधिक संख्याओं के संबन्धित सामग्री का संकलन कर रहे हैं यह संकलन निदर्शनार्थ है—

द्वादश-संख्या-घटित उदाहरण बहुत ही कम मिलते हैं। स्कन्दपुराणान्तर्गत अवन्तीक्षेत्र माहात्म्य में प्रसिद्ध द्वादशवन की एक सूची है (१।३३-३४) इस सूची में ये नाम हैं—महाकाल, अविमुक्त, एकाम्रक, भद्रकाल, करवीरवन, कोलागिरि, काशी, प्रयाग, अमरेश्वर, भरथ, केदार और रुद्रमहालय।

'त्रयोदश' संख्यावाली कोई सूची नहीं मिलती। 'त्रयोदशद्वीप' का उल्लेख महाभारत में आया है। वहाँ कहा गया है—'त्रयोदश समुद्रस्य द्वीपान् अश्नन् पुरूरवाः, तुतोष नैव लोकानां लोभादिति हि नः श्रुतम्'। ये १३ द्वीप कौन थे, ज्ञात नहीं है।

'चतुर्दश गुह्य स्थानों' का उल्लेख भी पुराणों में आता है। इसकी सूची इस प्रकार है—

कोकः कुब्जाम्रकश्चैव मणिकुण्डवटस्तथा
शालग्रामश्च शुक्लाख्यो मथुरा च मम प्रिया
वृन्दावनं गोकुलं च तथा लोहार्गलं स्मृतम्
गोदावरी सिन्धुक्षेत्रं कनखलं बदरिकाश्रमम्
द्वारका चेति गुह्यानि कथितानि चतुर्दश

'अष्टादश विषय'—इसकी एक सूची बार्हस्पत्य अर्थशास्त्र में दी गई है। इसमें निम्नोक्त नाम हैं—नेपाल, लाट, काशी, पांचाल, केकय, सृञ्जय, मत्स्य, मगध, मालव, सकुन्त, कोशल, अवन्ति, सह्य, विदर्भ, विदेह, कौरव, काम्बोज तथा दशार्ण (सूत्र ८७-९८)।

तीर्थस्थानों के लिये अष्टषष्टितीर्थ और अष्टोत्तरशत तीर्थों की सूची पुराणों में बहुत मिलती है। इस विषय पर अन्यत्र विचार किया गया है।

अन्त में यह निवेदनीय है कि यह संकलन अपूर्ण है, और अधिकारी विद्वान् इस विषय की पूर्णता के लिए चेष्टा करें[1]।

---

१. इस निबन्ध में संगृहीत कुछ तीर्थनाम निश्चित हो भ्रष्ट हैं, पुराणों के हस्त-लेखों के विना जिनकी शुद्धि नहीं की जा सकती। मुद्रित पाठों को ही इस प्रकरण में रखा गया है।

: १२ :

पुराणगत वैदिक अनुवाक-सूक्तादि शब्द

पुराणों में सूक्त, अनुवाक, गाथा आदि कितने ही शब्द मिलते हैं, जिनका संबन्ध वैदिक साहित्य के साथ प्रत्यक्षरूप से है। यहाँ ऐसे कुछ विशिष्ट शब्दों पर पुराणगत सामग्री के आधार पर विचार किया जा रहा है।

अनुवाक—पुराणों में यह शब्द कई स्थलों में व्यवहृत हुआ है। भाग० ३।१३।३२ में "विरिञ्चिमुख्या अनुवाकैरुपतस्थुः" वाक्य है। श्रीधर के अनुसार यहाँ वेदावान्तर-विच्छेद को लक्ष्य कर यह शब्द प्रयुक्त हुआ है, यह स्पष्ट है। यह विच्छेद-रूप विभाग आर्ष है, ऐसा वेंकटमाधव ने कहा है (ऋग्वेदभाष्य के पञ्चमाष्टक के पञ्चमाध्याय के आरम्भ में)।

कहीं-कहीं अनुवाक का अर्थ नित्यपाठ भी होता है (द्र० शान्ति० १०।१ की नीलकण्ठी टीका)। शान्ति० ४७।२६ में अनुवाक पद का एक विशिष्टार्थक प्रयोग उपलब्ध होता है। नीलकण्ठानुसार इसका अर्थ है 'समन्त्रार्थ विवरणभूत ब्राह्मणवाक्य'। इस श्लोक की व्याख्या में नीलकण्ठ ने 'वाक' का अर्थ सामान्यतः कर्मप्रकाशक मन्त्र और 'निषत्' का अर्थ 'कर्माङ्गादि-अवबद्ध देवतादि-ज्ञान-संबन्धी वाक्य' किया है। इस अर्थ की उपपत्ति के लिए प्राचीनतर सामग्री की अपेक्षा है। श्रीधर ने विष्णु० १।२२।८२ की व्याख्या में अनुवाक का अर्थ कल्प-सूत्रादि किया है। यह अर्थ चिन्त्य है।

अनुवाक का व्यवहार यजुर्वेद में प्रसिद्ध है। अग्नि० २६० अध्यायस्थ यजु-र्विधान-प्रकरण में अनुवाक शब्द बहुलतया व्यवहृत हुआ है। लौगाक्षिस्मृति (पृ० २४१-२४३) में याजुष अनुवाकों का विवरण द्रष्टव्य है (गुरुमण्डल ग्रन्थमाला संस्क०)। ऋग्वेद में भी अनुवाक स्वीकृत है (द्र० अनुवाकानुक्रमणी ग्रन्थ)। अनुवाकपरिमाण के विषय में मतभेद भी दृष्ट होते हैं तैत्ति० आर० १०।१ सायण-भाष्य)।

अर्धर्च—अग्नि० २५९ अध्यायस्थ ऋग्विधान में इस पद का प्रयोग है (२५९।१७,१९)। इसका अर्थ है ऋक् (मन्त्र) का आधा भाग। सम्प्रदायानु-सार ही मन्त्र के अर्धभाग का निर्धारण होता है, यह पूर्वाचार्यों की मान्यता है।

अर्धर्च के साथ क्रमपाठ का नित्य संबन्ध है और यतः यजुर्मन्त्र में अर्धर्च नहीं होता, अतः उसका क्रमपाठ भी नहीं होता (जटादिविकृतिलक्षण, कारिका १२)।

सूक्त—मन्त्रसमूह (जो निश्चित उद्देश्य से सज्जीकृत हुआ है) सूक्तपद-वाच्य होता है। यजुर्वेद के लक्षण में 'सूक्तब्राह्मणमन्त्रवान्' पद प्रयुक्त हुआ है (वायु० ६५।२५, ब्रह्माण्ड० ३।१।२४)। यहाँ सूक्त का लक्ष्य मन्त्र है, ऐसा प्रतीत होता है, क्योंकि यजुर्वेद (अर्थात् कृष्णयजुर्वेद की संहिताओं तथा किसी-किसी के अनुसार शुक्लयाजुष संहिताओं में भी) में मन्त्रब्राह्मण का संमिश्रण है। सूक्त शब्द का अधिक प्रचलन ऋग्वेद और अथर्ववेद में ही है, यजुर्वेद में अनुवाक शब्द अधिक प्रचलित है, अतः सूक्त का पूर्वोक्त अर्थ करना समीचीन ही है। वेद के लक्षण में सूक्तमय शब्द का प्रयोग स्कन्द० के केदार खण्ड १।४१ में मिलता है, जो वैदिक वाङ्मय में इस शब्द की प्रसिद्धि का गमक है। बृहद्देवता में सूक्त का लक्षण यह है—'संपूर्णमृषिवाक्यं तु सूक्तमित्यभिधीयते' (१।१३)। सूक्त के ऋषिसूक्त आदि भेद पुराणों में नहीं मिलते। इन भेदों के विषय में आर्यविद्यासुधाकर (पृ० २९–३०) द्रष्टव्य है।

ऋग्वेद के साथ सूक्त का प्रयोग पुराणकारों को इष्ट है। नागर० २७८।१०८ में "यानि सूक्तानि ऋग्वेदे" वाक्य मिलता है। अग्नि० २५९ अ० में ऋग्विधान के प्रसंग में सूक्त पद का बहुल व्यवहार मिलता है (२५९।९) सूक्त का अर्थ 'ऋक्सन्दर्भरूप' है, यह विष्णु० १।४।३३ की टीका में श्रीधर ने कहा है। ऋक्सन्दर्भरूप होने के कारण सूक्त शब्द अथर्ववेद में भी प्रयोज्य होता है।

तृच—अग्नि० २५९।११ (तथा अन्यत्र भी) में इस शब्द का प्रयोग है। पुराणों में कहीं-कहीं 'त्यृच'—ऐसा पाठ मुद्रित हुआ है, जो भ्रष्ट है। सामगों के द्वारा स्तोत्रकाल में तृच की आवृत्ति की जाती है और इस आवृत्ति को करने के कारण स्तोम की उत्पत्ति होती है, यह सायण ने कहा है (ऐत० आर० १।१।२)। स्तोम शब्द का प्रयोग पुराणों में मिलता है (भाग० ३।१२।३७)। स्तोम-स्तोत्रसाधनभूत ऋचाओं का समुदाय (द्र० भाग० १।५।५२ श्रीधरी)।

वाकोवाक्य—पुराणों में इसका प्रयोग क्वचित् मिलता है। गरुड० १।९४।२८ (जो याज्ञवल्क्य स्मृति १।४५ है; गरुड का यह प्रकरण याज्ञवल्क्य-स्मृति पर आधृत है द्र० हिस्टरी ऑव धर्मशास्त्र प्रथम भाग, पृ० १७३–१७५) में जो 'वेदवाक्य' पाठ मुद्रित हुआ है, वह वस्तुतः 'वाकोवाक्य' होगा, जिसका अर्थ है —'त्रय्यनुगतानि वादप्रकरणानि' (बालक्रीडा)। ऐसा प्रश्नोत्तरात्मक अंश ब्राह्म-

णग्रन्थों में प्रायेण मिलता है। छान्दोग्य० ७।१।२ में विभिन्न विद्याओं की गणना में 'वाकोवाक्य' का नाम है, शंकर के अनुसार जिसका अर्थ 'तर्कशास्त्र' है। अन्यान्य आचार्य वाकोवाक्य से प्रश्नरोत्तरात्मक ग्रन्थसन्दर्भ ही लेते हैं। कैयट ने कहा है—"वाकोवाक्यशब्देन उक्तिप्रयुक्तिरूपो ग्रन्थ उच्यते, यथा किंस्विदावपनं महद् भूमिरावपनं महदिति" (पस्पशाह्निक की प्रदीप टीका, पृ० ६५ निर्णयसागर संस्क०)। संभवतः तर्क का तात्पर्य भी शङ्का-समाधान-रूप प्रश्नोत्तर से ही है[1]। वाकोवाक्यम् का विग्रह है—"उच्यते इति वाकः पूर्वपक्ष वचनम्। उच्यते इति वाक्यम् उत्तरपक्ष वचनम्। वाकच्च वाक्यं च तयोः समाहारः वाकोवाक्यम्। सर्वो द्वन्द्वो विभाषयैकवद् भवतीति सम'हारः"।

नाराशंसी—वैदिक साहित्य के प्रसङ्ग में इस शब्द का प्रयोग पुराणों में अत्यल्प है। गरुड० १।९४।२८ (जो याज्ञवल्क्यस्मृति १।४५ पर आधृत है) में यह शब्द प्रयुक्त हुआ है। इसका अर्थ है 'पौरुषेयी यज्ञगाथा'। ब्राह्मणग्रन्थों में एतादृश यज्ञगाथा के स्थल बहुत हैं। पुराणों में एतत्-संबन्धी विशिष्ट विवरण नहीं हैं।

विस्तर—सविस्तर वेद का उल्लेख इतिहास-पुराण में प्रायेण मिलता है (हरिवंश २।१०९।७)। अङ्गादि सहित वेद को सविस्तर वेद कहा जाता है।

खिल—वैदिक साहित्य में खिल साहित्य का एक मर्यादित स्थान है। इतिहास-पुराण में वेद का 'सखिल' विशेषण मिलता है (शान्ति० ३१८।१०)। नीलकण्ठ कहते हैं—"खिलं परशाखीयं स्वाशाखायामपेक्षावशात् पठ्यते....यथा बह्वृचानां हिरण्यवर्णां हरिणीमिति श्रीसूक्तम्"। वैदिकशोधसंस्थान (पूना) से प्रकाशित ऋग्वेद के चतुर्थ भाग में जो खिलांश है, उसकी भूमिका में खिल संबन्धी विशिष्ट विचार द्रष्टव्य हैं। उपनिषदों में भी खिलकाण्ड स्वीकृत होता है, जैसा शंकर ने बृहदारण्यक उपनिषत् के पञ्चम अध्याय के आरम्भ में ही कहा है—"पूर्णमद इत्यादि खिलकाण्डमारभ्यते"। शुक्ल यजुर्वेद-संहिता में भी खिलकाण्ड स्वीकृत होता है। आरण्यकों में भी खिल भाग है। सायण कहते हैं—"यथा बृहदारण्यके सप्तमाष्टमाध्यायौ खिलकाण्डत्वेन आचार्यैरुदाहृतौ तथेयं नारायणीयाख्या याज्ञिक्युपनिषदपि खिलकाण्डरूपा तल्लक्षणोपेतत्वात्" (तै० आ० १०।१ भाष्यारम्भ)।

---

१. वाकोवाक्य को इस दृष्टि से ब्रह्मोद्य भी कहा जाता है। वाजसनेयी संहिता २३।९–१२ में इसका एक उदाहरण है।

अनुखिल—यह शब्द भी क्वचित् मिलता है (खिलान्यनुखिलानि च, हरिवंश २।१०९।८)। नीलकण्ठ ने इसकी कोई व्याख्या नहीं की है। इसी प्रकार 'उपखिल' शब्द भी पुराणों में प्रयुक्त हुआ है (ब्रह्माण्ड० १।३५।७७; वायु० ६१।६८)। खिल का कोई अवान्तर विभाग स्वगतवैशिष्ट्य-भेद के कारण 'अनुखिल' और 'उपखिल' पदवाच्य होता है, ऐसा अनुमान किया जा सकता है।

उत्तर—शान्ति० ३१८।१० में 'सोत्तर वेद' प्रयोग मिलता है। नीलकण्ठ के अनुसार उत्तर का अर्थ 'उपनिषत्' है। संभवतः उत्तर का तात्पर्य उस भाग से है, जो बाद में प्रोक्त होकर मूलग्रन्थ में संयुक्त हुआ है, ऐसा आधुनिक दृष्टिकोण के अनुसार कहा जा सकता है। उपनिषत् उत्तरकालिक है, ऐसी प्रचलित मान्यता है।

मण्डल—ऋग्वेद-विभाग-ज्ञापक इस शब्द का कोई भी विशिष्ट प्रयोग पुराणों में नहीं मिलता। 'मण्डलब्राह्मण' पद एकाधिक बार प्रयुक्त हुआ है (नागर० १५७।१४, रेवा० ५१।४४), पर यह एक विशिष्ट वैदिक ग्रंथ का वाचक है। हेमाद्रि कहते हैं—"यदेतद् मण्डलं तपतीत्यादि मण्डलब्राह्मणं (श्राद्धप्रकरण, पृ० १०७५)"। इस विषय में विशिष्ट विवरण के लिये हिस्टरी ऑव धर्म-शास्त्र द्रष्टव्य है (भाग ४, पृ० ४४९)। मण्डल ब्राह्मण एक उपनिषत् भी है, जो ईशाद्यष्टोत्तरशतोपनिषत् ग्रन्थ में मुद्रित हुई है (काशी संस्करण, ५०वीं उवनिषत्)।

परिशिष्ट—वैदिकसाहित्य के प्रसंग में परिशिष्ट शब्द पर विचार करना आवश्यक है। यज्ञक्रिया के विवरण में परिशिष्ट-वित् शब्द कहीं-कहीं मिलता है (नागर० १८२।७१)। याज्ञवल्क्यकर्तृक वेदाध्यन के प्रसंग में भी अङ्गोपाङ्ग परिशिष्ट सह वेदाध्ययन कहा गया है (नागर० २७८।१०६)। वेदगत विभिन्न विषयों के प्रकरण ग्रन्थों को परिशिष्ट ग्रन्थ कहा जा सकता है, जैसा अथर्व-परिशिष्ट तथा ऋग्यजुः-परिशिष्ट ग्रन्थ से ज्ञात होता है।

वर्ग—ऋग्वेदीय मन्त्रों के अवान्तर विभाग के प्रसङ्ग में यह शब्द बाहुल्येन प्रयुक्त होता है। देवीपुराण १०७।१६ के ऋग्वेद-विवरण में इस शब्द का प्रयोग मिलता है, जो चरणव्यूह-सदृश ही है। देवी-पुराण का यह अध्याय चरणव्यूह का संक्षेप है, यह ज्ञातव्य है।

: १३ :

स्कन्दपुराण में वर्णित कतिपय कलाएँ[1]

मनुष्य जीवन में कामरूप तृतीय पुरुषार्थ का उच्च स्थान है। यद्यपि इस शब्द का प्राचीन अर्थ आज लुप्तप्राय हो गया है, तथापि यदि हम इस शब्द के प्राचीन अर्थ को जानकर इस विद्या का अनुशीलन करें तो हम अवश्यमेव लाभान्वित होंगे। गीता का 'धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि' वाक्य ही इस पुरुषार्थ की महनीयता का प्रत्यक्ष ज्ञापक है।

कलाशास्त्र कामशास्त्र के अन्तर्गत एक विद्या है। कलाविद्या सचमुच कामशास्त्र-जलधि से उद्भूत अमृत है, जिसके पान से हम इस त्रितापदग्ध जगत् में भी कथंचित् हार्दिक आनन्द प्राप्त कर सकते हैं।

आचार्य वात्स्यायन का ग्रन्थ वर्तमान काल में एकमात्र उपलब्ध आर्ष ग्रन्थ है, जिसमें इस विद्या पर विशिष्ट विचार देखने को मिलता है। आचार्य ने कलाओं को कामतन्त्र की अंगविद्याओं की तरह माना है : "इति चतुः षष्टि रङ्गविद्याः कामसूत्रस्य अवयविन्यः" (१।३।१६)।

कला का लक्षण करना कुछ दुरूह अवश्य है, पर कामसूत्र में कलाओं की जो सूची मिलती है, उससे कलास्वरूप पर कुछ-न-कुछ स्पष्ट ज्ञान मिल जाता है। इस सूची में तक्षकर्म, वास्तुविद्या आदि भी परिगणित हैं, जो शिल्पशास्त्र का मुख्य विषय है। वस्तुतः कला और शिल्प के विभाजक तत्त्व का निर्णय कठिन है, यद्यपि एक ही वाक्य में इन दोनों की पृथक् उक्ति भी मिलती है। वाक्यपदीय में "सा सर्वविद्याशिल्पानां कलानां चोपबन्धनी" (१।१२६) कहा गया है, जहाँ विद्या, शिल्प और कला को पृथक् गिना गया है, यद्यपि विद्या में ही ये दो भी आ सकते हैं।

इस प्रकरण में इस विवाद में न पड़कर प्रसिद्ध कलाओं में कुछ विशिष्ट कला पर स्कन्दपुराणोक्त सामग्री का संकलन किया गया है। यह संकलन बहुत

---

१. कथा-आख्यायिका-बहुल पुराणों में उपयोगी विषय बीच-बीच में मिल जाते हैं, इसके निदर्शन-मात्र के लिये यह विवरण प्रस्तुत किया गया है। इसमें किसी भी विषय की पूर्णांग आलोचना नहीं की गयी है।

अपूर्ण है। वस्तुतः यहाँ निदर्शनमात्र प्रस्तुत किया गया है। अभिज्ञ पाठक और अधिक स्थलों का अन्वेषण कर इस विषय में पूर्ण विचार कर सकते हैं।

अति बृहत् स्कन्दपुराण में कहीं भी कला का लक्षण नहीं मिलता, यद्यपि कई बार कला शब्द का प्रयोग मिलता है। 'कलाकलापकुशला' यह विशेषण स्त्री के लिये आया है (४।६७।३९)। सभी कलाएँ विश्वकर्मा में निहित हैं— यह वाक्य भी आया है (४।८६ अ०)। केवल एक बार 'चतुःषष्टिकला' का उल्लेख मात्र आया है (५।३।२१।४), यद्यपि कहीं भी कलाओं की गणना नहीं मिलती। कलावैदग्ध्य ३।१।१८।२२ में कथित है।

हमने पहले कहा है कि कला और शिल्प के भेदक तत्त्व का ज्ञान अत्यन्त दुरूह है। विभिन्न ग्रन्थों में नानाप्रकार के निर्माण आदि भी कला में कथित हैं, और कला-क्षेत्रीय ललित विषय भी शिल्प में आते हैं। चतुःषष्टि कला की गणना में भी मतभेद हैं। शिल्प और कला के भेद के विषय में पुष्कल विचारपूर्ण निवन्ध की आवश्यकता है। विश्वकर्मा को 'शिल्पानां वरः' तथा 'कलाविदां वरः' भी कहा गया है। विश्वकर्म-निर्मिति के लिये 'कला' का प्रयोग करना यदि दोषावह न हो तो हम यहाँ स्कंदपुराण से विश्वकर्मा निर्मितियों की एक सूची उपस्थित कर रहे हैं। विश्वकर्म-निर्मिति की यह सूची उपलब्ध पौराणिक सूचियों में बृहत्तम है। अन्य सूचियों में इतने पदार्थों की गणना नहीं है। श्लोक इस प्रकार हैं–

त्वं सुवर्णादिधातूनां दारूणां दृषदामपि।
मणीनामपि रत्नानां पुष्पाणामपि वाससाम् ॥
कर्पूरादिसुगन्धीनां द्रव्याणामप्यपामपि।
कन्दमूलफलानां च द्रव्याणामपि च त्वचाम् ॥
सर्वेषां वस्तुजातानां कर्म कर्तुं प्रवेत्स्यसि।
सर्वा नेपथ्यरचना सर्वा सूपस्य संस्कृतिः।
सर्वाणि शिल्पिकार्याणि तोर्यत्रिकमथापि च ॥
सर्वं ज्ञास्यसि कर्तुं त्वं द्वितीय इव पद्मभूः।
नानाविधानि यन्त्राणि नानायुधविधानकम् ॥
जलाशयानां रचनाः सुदुर्ग - रचनास्तथा।
कलाजातं हि सर्वं त्वमवयास्यसि मे वरात्।

सर्वेन्द्रजालिकी विद्या त्वदधीना भविष्यति ॥
सर्वकर्मसु कौशल्यं सर्वबुद्धिवरिष्ठताम् ॥
(४।८६।७४-८९)[1] ।

श्लोकों का अर्थ स्पष्ट है। यद्यपि यहाँ 'कला' को अन्य रचना से पृथक् कर कहा गया है, तथापि इन वर्णित विषयों में कुछ तो कला में अवश्य ही आते हैं। यह सूची वस्तुतः महत्त्वपूर्ण है।[2]

कलाओं के विवरण में हमने संक्षेप से काम लिया है। उद्धृत वाक्यों का अनुवाद भी नहीं किया गया है। यहाँ जिन अध्यायों का संकेत है, उन अध्यायों को पूरा देखना चाहिए क्योंकि दर्शित स्थानों के आस-पास भी सम्बन्धित विव-

---

१. इस निबन्ध में जो स्थल-निर्देश है, उसका विवरण इस प्रकार है। स्कन्द० में (बंगवासी संस्क०) ७ खण्ड हैं और प्रत्येक खण्ड के कई अवान्तर खण्ड हैं, यथा—

१—माहेश्वरखण्ड—(१) केदार खण्ड, (२) कुमारिका खण्ड, (३) अरुणाचल खण्ड।

२—विष्णुखण्ड—(१) वेंकटाचल, (२) पुरुषोत्तम, (३) बदरिका, (४) कार्तिकमास, (५) मार्गशीर्ष, (६) भागवत, (७) वैशाख, (८) अयोध्या।

३—ब्रह्मखण्ड—(१) सेतु, (२) धर्मारण्य, (३) चातुर्मास्य, (४) ब्रह्मोत्तर।

४—काशीखण्ड—(इसके अवान्तर खण्ड नहीं हैं)।

५—अवन्तीखण्ड—(१) अवन्ती क्षेत्र, (२) चतुरशीतिलिंग, (३) रेवा खण्ड।

६—नागरखण्ड—(इसके अवान्तर खण्ड नहीं हैं)।

७—प्रभासखण्ड—(१) प्रभास क्षेत्र माहात्म्य, (२) अर्बुद खण्ड, (३) द्वारका माहात्म्य।

२. प्रसंगतः यह कहना अनुचित न होगा कि अन्यान्य पुराणों में कला सम्बन्धी पुष्कल सामग्री है। कभी-कभी कला-सम्बन्धी ऐसे वाक्य भी पुराणों में मिलते हैं, जिनसे समस्या की उत्पत्ति हो जाती है। एक उदाहरण लीजिए—वामनपुराण में कहा गया है—"कलासु मुख्या गणितज्ञता च विज्ञानमुख्यं च यथेन्द्रजालम्" (१२।५३)। यहाँ गणित ज्ञान को श्रेष्ठकला और इन्द्रजाल को विज्ञानमुख्य कहा गया है। हम चाहते हैं कि अधिकारी विद्वान् इस वाक्य पर विचार करें।

रण विद्यमान है। इस संकलन में अनेक ऐसी बातें भी हैं, जिनका अर्थ हमारे लिये अस्पष्ट है, और हमारी प्रार्थना है कि अधिकारी विद्वान् इन स्थलों का स्पष्टीकरण कर हमारे परिश्रम को सार्थक करेंगे।

स्कन्द० में १८ प्रकृतियों का विशद उल्लेख आया है (३।३।१० अ०)। यहाँ शिल्पी, नर्तक आदि कलाकारों के विषय में अनेक बातें मिलती हैं, जिनका अध्ययन अपेक्षित है।

गीत—इसका बहुधा उल्लेख इस पुराणों में आया है। शिवपूजा के प्रसंग में गीत करने का विधान सर्वत्र मिलता है। गीतविद्या का विवरण ४।७४।७०–७३ में द्रष्टव्य है। लयमानविचक्षण कुमारी २।५।४५।८५-८७ में उल्लिखित है। गन्धर्वशास्त्र का बार-बार उल्लेख आया है (३।२।१।२५ इत्यादि)। गीतों के साभिप्राय विशेषण भी दृष्ट होते हैं, यथा—"मूर्छना-ताल-संयुक्ततन्त्रीलयसमन्वित गीत"—ऐसा विशेषण एकाधिक बार आया है (३।७।७७)। यद्यपि गीत का सामान्य वर्णन प्रायः सर्वत्र मिलता है, पर गीत संबन्धी कुछ विशिष्ट विवरण कहीं नहीं मिलते। अन्य पुराणों में गीतविद्या पर पुष्कल सामग्री मिलती है, यह ज्ञातव्य है। कई पुराणों में गीतालंकार निर्देशपरक अध्याय है (वायु० ८७ अ०)। विष्णुधर्मोत्तरगत संगीतसामग्री से सभी परिचित हैं।

वाद्ययन्त्र—नानाविध वाद्ययन्त्रों के नाम यत्र तत्र मिलते हैं, विशेष कर स्त्रियों के प्रसंग में। कुमारी-कर्तृक वीणा-वेणु-मृदङ्गवादन ५।२।४४।८५ में और सवाद्य संगीत ४।६७।३८ में कथित हैं। घोषवती वीणा ३।१।५।१३६ में कथित है। चतुर्विध वाद्य का उल्लेख ४।९८।१६ में है। पञ्चवाद्य १।१२५।२ ३९ में मिलता है। यहाँ कौन-कौन पाँच वाद्य इष्ट हैं, यह स्पष्ट नहीं है। ४३ श्लोक में 'शंख, भेरी, पटह, आणक और गोमुख' नाम आए हैं। क्या ये पाँच इष्ट हैं ? वंशीवादन का उल्लेख भी मिलता है (३।२।३।७६)।

नृत्य—गीत की तरह इसका उल्लेख भी शिवपूजन के साथ सर्वत्र आया है। भरतमुनि[1] शिक्षा पण्डित रचित गीतनृत्य का उल्लेख भी मिलता है (२।२।

---

१. डॉ० मनोमोहन घोष महोदय भरतनाट्यशास्त्र के अंग्रेजी अनुवाद ग्रन्थ (पृ० १) में लिखते हैं कि 'नाटचशास्त्रकार भरत का नाम केवल मत्स्य-पुराण में ही मिलता है'। पर स्कन्दपुराण के इस स्थल में भी भरत का नाम है, यह स्पष्ट है। अग्नि० ३४०।६ में कहा गया है—"भरतेन प्रणीतत्वाद् भारतीरीति रुच्यते"।

१७।६८-६९)। लास्यरूप नृत्यभेद का उल्लेख ५।२।४५।८५-८७, ४।६७।३८ में है। विपरीत नृत्य ५।३।१५।१२ में कथित है, जिसका लक्षण देखना चाहिए। ४।१।१२ में हल्लीसक शब्द आया है, जो नृत्यविशेष है। रामानन्द स्वामी ने इसकी टीका में इसके लक्षणादि दिए हैं।[1] नृत्यादि से संबन्धित गान्धर्वविद्या ४।६७।४० में उल्लिखित है। नृत्य-गीत-वाद्यात्मक तोर्यत्रिक का उल्लेख भी आया है (४।६०।१२१; ४।६७।३६)। एक स्थल पर 'प्रनृत्य' शब्द भी है (१।२। ३४।२९। पता नहीं यह कोई नृत्यविशेष है या नृत्य ही है। त्रिविध नर्तन का उल्लेख मिलता है (३।२।३।७५)।

नाट्य—नाट्य प्रसंग में सूत्रधार के पञ्चविधत्व का विचित्र उल्लेख मिलता है—"एकोऽहं पञ्चधा जातो नाट्ये सुत्रधरो यथा" (२।४।३।१६)। सूत्रधार के ये पाँच रूप कौन-कौन हैं, यह विचार्य है। नाट्याचार्य तुम्बुरु का नाम ३।१।२८।७६ में आया है। नाट्याचार्य-कोविदा नर्तकी ४।६७।३४ में कथित है।

क्रीडा—नानाविध क्रीडाओं का नाम इस पुराण में मिलता है। यहाँ एक सामान्य विवरण दिया जा रहा है—

क्रीडाकन्दुक का उल्लेख ४।६५।२७, ३४ तथा १।१।२।३८ में है। रासक्रीडा ४।३।२४ में कथित है। क्रीडा से संबन्धित क्रीड़ावापी का उल्लेख ४।६७। १६१ में है। वंशाधिरोहन क्रीडा का नाम ४।४५।११ में मिलता है। कुमार कार्त्तिकेय की वासुकि क्रीडा १।१।२७।१०७-१०८ में वर्णित है। पशुक्रीडा (परस्पर युद्धचमान पशु) का उल्लेख २।४।१०।३२ में है।

कामकला—कामतन्त्र का शब्दतः उल्लेख मिलता है। कामिनीकामकेलिज्ञ रूप विशेषण भी (एक राजा का) दिया गया है (४।८२।८)। मदनवृक्ष एक वृक्ष का नाम है। उसके विशेषण में 'कामियों का सदन' कहा गया है (४।१।१९)। एक स्थल पर कन्दर्प के कुछ स्थान और स्त्री-प्रशंसा का रुचिर वर्णन आया है—

कामिनीनां कटाक्षेषु केशपाशेषु चैव हि।
जघ्न - स्तननाभौ तु दोर्मूलेऽधरपल्लवे ॥

---

१. एकस्य पुंसः बह्वीभिः स्त्रीभिः सह क्रीडनं नारीणां मण्डलीनृत्यं बन्धो वा। तदुक्तम्—नारीणां मण्डलीनृत्यं बन्धे हल्लीसकं विदुः। एषैव रासक्रीडा। तल्लक्षणमिदम्–"पृथुं सुवृत्तं मसृणं वितस्तिमात्रोन्नतं कौ विनिखन्य शङ्कुम्। आक्रम्य पद्भ्याम् इतरेतरं तु हस्तैर्भ्रमोऽयं खलु रासगोष्ठी"।

वसन्ते कोकिलालापे ज्योत्स्नायां जलदागमे ।
कामार्थे च मया दत्तौ सबलौ मधुमाधवौ ॥
स्त्रियोऽमृतमया धन्याः संसारे सारकारणम् ।
रतेश्चैव निधानानि सन्तानार्थं विनिर्मिताः ॥

(५।२।१३।१२-१४) । यहाँ कामिनियों के कटाक्ष, केश आदि स्थानों में कामदेव रहते हैं, यह कहा गया है । इसके बाद के श्लोकों में कहा है कि स्त्रियों के द्वारा जगत् वशीकृत है; स्त्री में आसक्त मनुष्यों की बुद्धि नष्ट हो जाती है; दैत्यों का नाश स्त्रियों के कारण ही हुआ; स्त्री ही देवों का भयाश्रय है; स्त्रैण व्यक्ति विपन्न होता है (५।२।१३।१५–१८) । कामिनीमोहनार्थ शाम्बरी-मन्त्रविद्या का नाम मिलता है (३।२।३६।४१) । यहाँ तक कि वन के विशेषण में 'परस्त्री सुरतोचित' पद भी आया है । (३।४।९।५८) । कामप्रमोदिनी एक कन्या का नाम रखा गया है (५।३।१६९।२४) ।

द्युतविनोद—इसको भी कला में गिना जाता है । इसका शब्दतः उल्लेख १।३।३०।३० में है । द्यूतक्रीडा पर एक असाधारण उल्लेख काशीखण्ड में आया है, जहाँ द्यूतक्रीडा को जगद्व्यापार के साथ रूपकालंकार के रूप में दिखाया गया है—

देव देव तव क्रीडाऽखिलं ब्रह्माण्डगोलकम् ।
मासा द्वादश येनाथ ते सारिफलके गृहाः ॥
कृष्णाः कृष्णेतराया वै तिथयस्ताश्च सारिकाः ।
द्विपञ्चदशमासे या स्त्वक्षयुग्मं तथाऽयने ॥
सृष्टिप्रलयसंज्ञौ द्वौ ग्लहौ जय-पराजयौ ।
देवीजये भवेत्सृष्टिरसृष्टिर्धूर्जटेर्जये ॥
भवतोः खेलसमयो यः सा सृष्टिरुदाहृता ।
इत्थं क्रीडैव सकलमेतद् ब्रह्माण्डमीशयोः ॥
(काशी० ८८।५-८) ।

यहाँ अक्षक्रीडासंबन्धी इन विषयों का उल्लेख है—सारिफलक, अक्षयुग्म, कृष्णश्वेत-सारिका, जय-पराजय, खेलसमय । इस वर्णन की चारुता देखते ही बनती है !

द्यूतसंबन्धी यह सुभाषित स्मरणीय है—"द्यूतक्रीडा महादेवि दृश्यते विविधात्र च । भवेद् द्वाभ्यां च द्यूते हि रमणाच्च महत्सुखम्" (१।१।३४।६१) ।

वाक्यविलास—चमत्कृतिजनक भणिति भी कला में गिनी जाती है। इस पुराण में एक स्थान पर महाराष्ट्रमणी से संबन्धित वाग्विलास का उल्लेख आया है—"सुकोमल-महाराष्ट्री वाग्विलासमनोहरम्" (४।२।११)। त्रिविध वाक्य का उल्लेख १।२।३४।६७ में आया है। इसका संबन्ध काव्यप्रकाशोक्त त्रिविध वाक्य से है, ऐसा स्पष्टतया प्रतीत होता है। प्रभुसम्मित, सुहृत्सम्मित तथा प्रियासम्मित—इस प्रकार तीन वाक्यभेद होते हैं। अमुनिप्रोक्त नास्तिक्य-वादयुक्त वाक्य को चित्रकथाबन्ध कहा गया है (१।२।५।९८)।

कूटशब्द प्रयोग—यह भी एक कला है। कूटार्थक श्लोक कहीं-कहीं इस पुराण में आया है; पर यहाँ केवल एक उदाहरण दिया जा रहा है। कुमारिकाखण्ड में एक श्लोक इस प्रकार है—"स्पर्शेषु षोडशं चैकविंशं गृह्णाति नो धनम्, धनेन तेन हीनानां कीदृशं जन्म नो भवेत्" (४.१३)। यहाँ षोडश स्पर्श='त' वर्ण और एकविंश स्पर्श='प' वर्ण है, जिससे 'तप' शब्द सिद्ध होता है।

रत्नपरीक्षा--यह भी कलाज्ञान का परिचायक है, ऐसा आचार्यों ने माना है। रत्नों के नाम ४।६६।४५-५३ में आए हैं। रत्नों से सम्बन्धित अनेक बातें इस पुराण में हैं।

देशभाषा--देशभाषा का उल्लेख भी स्थान-स्थान पर आया है। अप्सरस् के विशेषण में 'नानाभाषासु कोविदाः' शब्द आया है (४।९।४)। 'देश-भाषाविभाषिण्यो रामामण्डलमध्यतः' यह वाक्य ७।१।३१७।९९ में आया है। यहाँ देशभाषा के साथ 'विभाष्' धातु का प्रयोग लक्षणीय है।

भोजनविद्या--इस पुराण में इस विद्या को 'नलविद्या' कहा गया है (२।२।१७।६२)। सुवृत्तमोदक (=वर्तुलाकार मोदक) का उल्लेख ५।३।१५।११ में है।

उत्सवादि--उत्सवादि से सम्बन्धित विवरण में भी कलाओं का कुछ परिचय मिलता है। यों उत्सव भी एक कलात्मक मनोवृत्ति का ही फल है, इसमें सन्देह नहीं। कौमुदीमहोत्सव का उल्लेख २।३।३९।३२ में है। गोवर्द्धनोत्सव २।४।९।१९ में उल्लिखित है। महावेदी-महोत्सव का उल्लेख २।२।३३।५५ में है।

लेखन--मुद्राचिह्न (ताम्रशासनीय) का उल्लेख ३।२।३४।१७ में है। प्रशस्तिलेखन शब्द ४।६६।१२५ में मिलता है। 'वैदेशिक लिपि' शब्द भी मिलता है (लिपीर्ज्ञात्वा विदेशजा–काशी० ७।५)। यह कौन लिपि है, यह अज्ञात है।

कला में 'आख्यायिकादर्शन' भी माना जाता है। स्कन्दपुराण में एक स्थल पर 'कथा' का अतिविशद लक्षण आया है, जिसका स्पष्टीकरण अपेक्षित है। यहाँ कथा के ये विशेषण द्रष्टव्य हैं—'द्विविधा, द्विशरीरा, दिव्यभाषासमोपेता, वेदाधिष्ठानसंयुक्ता, पञ्चसन्धिसमायुक्ता, षडलंकार-भूषिता, सप्तसाधनसंयुक्ता, रसाष्टगुणरञ्जिता, नवगुणाकोर्णा, दशदोषविवर्जिता, विभाषा-भूषिता, एकायत्ता, पञ्चकारणसंयुक्ता, चतुष्करणसंयुक्ता, द्विविधा (७।१।१।१६–२०)।

चित्रकर्म—कलाओं में इसका प्रमुख स्थान है। इस कला पर पृथक् विचार इस पुराण में नहीं मिलते, पर पुरी, प्रासाद आदि के वर्णन में चित्रकर्म (प्रासादीय चित्र) का कहीं-कहीं उल्लेख मिलता है, अतः इस विषय पर विचार करने के लिए उन-उन स्थानों को देखना चाहिए।

प्रतिमा-निर्माण—इस विषय में अनेक बातें इस पुराण में स्थान-स्थान पर मिलती हैं, जिस पर पृथक् ग्रन्थ लिखा जा सकता है। यहाँ केवल दो एक निर्देशमात्र प्रस्तुत किए जा रहे हैं। स्वर्णनिष्क-निर्मित प्रतिमा का उल्लेख २।३।३९।५४ में मिलता है। पुरुषोत्तमखण्ड (विष्णुखण्डान्तर्गत) में कृष्ण, बलराम, सुभद्रा का रूप वर्णन बारम्बार आया है, जिसके अध्ययन से कला-सम्बन्धी अनेक तथ्यों का ज्ञान हो जाता है।

पुरी, प्रासाद और उसके अवयव—स्कन्द पुराण में अनेक नगरियों के रोचक कलापूर्ण वर्णन आए हैं, जिनके अध्ययन से कलासम्बन्धी पुष्कल ज्ञान मिलता है। हम यहाँ कुछ पुरियों का वर्णन उपस्थित कर रहे हैं—

विशालपुरी वर्णन—५।१।४७ अ०

त्रिपुरवर्णन (बाणासुर का) ५।३।२६।५७-६६।

वाराणसी पुरी वर्णन—५।३।५२।४—९; ४।६६।५५-६०।

वास्तुविद्या पर विचार करने के लिए ऐसे वर्णनों का अध्ययन आवश्यक है। यहाँ अनेक विशिष्टार्थक शब्दों का व्यवहार है तथा वास्तुकला सम्बन्धी अनेक तथ्य भी इन वर्णनों से मिल सकते हैं।

अब इनके अन्तर्गत कुछ उन पदार्थों के विवरण स्थल दिखाए जा रहे हैं जहाँ कलाओं का चित्रण उपलब्ध है—

मण्डप वर्णन—२।१।१।११—; २।२।३३।१११-११३।

अट्टालिका वर्णन—४।३२।१६-२४।

रथवर्णन—४।८८।५९-६३; २।२।३३।११—; ४।६२।८८-९५; ५।३।२८।११-१८।

विवाहमण्डप वर्णन—१।१।२४ अ०।

पुष्पगृह—१।२।१३।३७ ।

सभामण्डप के लिए आस्थानिकी शब्द—२।१।१०।४५ ।

वप्रकुट्टिम (निर्झरनिर्घातनिर्भिन्न)—३।४।७।८७ ।

मन्दिर (शिवायतन) वर्णन १।२।११।१—१० ।

पुरुषोत्तमक्षेत्रवर्णन—२।२।९।२४-२९ ।

पर्यंकवेदिका वर्णन—५।१।६।११६-११९ ।

सभा के भौतिक रूप का वर्णन—२।२।१७ अ० ।

कुछ कलासम्बन्धी द्रव्य—यहाँ कला से सम्बन्धित कुछ द्रव्यों के नाम दिए जा रहे हैं । उनके लक्षणादि अन्यान्य ग्रन्थों में द्रष्टव्य हैं ।

गलन्तिका (४।१२।५५) । इसे गौडदेश में झरा कहा जाता है, यह टीकाकार रामानन्द का मत है ।

पाषाणयन्त्र (३।१।१।३६) ।

आन्दोलिका (=डोलो)—२।१।१०।७१ ।

चीनांशुकप्रावरण (२।२।११।३६) ।

घटीयन्त्र—२।२।२०।१२; १।३।१५।४ ।

पादपर्यन्त माला (प्रपदीना माला)—२।२।३०।३६ ।

माला-माल्य—इन दोनों का भेद इस प्रकार दिखाया गया है—"माला सा प्रपदीना तु माल्यं कण्ठोरुलम्बितम्" (२।२।३०।४१०)—पादपर्यन्त लम्बमान को माला और कण्ठदेश से उरुपर्यन्त लम्बमान को माल्य कहा जाता है ।

नायिका रूप—पुरीवर्णन की तरह नायिकाओं के रुचिर वर्णन भी अनेक स्थानों पर आए हैं, जिनके अध्ययन से भी कलासम्बन्धी अनेक तथ्यों का ज्ञान हो जाता है । यहाँ एक विशिष्ट स्थान का उद्धरण दिया जा रहा है—

दक्षिणदिक् को सूर्य की नायिका मानकर एक असाधारण रूपकात्मक वर्णन किया गया है । यथा—

लवङ्गैलामृगमद - चन्द्रचन्दन - चर्चिताम् ।
ताम्बूलीरागरक्तौष्ठीं द्राक्षा-स्तवक-सुस्तनीम् ।
लवलीवल्लिदोर्वल्लीं कङ्कोलीपल्लवाङ्गुलिम् ।।
मलयानिलनिःश्वासां क्षीरोदकवराम्बराम् ।
त्रिकूटस्वर्णरत्नाङ्गीं सुवेलाद्रिनितम्बिनीम् ।।

कावेरीगौतमीजङ्घां चोलचोलांशुकावृताम् ।
सह्यदर्दुरवक्षोजां काञ्चीकाञ्चीविभूषणाम् ॥

(४।२।७-१०) ! इस वर्णन में विलासिनी का स्पष्ट चित्रण उपलब्ध होता है ।

इस प्रकार नायिका का वर्णन इस पुराण में सहस्रशः मिलता है ।

अन्त में इस पुराण में वर्णित अन्य कुछ कलापूर्ण वर्णनों का स्थलनिर्देश भी किया जा रहा है—

विन्ध्यपर्वत वर्णन—४।१ अ०; इस वर्णन की चारुता देखते ही बनती है ।

वन वर्णन—२।८।९।२५ से कुछ श्लोक ।

आश्रम वर्णन—१।३।३१ अ० ।

यद्यपि कला से इन वर्णनों का साक्षात् सम्बन्ध नहीं है, तथापि गौण रूप से इन विवरणों में कलामय दृष्टि की सत्ता है, यह स्वीकार्य ही होगा ।

: १४ :

इतिहास-पुराण में वर्णित कठोर तपस्याएँ

इतिहास-पुराण में तप की महती प्रशंसा की गई है[1] तथा अनेक प्रकार की तपस्याओं का विवरण भी इस वाङ्मय में मिलता है। 'तपः' का सामान्य लक्षण है—'कायेन्द्रियसन्तापन-धर्म' (उद्योग० ४३।१२ की देवबोधकृत टीका)। योगसूत्र के व्यासभाष्य में इस विषय में कहा गया है—"तपो द्वन्द्वसहनम्, द्वन्द्वश्च जिघत्सपिपासे शीतोष्णे स्थानासने काष्ठमौनाकार-मौने च" (२।३२)–अर्थात् तप=द्वन्दों का सहना; द्वन्द यथा—क्षुधा-पिपासा, शीत-उष्ण, स्थिरावस्थान और आसन, काष्ठमौन (वाक्य आदि से अपना मनोभाव न कहना); आकारमौन (इंगित से कहना, पर वाक्य न कहना)। इसके अतिरिक्त चान्द्रायण आदि व्रत भी तप हैं। वस्तुतः दुःख-सहिष्णुता रूप यह तप यदि न किया जाय, तो अन्यान्य योगांगों का अभ्यास नहीं हो सकता, इसलिए पहले ही तपस्या द्वारा शरीर को दृढ़ और मन को संयत कर लेना चाहिये। श्रुति कहती है—"न तत्र दक्षिणा यन्ति ना विद्वांसस्तपस्विनः", अतः उत्तम सिद्धि-लाभ के लिये तप आवश्यक है। तप क्यों करना चाहिए इसके लिए योगभाष्य में मार्मिक युक्ति दी गयी है—

"नातपस्विनो योगः सिध्यति। अनादिकर्मक्लेशवासनाचित्रा प्रत्युपस्थित-विषयजाला चाशुद्धिर्नान्तरेण तपः सम्भेदमापद्यते" (२।१) अर्थात् अतपस्वी को योग सिद्ध नहीं होता। मन की जो अनादिकाल से कर्मजनित विषयमुग्धता हेतुक अशुद्धि है, उसका क्षय तप के विना नहीं हो सकता। 'तपसा विन्दते महत्' यह वाक्य इतिहास-पुराणादि में अत्यन्त प्रसिद्ध है (वन० ३१३।४८; शान्ति० १९।२६)।

शास्त्रकारों ने यद्यपि कठोरतायुक्त तप की प्रशंसा नहीं की है और चित्त-प्रसादकर तप को ही उपयोगी कहा है, तथापि आवेग के कारण साधकों ने

---

१. "तपो वेदाश्च विप्राश्च ज्ञानं च ब्रह्म संज्ञितम्" (विष्णुसहस्रनामभाष्यधृत श्लोक, नाम ६६१ द्र०)।

कठोर तप करने में भी उद्यम किया था। कठोर तप करने का अन्य हेतु भी है, जिसका विचार यहाँ अप्रासंगिक है।

यहाँ इतिहास-पुराण-साहित्य के आधार पर कठोर तपस्याओं के कुछ निदर्शन प्रस्तुत किए जा रहे हैं। शास्त्रकारों ने व्यर्थ आयाससाध्य तामसिक तपों की निन्दा अवश्य की है, पर तब भी कठोरतम तपस्याकारियों से यह देश किसी दिन पूर्ण था, यह जानना चाहिए। कितने ही तीर्थ ऐसे हैं, जिनका परिचय ही 'तपःक्षेत्र' के रूप में दिया गया है, यथा "कुरुक्षेत्रे तपःक्षेत्रे" (भीष्म० १।२)। ऐसे उल्लेखों से तपश्चरण की महिमा व्यक्त होती है।

कठोर तपस्याओं को निम्नलिखित भागों में बाँटा जा सकता है—

(क) अन्न-परिमाण की अल्पता।

(ख) अन्न और उसके ग्रहण में असाधारण परिवर्तन।

(ग) जो सामान्यतः अन्न नहीं है, उसका ग्रहण।

(घ) वस्त्रादि-सम्बन्धी कठोर नियम।

(ङ) वासस्थान-त्याग और कष्टदायक परिस्थिति में रहना।

(च) कष्टकारक शारीरिक-स्थिति।

(छ) मानसिक द्वन्द्वसहन (इस प्रकरण में मानसिक तप का विवरण संकलित नहीं होगा)।

इतिहासपुराण के अतिरिक्त स्मृति और निबन्धग्रन्थों में भी यह विषय पर्याप्त विशदरूप में मिलता है।

पूर्वाचार्यों की यह मान्यता थी कि विद्या और तपस्या के समाहार के द्वारा ही परम कल्याण की सिद्धि हो सकती है—"ज्ञानेन तपसा चैव धीराः पश्यन्ति तत् परम्" (अश्वमेध० ४७।३)। आचार्यों ने तप के साथ एकाग्रता के निकटतम संबन्ध को पहचाना था और यही कारण है कि वे महता कण्ठेन यह कहते थे—"मनसश्चेन्द्रियाणां हि ऐकाग्र्यं परमं तपः" (ब्रह्म० १३०।१८)।

'तपस्या मूलतः शरीरद्वन्द्वसहन-प्रधान है' और इसका मुख्य उद्देश्य है सूक्ष्म आत्मज्ञान-धारणोपयोगी शरीरधातु की पुष्टि करना। शरीर की अपटुता और अशुद्धि के कारण आत्मज्ञान का उच्च साधन सम्भव नहीं होता, और यही कारण है कि भेक, गोधा आदि की तरह शरीर को निश्चल बनाकर रुद्धप्राण (Suspended animation) जातीय स्थिति में कुशलता की प्राप्ति के लिये तप करने का

उल्लेख योगशास्त्र में बहुशः मिलता है। योगभाष्य में कहा गया है—"कूपादध उरसि कूर्माकारा नाडी, तस्यां कृतसंयमः स्थिरपदं लभते, यथा सर्पो गोधावेति" (३।३१)।[1]

शारीरिक तपस्या में 'शीतोष्णजय' तथा 'क्षुधापिपासा से अनभिभव' की भी गणना करनी चाहिये। यह कैसे होता है, यह योगशास्त्र के अनुशीलन से ज्ञातव्य है (योगसूत्र ३।३०)। 'प्राणायाम' भी एक तपविशेष ही है। शास्त्र कहता है—

"तपो न परं प्राणायामात् ततो विशुद्धिर्मलानां, दीप्तिश्च आविवेकख्यातेः"।

अन्नपरिमाण की अल्पता—इसका उद्देश्य है—बाह्यकर्मक्षयपूर्वक शारीरिक क्रियाओं को क्रमशः स्थिर करना, जिससे परिश्रमजनित शरीरक्षय अल्प हो जाय। शरीरक्षय के अल्प होने से अल्पाहार से ही शरीर-धारण हो सकता है और शरीर में लघुता आती है। शरीर के लघु (दुर्बल नहीं) होने पर एकाग्रता में वृद्धि होती है, यह प्रत्यक्षसिद्ध है, और इसीलिए योगियों के लिए अल्पाहार की विधि है। हठयोग-शास्त्र में सामान्य नियम यह है कि उदर का तृतीयांश अन्न से, तृतीयांश जल से और बाकी तृतीयांश वायु से भरना चाहिए। यह अल्पाहार की प्राथमिक अवस्था है। अल्पाहार का मुख्य प्रयोजन 'श्वास-प्रश्वास' के रोध के लिए है, जैसा महाभारत में कहा गया है—

"छिन्दन्ति पञ्चमं श्वासम् अल्पाहारतया नृप" (शान्ति० ३०१।५७)

अल्पाहार के साथ मिताहार भी कर्त्तव्य है। हठयोग के ग्रन्थों में मिताहार की सविशेष विधि है (घेरण्डसंहिता आदि द्रष्टव्य)। पुराणों में भी

---

१. भेक के हृत्पिण्ड को शरीर से विच्छिन्न कर उसको जीवित रखने की प्रक्रिया आधुनिक शरीरविद्या में प्रसिद्ध है। हृत्पिण्ड कोष से बनता है और कोष स्वयं एक प्राणी है, अतः प्रक्रियाविशेष से उसको जीवित रखा जा सकता है। अनेक जन्तु जैसे मेढक, Hedgehog, marmot आदि (शीतकाल में) तथा मत्स्य, कच्छप आदि ग्रीष्मकाल में श्वास-प्रश्वासहीन होकर (Hibernation अथवा Aestivation अवस्था में) रहते हैं। उस अवस्था में देह का यन्त्र निष्क्रिय रहता है, पर कोष सप्राण तथा स्तम्भित-प्राण रहता है। हठयोग की प्रक्रिया भी जन्तुओं की प्रक्रिया की तरह है।

'मितभक्ष' शब्द आया है (प्रभास० १३।४)। वायु० में तो निराहार को तप का मूल ही माना गया है (५९।४१)।

मितभक्षण में अन्नसंग्रह की 'अल्पता' भी आती है। कई पुराण में 'सद्यः प्रक्षालकतपस्वी' शब्द आया है (प्रभास० २।३७।१४)। मत्स्य० (१८३।३१) में संप्रक्षाल्य शब्द है (तपस्वि-वर्णन में)। तीर्थकल्पतरु में 'संप्रक्षालाः' की व्याख्या में 'सद्यः प्रक्षालकाः श्वस्तनभक्षरहिताः' कहा गया है (पृ० १९), अर्थात् जो एक दिन के उपयोगी भोज्य का संग्रह करता है, आगामी दिन के लिए जिसके पास अन्न नहीं रहता, वह 'संप्रक्षालतपस्वी' है।

आहार की अल्पता के विषय में महाभारत (शान्ति०) में भीष्म ने जो कहा था, वह साधकों के लिए ज्ञातव्य है, यथा—

कणानां भक्षणे युक्तः पिण्याकस्य च भारत।
स्नेहानां वर्जने युक्तो योगी बलमवाप्नुयात् ॥ ४३ ॥
भुञ्जानो यावकं रूक्षं दीर्घकालमरिन्दम्।
एकाहारो विशुद्धात्मा योगी बलमवाप्नुयात् ॥ ४४ ॥
पक्षान मासान् ऋतुश्चैतान् संवत्सरानहस्तथा।
अपः पीत्वा पयोमिश्रा योगी बलमवाप्नुयात् ॥ ४५ ॥
(३००।४३–४५)

..ल्पाहार के साथ उपवास-विधि भी आलोच्य है। महाभारत में कहा गया है—

अखण्डमपि वा मासं सततं मनुजेश्वर।
उपोष्य सम्यक् शुद्धात्मा योगी बलमवाप्नुयात् ॥
(शान्ति० ३००।४६)।

मासोपवास, त्रिरात्रोपवास आदि कालावच्छिन्न उपवास भी प्रसिद्ध हैं।

लिंगपुराणीय यतिव्रतों में 'अनशन' की गणना है (१।२९।७८–७९)। मत्स्य० में भी इसी अर्थ में 'अनशक' शब्द आया है (१७५।३५)। मार्कण्डेय० में "निराहारौ यताहारौ, तन्मनस्कौ समाहितौ" (९३।८) कहा गया है। अन्यान्य अनेक स्थलों पर भी इसका उल्लेख आता है, यथा कुमारिका० २३।८ इत्यादि। "तपो नानशनात् परम्" यह सर्वत्र प्रसिद्ध है (शान्ति० १६१।७)।

अल्पाहार में चान्द्रायणव्रत-विधि की भी गणना होती है। इसमें चन्द्रकला के क्रमिक क्षयोदय के अनुसार दूध का क्रमिक अल्पाधिक ग्रहण कर ही रहना

पड़ता है—१६ छटाँक से क्रमशः घटाकर १ छटाँक तक और फिर १ छटाँक से १६ छटाँक पर्यन्त। आजकल केवल दूध से व्रत का पालन असंभव देखकर अन्नग्रास का ग्रहण चान्द्रायण-तप में किया जाता है। पुराणों में विशिष्ट स्थलों पर चान्द्रायण का उल्लेख आया है (नागर० १९५।४; १६९।४१)।

उपवास के कई भेद होते हैं। जैसे एकान्तरोपवास (एक दिन अन्तर), षष्ठाहकालभोजी, त्रिरात्रभोजी इत्यादि (नागर० १९८।५९; १९५।३-४)। उपवास के ऐसे अनेक भेद इस वाङ्मय में यत्र-तत्र मिल जाते हैं[1]।

अन्नग्रहण में असाधारण परिवर्तन—अन्न के परिवर्तन में हम उन उदाहरणों को लेना चाहते हैं जहाँ केवल जल, या दूध, या घी या फल से जीवन धारण कर तप करने की प्रथा का उल्लेख है। शास्त्रों में अप्भक्ष (जलपानकारी) मुनियों का उल्लेख बहुधा मिलता है, यथा—"अब्भक्षा वायु भक्षाश्च .....जुषन्ते पर्वत श्रेष्ठमृषयः पर्वसन्धिषु" (वन० १५९।१६)। अब्भक्ष का अर्थ यह नहीं कि भोजन में जल की प्रधानता है और अन्य द्रव्य भी खाया जा सकता है, बल्कि इसका अर्थ है 'केवल जल पीकर रहना', जैसा कि पतंजलि ने महाभाष्य में समझाया है।[1] अम्बुभोजन का उल्लेख वामनपुराण में है (६०।८) इसका अन्य नाम 'तोयवृत्ति' भी था (लिंग० १।२९।७८-७९)। इस प्रसंग में याज्ञवल्क्यस्मृति (२२।८५) भी द्रष्टव्य है।

केवल दूध पीकर तप करने का उल्लेख भी मिलता है। हमने पहले चान्द्रायणव्रत के प्रसंग में केवल दुग्धाहार का उल्लेख किया है। महाभारत के "अपः पीत्वा पयोमिश्राः योगी बलमवाप्नुयात्" (शान्ति० ३००।४५) वाक्य में 'दूध में मिला हुआ जल' पीने की विधि है।

---

१. हठयोगियों में उपवास की पराकाष्ठा है। वे जब २-३ मास शरीर-रोध कर समाधि में रहते हैं, तब उदर से मल को भी सम्यक् निष्कासित कर देते हैं—'हलचल' प्रक्रिया से। इस अवस्था में शरीर-धातु स्तम्भित होकर जीवित रहता है और निरोध-भंग के बाद वह सप्राण हो जाता है। आधुनिक अज्ञ वैज्ञानिकों के लिए यह समस्या है कि कैसे शरीर को निश्चल कर कोई व्यक्ति ५-६ महीने तक एकासन में रह सकता है!

१. अथवा सन्त्येकपदानि अवधारणानि। तद् यथा अब्भक्षो वायुभक्ष इति। अप एव भक्षयति, वायुमेव भक्षयतीति गम्यते (पस्पशाह्निक)।

अन्नग्रहण-क्रिया के दो विचित्र प्रकारों का उल्लेख प्रायः पुराणादि में मिलते हैं—अश्मकुट्ट और दन्तोलूखल। (मत्स्य० १९५।३५; नागर० १६९। ४१-४३; लिंग० १।३१।२३-२६; वामन० ८९।२४)। इसके अर्थ इस प्रकार हैं—

अश्मकुट्ट—अश्म (=पत्थरों) से अन्न को काटकर खानेवाला; ऐसे काटने वालों को अश्मकुट्ट और कदाचित् अश्मकुट्टी कहा जाता था (द्र० याज्ञवल्क्य-स्मृति ३।४९ की व्याख्याएँ)।

दन्तोलूखलिन्—दन्त ही जिनका उलूखल (पीसने का यन्त्र) है, उनको दन्तोलूखलिन् कहा जाता था (द्र० याज्ञ० ३।४९ की व्याख्याएँ)।

केवल शाकाहार कर तप करने का उल्लेख भी मिलता है (प्रभास० १२। ९)। फलाहार और मूलाहार भी तप के प्रसंग में शास्त्रों में आए हैं। लिंग पुराण में फलवृत्ति शब्द आया है (१।२९।७९; तथा १।६९।२६ भी द्रष्टव्य)।

फलभोजन और फलोपसेवी—ये दो शब्द स्कन्द पुराण में हैं (प्रभास० ३१७।१०९-१११)।

'मूलाहार' शब्द वामनपुराण (६०।८), स्कन्द पुराण (प्रभास० ३१७। १११) इत्यादि में आया है। मूल का अर्थ वृक्षजटा एवं कन्दमूल आदि भी है।

जो सामान्यतः अन्न नहीं हैं, उनका ग्रहण रूप तप—वायु आदि कुछ ऐसे पदार्थ हैं, जिनको अन्न नहीं कहा जा सकता, पर उनका ग्रहण कर तप करने का उल्लेख शास्त्रों में प्रायः मिलता है। ऋषि लोग पर्वतों पर वायुभक्ष होकर रहते थे, महाभारत में इसका स्पष्ट उल्लेख है—(वन० १५९।१६)। वायु० में भी "यस्तिष्ठेदेकपादेन वायुभक्षः शतं समाः" (७१।७३) वाक्य में इसी तप का उल्लेख है।

वायु की तरह धूम पीकर रहने का उल्लेख भी मिलता है। वायु० में कुण्डधूम पीकर रहने का स्पष्ट उल्लेख आया है (९७।११७)। कण से उत्पन्न धूम पीकर तप करने का उल्लेख मत्स्य० में है (४७।८२)। वैखानस-धर्मसूत्र में 'धूमाशन' (धूम का भोजन) को तपस्या में गिना गया है (१।८।१)।

इस विषय में वृक्ष के पत्तों को खाकर तप करने का उदाहरण दर्शनीय है। स्कन्दपुराण में पार्वती-तपस्या का बड़ा मार्मिक वर्णन है। वहाँ कहा गया है—

त्यक्त्वा फलानि चान्नं वा पर्णादा ह्यभवच्च सा।
ततः सार्द्राणि पत्राणि त्यक्त्वा शुष्काणि चाददे॥
(केदार० २१।१५५)

अर्थात् फल और अन्न को छोड़ कर पार्वती ने वृक्ष के पत्र को खाना शुरू किया। उसमें भी वे पहले आर्द्र (= भीगा हुआ, सरस) पत्र और उसके बाद शुष्क पत्र खाकर तप करने लगीं। केवल शुष्क पत्र खाकर तप करना कितना भयंकर है—यह आज सोचा भी नहीं जा सकता।

कालिदास ने 'कुमारसंभव' में इसका उल्लेख किया है। रामायण में भी शीर्ण पत्र खाकर तप करनेवाले ऋषियों का उल्लेख है (१।५१।२६)। वायुपुराण में भी पार्वती-तपस्या के विवरण में पर्णाशन तप की कठोरता का वर्णन है—

आहारमेकपर्णेन एकपर्णी समाचरत्।
पाटलेनैव चैकेन विदध्यादेकपाटला॥ (७२।९)

अर्थात् पार्वती वृक्ष के एक ही पत्र से भोजन करने लगीं और बाद में एक पाटल (व्रीहि या पुष्प विशेष) का ही आहार करने लगीं।

स्कन्द पुराण में अन्यत्र इसी प्रसंग में—'शीर्णविल्वपत्र-भोजन' का उल्लेख आया है (कुमारिका० २०।२७)। उसी प्रकार 'शुष्कपर्ण' खाने का उल्लेख भी मिलता है (प्रभास० ३१७।१०९)।

वामन पुराण में 'मरीचिप' (मरीचि अर्थात् किरण का पान करने वाले) तपस्वियों का उल्लेख है (८९।२४)। पता नहीं इसका ठीक स्वरूप क्या है? हमें हठयोग के ग्रन्थों में सूर्यरश्मि पान करने की विधि नहीं मिली। अनुशासन० १४।५७ गत 'मरीचिपाः' की व्याख्या में नीलकण्ठ कहते हैं—"चन्द्ररश्मिपानेनैव जीवन्तः"। चन्द्ररश्मि का पान कैसे किया जाता था, यह अज्ञात है।

वस्त्रादिसम्बन्धी कठोर नियम—दिगम्बर होकर रहना, शैवाल (सिवार) आदि से शरीर को आवृत करना आदि इस तप में सम्मिलित हैं। शैवाल शोभन का उल्लेख लिंग० में है (३१।२३)। यह शिवाराधन का प्रकार विशेष है—यह जाना जाता है। दिग्वासाः तपस्वियों का उल्लेख भी मिलता है। वल्कलधारण अनुशासन० १४२।१२ में उल्लिखित हुआ है।

अन्न, वस्त्र आदि का अत्यन्त परित्याग 'अपरिग्रहसाधन' के अन्तर्गत है। शास्त्र कहता है कि योगी केवल उतनी ही वस्तु रखेगा, जितने से उसका जीवन धारण हो। 'प्राणयात्रिकमात्रः स्यात्'—यह इस विषय में मनु का अनुशासन है। अधिक द्रव्य का स्वामी होकर रहने से उन द्रव्यों के रक्षणादि के लिए चित्त अधिक चंचल होता है, अतः यथासम्भव अत्यल्प द्रव्य अपने पास रखना चाहिए, यह योगशास्त्रीय अनुशासन है। अपरिग्रह के स्थैर्य होने से पूर्वजन्म का भी

ज्ञान होता है, जैसा कि पतंजलि ने कहा है—'अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथन्तासम्बोधः' (३।३९)।

वासस्थान का त्याग और कष्टकर बाध्य परिस्थिति—लिंग० में शैव तपस्वियों के लिए 'अन्तर्जलेशय' (जल के भीतर रहना) तथा अभ्रावकाश (आकाश के नीचे रहना) का उल्लेख आया है (३१।२३–२६)।

इस विषय में 'पञ्चातप' सहन कर तप करने की प्रथा का बार-बार उल्लेख मिलता है। मत्स्य० में 'पञ्चातपसह' मुनियों का उल्लेख है (१७५।३५)। चारों ओर अग्नि रख कर तथा सूर्यातप में रह कर जो तप करता है उसको 'पञ्चातपसह तपस्वी' कहा जाता है।

बाह्य परिस्थिति की कठोरतम अवस्था का उल्लेख निम्नोक्त श्लोक में है। वसिष्ठ-तप के विवरण में स्कन्द० में कहा गया है—

वर्षास्वाकाशशायी च हेमन्ते सलिलेशयः।
पञ्चाग्नि-साधको ग्रीस्मे..... प्रभास० २।१।१२-१३)।

वर्षाकाल में आकाश के नीचे रहना, हेमन्त ऋतु में जल के भीतर रहना और ग्रीष्मकाल में पञ्चाग्नि का साधन करना कितना कठोर तप है, यह स्वतोबोध्य है। अन्यत्र भी ऐसा श्लोक मिलता है, यथा—"पञ्चाग्निसाधको ग्रीष्मे वर्षास्वाकाशगस्तथा, हेमन्ते जलमध्यस्थः' (प्रभास० ३८।७)। यह प्रकार अनेक स्थलों पर उल्लिखित है। कुमारिका० में भी 'पञ्चाग्नि–जलेशय–स्थण्डिलशय' का उल्लेख है (२३।८-९)[1]।

कष्टकर शारीरिक स्थिति में रहने का अभ्यास—हमने यहाँ 'कष्टकर' शब्द का व्यवहार आधुनिक दृष्टि से ही किया है, पर जान पड़ता है कि हठयोग के अभ्यास से ये परिस्थितियाँ अभ्यासी के लिये सहजसाध्य हो गयी होंगी, यद्यपि यह तो मानना ही होगा कि प्राथमिक अभ्यास काल में ये सब साधन परम कष्टदायक होते थे तथा इन अभ्यासों के साथ आनुषङ्गिक कठोरता का भी सहन करना पड़ता था।

योग के अभ्यास से शरीर को लकड़ी और पत्थर की तरह स्थिर बनाकर तप करने की प्रथा योगशास्त्र में प्रसिद्ध है। वामन० में कहा गया है—

---

१. इस विषय में पार्वतीतप से सम्बन्धित निम्नोक्त श्लोक देखने योग्य है—

दुरिताग्निं च पावाग्निमपांवासमुदक्कृतम्।
अधिगम्य तपस्यन्ती शान्तिं कर्तुं मवस्थिता॥
(अरुणाचल० १२।६३)।

"मुनयः सर्वे काष्ठलोष्टसमाः स्थिताः" (४३।४२)।

स्कन्द० में भी 'काष्ठकुड्यशिलाभूत' (प्रभास० १८।४७) विशेषण आया है, जो इस प्रकार की शारीरिक अवस्था का ज्ञापक है।

'ऊर्ध्वबाहु' तथा 'पैर की एक अँगुली में खड़ा होकर तप करना' भी इस विभाग में सम्मिलित हो सकता है। लिंग० में श्रीकृष्ण की तपस्या के विषय में कहा गया है—

ऊर्ध्वबाहुर्निरालम्बः पादाङ्गुष्ठेष्वधिष्ठितः।
फलाम्बुनिलभोजी च ऋतुत्रयमधोक्षजः॥ (१।६९।७६)

अर्थात् श्री कृष्ण ने फल-जल-वायु भोजन कर ऊर्ध्वबाहु, आलम्बनहीन तथा पादांगुष्ठ में खड़े होकर तीन ऋतुव्यापी तप किया। पादांगुष्ठाग्राधिष्ठित होकर तप करने का उल्लेख अन्यत्र भी मिलता है, यथा—लिंग० (३१।२३-२६), वामन० (८२।२२), स्कन्द० (नागर० २१७।९)।

पादांगुष्ठ में खड़ा होने की तरह एक पैर में खड़ा होकर तप करने का उल्लेख भी वायु० में आया है (७१।७३)। अन्यत्र भी इसका उल्लेख है, यथा—कुमारिका० (२०।२७-२८), प्रभास० (६६।१०)। ऊर्ध्वबाहु की तरह 'सिर नीचे कर' तप करने का उल्लेख भी वायु० में मिलता है (९७।११७)।

शरीर छेदनादिपूर्वक तपश्चरण—शरीर का मांस और रक्तदान करके भी तप किया जाता था—यह पुराणादि में स्पष्ट कथित है। मांसदान का उल्लेख स्कन्दपुराण में आया है (केदार० १३।४३)। मार्कण्डेय० में भी सुरथ-समाधि-तपवर्णन में "ददतुस्तौ बलिं चैव निजगात्रासृगुक्षितम्" (९३।७) कहा गया है, जहाँ अपने शरीर का रक्तदान कहा गया है। रक्तदान का उल्लेख कदाचित् ही मिलता है। रावण की तपस्या भी इस प्रसंग में स्मरणीय है। उन्होंने अपना शिर काट कर शिव को प्रसन्न किया था, यह प्रसिद्ध है।

लकड़ी आदि से कर्णछिद्र को आच्छादित कर (जिससे बाह्य शब्द न सुनाई दें) तप करने की प्रथा भी थी। जैसा लिंग० में कहा गया है—

"काष्ठशङ्कुभिरन्योन्यं श्रोत्राणि पिदघु र्द्विजाः" (२।१।३२)।

शारीरिक कठोरता का चरमोत्कर्ष वह है, जिसमें दीर्घकाल रुद्धप्राण होकर रहने के कारण शरीर के चारों ओर वल्मीक (दीमकों का मिट्टी-घर) हो जाता था और उस वल्मीक में रह कर योगी ध्यान-परायण रहता था। हम रामायण-कार वाल्मीकि के विषय में जानते हैं कि उन्होंने ऐसा ही तप किया था। वनपर्व में भी ऐसे ही एक तपस्वी का उल्लेख आया है, यथा—

स वल्मीकोऽभवत् ऋषि र्लताभिरभिसंस्कृतः ।
कालेन महता राजन् समाकीर्णः पिपीलकैः ।।
स तथा संवृतो धीमान् मृत्पिण्ड इव सर्वतः ।
तप्यते स्म तपो घोरं वल्मीकेन समावृतः ।। (१२२।३-४)

अर्थात् उस ऋषि का शरीर वल्मीक में परिणत हो गया तथा लताओं से परिवेष्टित हो गया, और बाद में उसमें पिपीलक का घर बन गया, मानो वे एक मृतपिण्ड हो गए हों, और इस रूप में उन्होंने तप किया। इस तप का अन्य उदाहरण लिंगपुराग में है (१।४२।३)।

शरीर को ऐसा निष्प्राण कैसे बनाया जा सकता है—यह हठयोग में विवृत है।[1] आजकल के शरीर विज्ञानी यह तथ्य नहीं समझ पाते तथा वे इसको काल्पनिक समझते हैं। आधुनिक विज्ञानी तो हृत्पिण्ड की क्रियाओं का भी रोध नहीं कर सकता, और अपने को शरीरवैज्ञानिक कहता है। भारतीय आचार्यों की यह मान्यता है कि जब तक शरीर का रोध नहीं किया जाएगा, तब तक कोई भी सूक्ष्म आत्मज्ञान चित्त में उदित नहीं हो सकता, क्योंकि शारीरिक जड़ता से ज्ञान-शक्ति आच्छादित रहती है और जाड्यापन्न ज्ञानशक्ति कभी-कभी सम्यक् रूप से आत्मवस्तु को जान नहीं सकती। यही कारण है कि आधुनिक वैज्ञानिकों का ज्ञान कुछ-न-कुछ सदोष अवश्य रहता है।[2]

---

१. हठयोग-शास्त्र में कुछ ऐसी मुद्राएँ भी हैं, जिनमें शारीरिक कष्ट अपनी चरमसीमा तक पहुँच जाता है, पर वैसी स्थिति में जाने के बाद योगी को परम सुख मिलता है। इन मुद्राओं का अभ्यास अतिकष्टसाध्य है और कभी भी ग्रन्थों को देख कर इन मुद्राओं का अभ्यास नहीं करना चाहिये। इन मुद्राओं में खेचरी मुद्रा बड़ी विलक्षण है। इसमें जिह्वा को बढ़ाकर तालु में ठूँसना पड़ता है, जिससे चिन्ता का शारीरयन्त्र रुद्ध हो जाता है। इन क्रियाओं का विशेष विवरण यद्यपि हठयोगीय ग्रन्थों में है, पर उन विवरणों को देख कर किसी को इन क्रियाओं का अभ्यास नहीं करना चाहिए।

२. यह हर्ष का विषय है कि जड़विज्ञानी भी ऐसे प्रयोग करने में अब समर्थ हो रहे हैं, जिनसे योगशास्त्रोक्त शरीर-विद्यासम्बद्ध अनेक सूक्ष्म मत प्रमाणित हो रहे हैं। खेद है कि हम भारतवासी अपने पूर्वजों की प्रशंसा करने के अतिरिक्त और कुछ नहीं करते !!

: १५ :

इतिहास-पुराण में वन-विवरण

इतिहास-पुराण में वन, उपवन आदि के विषय में प्रचुर सामग्री मिलती है, भूगोल विद्या की दृष्टि से जिसका अध्ययन अपेक्षित है। इस प्रकरण में वन-सम्बन्धी विवरणों का एक सामान्य संकलन प्रस्तुत किया जा रहा है।

वन की महिमा—महाभारत में वन की महिमा इन शब्दों में व्यक्त की गई है—

वननित्यैर्वनपरैर्वनस्थैर्वनवासिभिः ।
वनं गुरुमिवासाद्य वस्तव्यं वनजीविभिः ॥
(अनुशासन० १४२।१३)।

इस श्लोक में वन को गुरु मानकर वन में रहने के लिए उपदेश दिया गया है। धर्मसूत्रों में भी मोक्षधर्माभ्यासी के लिये 'अरण्यनित्य' होने का आदेश मिलता है।

वन के पर्याय आदि—वन के लिये कई अन्य विशिष्ट शब्द भी इतिहास-पुराण में प्रयुक्त होते हैं।[1] वन और कानन पर्यायवाची भी हैं, क्योंकि 'आनन्द वन' (काशी) के लिए 'आनन्दकानन' शब्द का प्रयोग पुराणों में आया है। पर इन दोनों के अर्थों में अवश्य ही कुछ भेद भी था, क्योंकि एक ही वाक्य में इन दोनों शब्दों का व्यवहार है। यथा—'सशैलवन-कानना मेदिनी' (मत्स्य० १।२९) अतः इनमें कुछ भेद रहा होगा, यह स्पष्ट है, यद्यपि पुराणों में भेद प्रदर्शक लक्षण नहीं मिलते। अरण्य और वन का समार्थक प्रयोग भी है, क्योंकि 'वृन्दावन' के लिए 'वृन्दारण्य' प्रयोग मिलता है। उसी प्रकार जिसको वेदारण्य

---

१. वन के लिए अटवी (स्कन्द०, केदार० ३३।१४८), उद्यान (भागवत० ५।१६।१५), कानन (स्कन्द० सेतु० १७।५३) आदि शब्द आए हैं। महावन (वायु० ३८।७८), वन का अनुबन्ध (वायु०), वनखण्ड (वायु० ३८।७०), वनिका (मत्स्य० ३१।१-२), आक्रीड़ (वायु० ४२।७९-८१) तपोवन, उपवन भी प्रयुक्त हुए हैं। वन के लिए 'गहन' शब्द भी पुराणों में आया है (लिंग० १।२९।५)।

कहा गया है (स्कन्द० सेतु० १७।४५), उसको वेदकानन भी माना गया है (स्कन्द० सेतु० १७।१३) । इस प्रकार के शब्दों में जो सूक्ष्म अर्थभेद हैं, उनकी आलोचना पृथक् प्रकरण में की जाएगी ।

वन के लिए 'वनिका' शब्द भी पुराणों में आया है (अशोक वनिका-मत्स्य० ३१।१-२)। इस स्थल से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि वनिका क्षुद्रतम वन है ।

उद्यान भी वन के लिए आया है । काशी के लिए जैसे 'आनन्दवन' का प्रयोग है, उसी प्रकार 'विश्वेश्वरोद्यान' शब्द भी मत्स्यपुराण के वाराणसी-वर्णन में आया है । इस प्रकार 'आक्रीड़वन' (अवन्ती क्षेत्र० ४४।२७), 'मृगयावन' (अवन्ती क्षेत्र० ५०।९) आदि शब्द भी पुराणों में हैं । स्कन्दपुराण में 'वनत्रय' और 'अरण्यत्रय' की पृथक् पृथक् गणना है (६।१८९।१३,१६), जो इन दोनों के भेद का ज्ञापक है ।

वायु० में वन के चारों ओर 'कानन' को बात आई है, (३८।२९), जिससे यह सूचित होता है कि वन बहुत घना जंगल है और कानन उस घने जंगल के चारों ओर का असाधारण वन है । पर यह अर्थ अभी विवादास्पद है। वायु० में "स्थली मनोहरा तत्र नाना-वन-विभूषिता" (३८।६७) कहा गया है । यदि स्थली का ठीक स्वरूप विज्ञात हो जाय, तो 'वन' का स्वरूप भी अधिकतर स्पष्ट होगा ।

वन घटित नाम—कभी-कभी 'वन' शब्द मूल नाम में पृथक् रूप से और कभी नित्य ही लगता है । 'वृन्दावन' इसका एक उदाहरण है । विष्णुपुराण में एक स्थल पर 'वृन्दावन वन' ऐसा कहा गया है (५।२५।४) । 'वृन्दा का वन' इस अर्थ में तो वृन्दावन शब्द ही होता है और जब 'वृन्दावन' नाम संज्ञा शब्द की तरह ही प्रसिद्ध हो जाता है, (वृन्दावन का वन, यह अर्थ लुप्त-सा होकर 'वृन्दावन' पूरा एक अवयवार्थ-निरपेक्ष नाम बन जाता है) तब 'वृन्दावन नामक वन' इस अर्थ में 'वृन्दावन वन' ऐसा कहना पड़ता है । वनों के नाम 'संज्ञा' कहलाते हैं, यह व्याकरण में प्रसिद्ध है । संज्ञा-शब्द व्याकरण की दृष्टि में अपना विशिष्ट स्थान रखता है अतः उसका सामान्य विचार करना यहाँ अप्रासंगिक नहीं है ।

वन की संज्ञाओं के विषय में पाणिनि के कुछ अनुशासन मिलते हैं, जिनकी यथार्थता पौराणिक प्रयोगों से समर्थित होती है । यथा, पाणिनि का सूत्र है— 'वनं पुरगा-मिश्रका-सिघ्रका-शारिका-कोटराग्रेभ्यः (८।४।४) । [पुरगा, मिश्रका आदि शब्द के बाद यदि वन शब्द हो, तो वन का न-कार 'ण' हो जाता है,

यदि वन-घटित शब्द का अर्थ किसी वन का नाम हो]। इस सूत्र से पुरगावण, मिश्रकावण, सिध्रकावण, शारिकावण, कोटरावण और अग्रेवण—ये वननाम सिद्ध होते हैं। इसके बाद ८।४।५ सूत्र से और भी कतिपय वनों के नाम सिद्ध होते हैं। यथा—शरवण, इक्षुवण, प्लक्षवण, आम्रवण, कार्ष्यवण, खादिरवण, पीयूक्षावण इत्यादि (इनमें जो वन के न कार का 'ण' कार होता है, वह संज्ञा-नाम में भी होता है, और जब वन का नाम नहीं होता, बल्कि यौगिक शब्द होता है, तब भी 'ण' होता है)। इसके बाद पुनः ८।४।६ सूत्र से दुर्वावण, शिरीषवण आदि शब्द बनते हैं, जिनमें संज्ञा का सम्बन्ध नहीं है और इस सूत्र से निष्पन्न शब्द नियमतः वन के नाम नहीं होते, बल्कि यौगिक शब्द होते हैं। सूत्रीय नियम का प्रतिषेध भी वार्त्तिककार ने कहा है—जिससे देवदारु-वन आदि शब्दों में 'न' का 'ण' नहीं होता।

इन शब्दों से सम्बन्धित शास्त्रीय नियमों के उदाहरण पुराणों में मिलते हैं, यथा—

आम्रवण (मार्कण्डेय० १०४।२७।२९), यहाँ णत्व हुआ है (८।४।५ सूत्र से)।

देवदारुवन (वायु० ७७।९१)। यहाँ वार्त्तिक बल से 'णत्व' नहीं हुआ।

शरवण (वामन० ५७।१८; वायु० ७२।३२), यहाँ ८।४।५ सूत्र से 'णत्व' हुआ है।

यतः पाणिनि ने उपर्युक्त सूत्रों में 'संज्ञा' शब्द का व्यवहार किया है, अतः यह अर्थ निर्गलित होता है कि वनघटित शब्द दो प्रकार के होते हैं। प्रथम—कुछ वनशब्द-घटित शब्द वनों की संज्ञा (= नाम) होते हैं, अर्थात् 'आम्रवण' का अर्थ 'आम्रवृक्षों से सम्बन्धित कोई भो वन' नहीं हैं, बल्कि एक विशिष्ट वन का नाम है, चाहे उसमें आम्रवृक्ष कम हों या अधिक हों या न हों। पर जब 'आम्रवन' कहा जायगा तब उसका अर्थ होगा आम्रवृक्षों का कोई भी वन। यह नियम सार्वत्रिक नहीं है, यह पाणिनि ने 'असंज्ञायामपि' (८।४।५) कह कर स्पष्ट सिद्ध कर दिया है।

वनों का नामकरण—वनों के नामकरण के विषयमें एक सामान्य नियम यह था कि जिस वन में किसी महापुरुष ने तप किया, उस वन का नाम उसके पुण्य नाम से पड़ जाता था। यदि उसका अन्य कोई नाम पहले था, तो वह अव्यवहार्य होकर क्रमशः नष्ट हो जाता था। उदाहरणार्थ—'अदितिवन' को लिया जा सकता है, जहाँ अदिति ने तप किया था (वामन० ३४।१२)। यह स्पष्ट है कि अदितितप के कारण ही इसका नाम 'अदिति-वन' पड़ गया। उसी प्रकार आपव

के वन को 'आपव वन' कहा गया (मत्स्य० ४३।४१।४२; वायु० ९४।४३।४५)। मधुवन का नाम भी मधु दैत्य के वासस्थान के कारण पड़ गया था (विष्णु० १।१२।३)। उसी प्रकार वसिष्ठवन भी वसिष्ठ के नाम के अनुसार है (वायु० ९४।४३-४४)।

वृक्षप्राधान्य के अनुसार भी वनों का नामकरण किया गया है, जैसे आम्रवन (मार्कण्डेय० १०४।२०-२१), पद्मवन (वायु० ३७।६), बिल्ववन (वायु० ३७।९), किंशुकवन (वायु० २८।२९), द्राक्षावन, कदलीवन, दाड़िमवन, खर्जूरवन (वायु० ३८।६८-६९) इत्यादि। यह नामकरण 'व्यपदेशस्तु भूयस्त्वात्'—इस न्याय से ही किया गया है, यह स्पष्ट है।

स्थान-नाम के अनुसार भी वनों के नाम मिलते हैं, जैसे हिमवद्वन (स्कन्द० प्रभासक्षेत्र० २२।१७२), हिमभूभृत् उपवन (मार्कण्डेय० ५४।२७३), राजगृह वन जो गया में था (गरुड० १।८३।१; वायु० १०८।७३), रैवत पर्वतस्थ रैवतोद्यान (विष्णु० ५।३६।१२), पुष्करतीर्थस्थ पुष्करारण्य (वामन० ६५।३१), कुरुक्षेत्र वन (वामन० २७।१२) इत्यादि।

वन का तीर्थरूप—वन को 'तीर्थ', 'क्षेत्र', 'पुण्यायतन' आदि के रूप में भी माना गया है। भारत का यह उदार दृष्टिकोण 'वनमहोत्सव' करने वाले सज्जनों को भी मान्य होना चाहिए। कुछ पुण्यवनों के नाम यहाँ दिए जा रहे हैं—

गुरुविशालवन (जो कामरूप में हैं) को एक सिद्ध क्षेत्र कहा गया है (मार्कण्डेय० १०९।५७-५८)। गृध्रवन—एक तीर्थ (कूर्म० उत्तरार्ध ३७।३८)। देवदारु वन को श्राद्धयोग्य स्थान (वायु० ७७।९१) और तीर्थ भी कहा गया है (कूर्म० २।३७।५३)। नैमिषारण्य एक तीर्थ भी है, यह तो सर्वत्र कहा गया है। पञ्चवन को श्राद्धयोग्य स्थल माना गया है (वायु० ७७।९९)। मगधारण्य एक तीर्थ है (कूर्म० २।३७।९)। सिद्धवन भी तीर्थ है (मत्स्य० २२।५५)।

कुछ वनों को अन्य वनों की अपेक्षा अधिक पुण्यजनक माना जाता है, जैसे वामनपुराण में नन्दनवन के विषय में कहा गया है—"वनेषु-पुण्येषु हि नन्दनं यथा" (१२।४६)। पुराणकार की दृष्टि में नन्दनवन की श्रेष्ठता क्यों है, यह विचार्य है। इस वन का सम्बन्ध देव से है, यह ज्ञातव्य है।

केवल इतना ही नहीं, अधिष्ठित देव के अनुसार वन का विशेषण भी दिया गया है, जैसे शरवण के लिए 'रौद्र' (रुद्र अर्थात् शिव से सम्बन्धित) विशेषण का प्रयोग (वामन० ५७।१५)।

'वन' को तीर्थ के अंगविशेष की तरह भी माना गया है। स्कन्दपुराण में कहा गया है कि कोई तीर्थ श्मशान है, कोई ऊषर है, पर यह महाकालवन-तीर्थ एकाधार में श्मशान, ऊषर, क्षेत्र, पीठ और वन भी हैं (अवन्तीक्षेत्र० १। ४०-४२)। इससे पूर्वोक्त अनुमान सिद्ध होता है।

वन में अधिष्ठित देव—कुछ ऐसे भी वन हैं, जिनमें किसी देव आदि का अधिष्ठान या स्थान पुराणकारों ने माना है। इसलिए इन वनों को बहुत पवित्र भी माना जाता था, यथा—

दण्डकवन—वनस्पति (देव) का अधिष्ठान (वामन० ९०।२६)।

देवदारुवन—दारुक नाम के महादेवावतार का स्थान (लिंग० २४।१०१)।

माधववन—सुगन्धा देवी का स्थान (मत्स्य० १३।३७)।

वृन्दावन—राधा का अधिष्ठान (मार्कण्डेय० १३।३८)।

शालवन—वन (देव) का अधिष्ठान (वामन० ९०।३२)।

शिखण्डिनी वन—महादेव के शिखण्डी अवतार का स्थान (लिंग० १।२४।८८)।

सैन्धवारण्य—सुनेत्र देव का अधिष्ठान (वामन० ९०।३१)।

हैतुकवन—महादेवावतार अत्रि का अधिष्ठान (लिंग० १।२४।५६)।

प्रियालवन क्षेत्र—अम्बिकापति शिव का स्थान (स्कन्द० अरुणा० १५।५८)।

रक्तकानन क्षेत्र—शिवस्थान (स्कन्द० अरुणा० १५।७८)।

श्वेतारण्य—शिवस्थान (स्कन्द० अरुणा० १५।५३)।

भिल्लीवन—महायोग का अधिष्ठान (वामन० ३०।२४)।

वनों का वर्णन—अनेक प्रसिद्ध वनों का रोचक वर्णन पुराणों में उपलब्ध होता है। हम यहाँ कतिपय वर्णन-स्थलों का निर्देश दे रहे हैं और पाठकों के मनोरंजनार्थ दो-एक विशेषणों का उद्धरण भी देंगे। हम चाहते हैं कि कि पुराणरसिक पाठक निर्दिष्ट स्थलों का अध्ययन कर ही पौराणिक वन-वर्णन का रस ग्रहण करें।

बहुलोदकशाड्वल वन (स्कन्द, अवन्तीक्षेत्र० ५६।२०)—यहाँ जल और नवतृण प्रचुर मात्रा में है।

नील देवदारुवन (मत्स्य० ११७।४)। इसी प्रकार सुमेरु पर्वत के एक शिखर के पास अवस्थित किसी वन के वर्णन में स्कन्दपुराण में कहा गया है—'वहाँ के सभी कानन उत्कृष्ट मृगनाभिगन्ध से आमोदित हैं, वहाँ के लतागृह

रतिस्थान हैं, वे सिद्ध विद्याधरों के आश्रय हैं और प्रवीण किन्नरों के कण्ठ-स्वर से निनादित हैं (अवन्ती क्षेत्र० १।१५।१६)।

पारिजात वन के विशेषण में 'रुक्म' (=सुवर्ण वर्ण वाला) शब्द आया है (वायु० ११२।३५)। शरवण को भी 'रुक्म' कहा गया है—शिव को ज्योति के कारण (वामन० ५७।१९)। विन्ध्यगिरिस्थ वन वर्णन (काशी खण्ड०), बिल्ववन, श्री वन और चम्पकवन का वर्णन (वायु० ३७ अ०) भी द्रष्टव्य है।

वायु० में शरवण पर 'शुभ्रं शरवणं नाम चित्रं पुष्पितपादपम्' (७२।३२) कहा गया है।

किंशुक वन के विषय में वायु० ने उसके गन्ध की प्रशंसा की है—"यस्य गन्धेन दिव्येन वास्यते परिमण्डलम्" (३८।३९)। ऐसा विवरण क्वचित् ही मिलता है।

वन में घटित विशिष्ट घटनाएँ—पुराणों में ऐसी अनेक घटनाओं का विवरण है, जो वनों में घटित हुई थीं। नीचे कुछ ऐसी घटनाओं का उल्लेख मात्र किया जा रहा है। पूर्ण विवरण तत्-तत् स्थलों में द्रष्टव्य है—

अलकास्थ चैत्ररथवन में पुरूरवाः ने उर्वशी के साथ विहार किया था (विष्णु० ४।६।२९; वायु० ९१।६८)। अशोक वनिका में ययाति ने वृषपर्वा की पुत्री को रखा था (मत्स्य० ३१।१।२)। आपव वन का दहन (मत्स्य० ४४।१–११; वायु० ९५।१–१३)। उमा वन में राजा सुद्युम्न स्त्री में परिणत हुए थे (वायु० ८५।२५–२८)। दण्डक वन की घटना तो रामायण में प्रसिद्ध ही है। द्वैतवन सम्बन्धी घटना भी महाभारत में प्रसिद्ध है। नैमिषारण्य में कई बार विशाल यज्ञ अनुष्ठित हुआ था, यह पुराण प्रसिद्ध है। महाभारत में भी इसका उल्लेख है—"नैमिषारण्ये शौनकस्य कुलपतेः द्वादशवर्षिके सत्रे" (आदि० १।१)।

कभी-कभी वन के नामों में पर्यायवाची शब्दों का भी व्यवहार मिलता है। जैसा उमावन (वायु० ८५।२५–२८) को स्कन्दपुराण में गौरीवन कहा गया है, ऐसा प्रतीत होता है (१।३।६।८१), इसका कारण स्पष्ट है।

वन विचार के प्रसंग में वृक्ष, और पुष्प पर भी विचार होना चाहिए। पुराणों में स्थान-स्थान पर इन दोनों की सूची दी हुई है, यथा ७४ वृक्षों की सूची (प्रभास क्षेत्र० ३२७।२–११; १९६।१५ से कुछ श्लोक इत्यादि), पुष्पों की सूची (प्रमाण क्षेत्र० अध्याय १५ इत्यादि)।

वनों की संख्या—पुराणों में प्रायः किसी-किसी विशेष स्थानों से सम्बन्धित पर्वत, नदी आदि की संख्या भी दी गयी है, जैसे जम्बूद्वीप के पर्वतों के

विषय में 'अष्टोत्तरमहाशैलाः तथाष्टवरपर्वताः' (वायु० ४२।८१) कह कर महाशैल और पर्वतों की संख्या स्पष्ट दो गयी है। स्कन्द पुराण में भी नदी संख्या पर "सहस्रविंशतिश्चैव षट्शतानि तथैव च" (कुमारिका० ११।५०) कहा गया है। उसी प्रकार प्रत्येक वर्ष (द्वीपों का खण्ड) में कितने नदी, पर्वत आदि हैं उनकी संख्या भी पुराणान्तर्गत भुवनकोशों में दी हुई है। वन के विषय में यद्यपि इस प्रकार प्रतिद्वीपान्तर्गत संख्या नहीं मिलती, तथापि कहीं न कहीं विभिन्न दृष्टियों से वन-गणना में संख्या का व्यवहार किया गया है। नीचे कुछ उदाहरण दिए जा रहे हैं—

मेरुपर्वत के पास चार देवोद्यान हैं—नन्दन, चैत्ररथ, वैभ्राज और सर्वतोभद्र, यह भागवत (५।१६।१५) तथा अन्यान्य पुराणों में भी कहा गया है। वनों की ऐसी गणना दुर्लभ है, पर अन्यान्य प्रकार की गणनाएँ मिलती हैं, जैसे—अरण्यत्रय=पुष्करारण्य, नैमिषारण्य और धर्मारण्य (स्कन्द० ६।१८९।१३); वनत्रय=वृन्दावन, खाण्डववन और द्वैतवन।

कहीं-कहीं नवारण्य (नौ अरण्य) का उल्लेख भी आया है। इस विषय में पूर्वाचार्यों की गणना इस प्रकार थी—

"सैन्धवं दण्डकारण्य जम्बूमार्गं च पुष्करम्।
उत्पलारण्यमारण्यं नैमिषं कुरुजाङ्गलम्।
हेमदमर्बुद चैव नवारण्याः प्रकीर्तिताः॥"

वन के विषय में पौराणिक निर्देश—वनों के उल्लेख में सम्बन्धित भौगोलिक तथ्य भी (आयतन इत्यादि) दिए हुए रहते हैं, जिनसे वन-सम्बन्धी भौगोलिक ज्ञान भी हो जाता है। नीचे इस प्रकार के कुछ उदाहरण दिए जा रहे हैं—

नागेश्वरतपोवन—नर्मदाक्षेत्र में गर्गेश्वर तीर्थ के पास है (मत्स्य० १९१।८३) (तपोवन वन में ही आता है)।

पुण्यशीतवन—यह कुरुक्षेत्र के अन्तर्गत है (वामन० ३४।५)। कुरुक्षेत्रान्तर्गत अन्यान्य अनेक वनों का भौगोलिक विवरण वामनपुराण में है।

अरविन्दवन—गयास्थ मुण्डपृष्ठपाद पर्वत के ऊपर (गरुड० १।८६।५)।

काम्यकवन—इसकी पूर्व दिशा में एक कुञ्ज था; इतनी छोटी बात भी पुराण में दी गई है (वामन० ४२।१)।

चम्पकवन—गरुडपुराण में इसकी स्थिति के विषय में कहा गया है—

"गयाशीर्षाद् दक्षिणतो महानद्याश्च पश्चिमे, तत् स्मृतं चम्पकवनं तत्र पाण्डु-

शिलास्ति हि।" गयाशीर्ष के दक्षिण और नहानदी के पश्चिम में यह वन है। यहाँ पाण्डुशिला है।

महाकालवन—यह अवन्तीक्षेत्र है। इसका परिमाण एक योजन है, यह स्कन्द-पुराणान्तर्गत अवन्तीक्षेत्रमाहात्म्य के आरम्भ में कहा गया है।

द्वैतवन—सरस्वती नदी यहाँ प्रवाहित है (वामन० ३२।४)।

धर्मवन—हिमवत्पृष्ठ पर यह वन है (कूर्म. १।१४।२६)।

ब्रह्मारण्य—गयास्थ मयनदी के पश्चिम में है (गरुड० १।८३।४०)।

शरवण—उदयगिरि में स्थित तथा शतयोजन परिमाणयुक्त (वामन. ५७-१५)

नागवन—वायुपुराण में कहा गया है—

कौशिक्याद्या समुद्रात्तु गङ्गायास्तदनन्तरम्।
अञ्जनस्यैवमूलस्य प्राच्यां नागवनं तु तत्॥

सुप्रतीक वन—"उत्तरात् तस्य विन्धस्य गङ्गाया दक्षिणे च यत्, गंगोद्भेदात् करूषेभ्यः सुप्रतीकस्य तत् वनम्" (वायु० ६९।२४१)। यहाँ इस वन की उत्तर दक्षिण दिशा से संबंधित विन्ध्य-गंगा का नाम भी है।

कर्दमाश्रम के चारों ओर जो वन है, उसके लिए 'समन्ताद् योजनशतं तद्वनं परिमण्डलम्' कहा गया है (वायु० ३८।७)। गोलाकार के कारण दैर्घ्यादि न कह कर परिधि का नाम कहा गया है।

: १६ :

इतिहास-पुराण में उद्भिद्-विषयक कुछ विशिष्ट निर्देश

चिरकाल से ही इस देश के लोकमानस में वृक्ष पर असाधारण श्रद्धा की दृष्टि रही है और यहाँ के निवासी वृक्षों को चेतन मानकर उसका लालन-पालन करना अपना धार्मिक कर्त्तव्य समझते हैं। वे वृक्ष की लौकिक उपादेयता ही नहीं समझते, बल्कि वृक्षों पर पूज्य दृष्टि भी रखते हैं, इतिहास - पुराण में इस विषय में विपुल सामग्री सुरक्षित है। वृक्षों की उपादेयता-अनुपादेयता, कौन वृक्ष छेदनीय है, कौन छेदनीय नहीं, वृक्षों से लौकिक विशिष्ट लाभ—इत्यादि विषयों पर इन ग्रन्थों में जो मत मिलते हैं, परीक्षण-पूर्वक उन मतों की उपयुक्तता को जान कर उनका यथासम्भव उपयोग करना चाहिए। यहाँ इस विषय में एक सामान्य विचार प्रस्तुत किया जा रहा है।

वृक्ष की सृष्टि और उसका मुख्यत्व—भारतीय दृष्टि में वृक्ष चेतन जीव है, इसमें आचार्यों में मतभेद नहीं है। पुराणों के सृष्टिप्रकरण में वृक्षोत्पत्ति को 'मुख्य सृष्टि' (मुख्य सर्ग) शब्द से कहा गया है। ब्रह्माण्ड-पुराण में इस विषय का एक विवरण मिलता है—

सर्वतस्तमसा चैव बोजकुम्भलतावृतः।
बहिरन्तश्चाप्रकाशस्तथा निःसंज्ञ एव च॥
यस्मात् तेषां कृताबुद्धिर्दुःखानि करणानि च।
तस्मात् ते संवृतात्मानो नगा मुख्याः प्रकीर्तिताः॥–(१।५।३३-३४)।

इन श्लोकों से पता चलता है कि वृक्ष वह चेतन प्राणी है जो तामस अज्ञान से बाह्यतः आवृत्त है, यद्यपि अन्तर में वह ज्ञानवान् है। वृक्ष को इसीलिए 'संवृतात्मा' कहा जाता है। इसका दूसरा नाम 'मुख्य' है (इस नाम का कारण यथास्थान कहा जाएगा)।[1]

---

१. यह प्रकरण कूर्म० १।७।३–५ और वायु० ६।३८–४० में भी है। शब्द प्रयोग भी सर्वत्र एकरूप है।

इस प्रसंग में विष्णुपुराण का मत भी आलोच्य है। वहाँ कहा गया है कि उद्भिद् (स्थावर) सर्ग पाँच भागों में विभक्त है, तथा यह अप्रतिबोधवान है (मैं कौन हूँ ऐसा ज्ञान वृक्षों में नहीं है.)। शब्दादि बाह्यविषय एवं सुखादि आन्तर विषय में यह प्राणी ज्ञानशून्य है। संवृतात्मा=मूढ़स्वभाव। श्लोक इस प्रकार है–

पञ्चधावस्थितः सर्गो ध्यायतोऽप्रतिबोधवान्
बहिरन्तोऽप्रकाशश्च संवृतात्मा नगात्मकः
मुख्या नगा यतश्चोक्ता मुख्यसर्गस्ततस्त्वयम् (१।५।६-७)

यहाँ टीकाकार श्रीधर स्वामी कहते हैं कि 'वृक्ष-गुल्म-लता-वीरुत्-तृण'–– यह पाँच स्थावर के भेद हैं। स्वामी ने यह भी सूचना दी है कि पर्वतों की सृष्टि वृक्षों के पहले हुई थी।

इस विषय में भागवत का वाक्य भी द्रष्टव्य है––

सप्तमो मुख्यसर्गस्तु षड्विध स्तस्थुषां च यः।
वनस्पत्योषधिलतात्वक्सारा वीरुधो द्रुमाः।
उत्स्रोतसस्तमःप्राया अन्तस्पर्शाविशेषिणः॥ (३।१०।१८-२०)

यहाँ भागवत की टीका में श्रीधर स्वामी कहते हैं कि––स्थावर सृष्टि को मुख्य सर्ग इसलिए कहा जाता है क्योंकि वह 'मुखमिव प्रथमं कृतः'। स्थावर सृष्टि की प्राथमिकता के औचित्य पर जड-वैज्ञानिकों का भी ऐकमत्य है, यह ज्ञातव्य है।

उद्भिद् का लक्षण––उद्भिद् या उद्भिज्ज का लक्षण है 'भूमिम् उद्भिद्य जायते वृक्षादिकम्' (शंकरभाष्य रत्नप्रभा ३।१।२१)। महाभारत में और भी स्पष्टीकरण किया गया है––"उद्भिज्जा जन्तवो यावच् शुक्लजीवा यथा तथा, अनिमित्तात् सम्भवन्ति" (अनुशासनपर्व)। इस श्लोक से स्पष्टतया ध्वनित होता है कि वृक्ष जीव हैं[1] तथा वे अकस्मात् प्रादुर्भूत होते हैं। वस्तुतः एक मत भी था कि भूमि या उदक का भेदन कर जो उत्पन्न होता है, वह उद्भिद् है। इस दृष्टि से उद्भिद् के दो भेद होते हैं––स्थावर उद्भिद् और जंगम उद्भिद्। पहले स्थावर उद्भिद् का लक्षण कह दिया गया है। जंगम उद्भिद् के विषय में रत्नप्रभाकार ने कहा है––"उदकम् उद्भिद्य यूकादि जङ्गमम्"।

---

१. तु० भित्त्वा तु पृथिवीं यानि जायन्ते कालपर्ययात्।
उद्भिज्जानि च तान्याहुर्भूतानि द्विजसत्तमाः॥ (महाभा०)

जल का भेदन पूर्वक उत्पन्न होने के कारण युका आदि जंगम उद्भिद् हैं।[1]

चतुर्विध प्राणियों का अन्यतम उद्भिद्--इतिहास-पुराण में चार प्रकार के प्राणी माने गए हैं--जरायुज, अण्डज, स्वेदज तथा उद्भिज्ज (उद्भिद्)। इन चार प्रकार के प्राणियों में एक दूसरे से क्या भेद है, इस पर महाभारत में एक असाधारण उल्लेख आया है—

एवं चतुर्विधां जातिमात्मा संसृत्य तिष्ठति।
स्पर्शेनैकेन्द्रियेणात्मा तिष्ठत्युद्भिजेषु वै॥
शरीरस्पर्श-रूपाभ्यां स्वदजेष्वपि तिष्ठति।
पञ्चभिश्चेन्द्रिय-द्वारैर्जीवन्त्यण्डजरायुजाः॥
(अनुशासन० २२७।१३-१४)।

अर्थात् अण्डज, जरायुज आदि सभी प्राणियों में आत्मा है। उद्भिद् में आत्मा केवल स्पर्शेन्द्रिय से अपने को व्यक्त करती है। स्वेदज प्राणियों में इसी प्रकार शरीरस्पर्श और रूप से अपने को व्यक्त करती है। अण्डज-जरायुजों में पाँचों इन्द्रियाँ सक्रिय रहती हैं। ये चार प्रकार के प्राणी किस रूप से उत्पन्न होते हैं, इस पर भी अनुशासन० में कहा गया है--

तथाभूम्यम्बुसंयोगाद् भवन्त्युद्भिदजाः प्रिये।
शीतोष्णयोस्तु संयोगाज्जायन्ते स्वेदजाः प्रिये॥
अण्डजाश्चापि जायन्ते संयोगात् क्लेदबीजयोः।
शुक्लशोणितसंयोगात् संभवन्ति जरायुजाः॥
(२२७।१५-१६)

---

१. उदयनाचार्य ने किरणावली में उद्भिद् को 'अतिमन्द अन्तःसंज्ञ' कहा है (पृ० ५७)। गुणरत्न ने षड्दर्शनसमुच्चयवृत्ति में कहा है—"पुरुषशरीर-तुल्यत्वात् सचेतनो वनस्पतिः"। चक्रपाणिदत्त ने चरक-टीका में कहा है--"वृक्षास्तु चेतनावन्तोऽपि तमसाच्छन्नज्ञानतया.....।' गुणरत्न की युक्ति (वृक्ष में जीवत्व साधिका) यह है--"वनस्पति-शरीरमपि भूजला-द्याहाराभ्यवहारादाहारकम्। यथा मनुष्यशरीरम् इष्टानिष्टाहारादि-प्राप्त्या बुद्धिहान्यात्मकं तथा वनस्पतिशरीरमपि"। हम जानते हैं कि इस युक्ति को आचार्य जगदीशचन्द्र वसु महोदय ने प्रयोग-परीक्षण के बल पर सत्य सिद्ध किया है। आज यह सिद्धान्त शाश्वत सत्य है।

अर्थात् भूमि और जल के संयोग से उद्भिद् का जन्म होता है; शीत-उष्ण के संयोग से स्वेदज प्राणी उत्पन्न होते हैं। क्लेद और बीज के संयोग से अण्डज तथा शुक्र-शोणित (रजः-वीर्य) के संयोग से जरायुज प्राणी का जन्म होता है। यहाँ इन श्लोकों पर विचार करने के लिए स्थान नहीं है, अतः केवल निर्देश-मात्र कर दिया गया है।

पुराणों में इन चतुर्विध प्राणियों के प्रकारों की गणना है। यह गणना किस तत्त्व पर आधृत है, इसकी उपपत्ति करनी चाहिए। इस विषय में यह श्लोक बहुत ही प्रसिद्ध है--

एकविंशतिलक्षाणि अण्डजाः परिकीर्त्तिताः।
स्वेदजाश्च तथैवोक्ता उद्भिज्जास्तत् प्रमाणतः।
जरायुजाश्च तावन्तो मनुष्याद्याश्च जन्तवः॥

इस प्रकार प्रत्येक में २१ लक्ष होकर २१ × ४=८४ लक्ष योनियाँ होती हैं।

वृक्षों के जीवत्व में प्रमाण—पूर्वाचार्यों ने मुक्तकण्ठ होकर वृक्षों की सजीवता को माना है। महाभारत में इस विषय में एक श्लोक है--

सुखदुःखयोश्च ग्रहणाच्छिन्नस्य च विरोहणात्
जीवं पश्यामि वृक्षाणां अचैतन्यं न विद्यते
(शान्ति० १८४।१७)

यहाँ वृक्षों की सजीवता को युक्ति से उपपादित किया गया है और आज के वैज्ञानिक इस सत्य को प्रयोग से भी सिद्ध कर रहे हैं।

इस विषय में उदयन ने किरणावली में जो युक्ति दी है, वह विद्वानों के लिए मननीय है—"इत्थं प्रतिनियतभोक्त्रधिष्ठिताः जीवन-मरण-स्वप्न-जागरण-रोग-भेषजप्रयोगसजातीयानुविद्यानुकूलोपम प्रतिकूलागमादिभ्यः प्रसिद्धशरीरवत्"।

इस वाक्य में उदयन ने यह दिखाया है कि मानवशरीर के साथ वृक्षों का आन्तरिक सादृश्य है, जिससे यह सिद्ध होता है कि जैसे मानव एक चेतन प्राणी है, ठीक उसी प्रकार वृक्ष भी एक चेतन जीव है।

पुराणों में वृक्ष-विद्या—वृक्षविद्या पर विचार करना पुराणों का एक प्रिय विषय है। पुराणों में तो वृक्षायुर्वेद का प्रकरण भी मिलता है (अग्नि० २८२ अ०)। ब्रह्माण्ड पुराण में कहा गया है--"वृक्षाणाम् ओषधीनां च वीरुधां च प्रकीर्तनम्। आम्रादीनां तरुणां च सर्जनं व्यञ्जनं तथा" (१।१।५१-५२)। यह पुराण-विषय-सूची में कहा गया है, जिससे इस विषय की महत्ता सिद्ध होती है।

पौराणिक वाङ्मय में वृक्षविद्या पर विशिष्ट बातें मिलेंगी, यह भी इस श्लोक से ज्ञात होता है। यहाँ कुछ निदर्शन प्रस्तुत किए जा रहे हैं--

ब्रह्मपुराण में वृक्षोत्पत्ति के विषय में कहा गया है—

"यथा च पादपो मूल-स्कन्ध-शाखादिसंयुतः।
आद्यबीजात् प्रभवति बीजान्यन्यानि वै ततः॥
प्रभवन्ति ततस्तेभ्यो भवन्त्यन्ये परे द्रुमाः।
तेऽपि तल्लक्षणद्रव्यकारणानुगता द्विजाः॥" (२३।३२-३४)

अर्थ—आद्यबीज से मूलस्कन्ध आदि युक्त वृक्ष उत्पन्न होता है। उससे पुनः बीज उत्पन्न होता है। उससे पुनः द्रुम होता है। बीज से वृक्ष अपने कारण के धर्म का अनुगत होकर होता है, यह यहाँ कहा गया है। इसकी व्याख्या किसी अधिकारी विद्वान् को करनी चाहिए।

पुनः इसी स्थल पर कहा गया है--

बीजाद् वृक्षप्ररोहेण यथा नापचयस्तरोः।
भूतानां भूतसर्गेण नैवास्त्यपचयस्तथा॥ (२३।३६)

अर्थात् बीज से वृक्ष के प्ररोह होने पर बीज का अपचय नहीं होता।

वृक्ष के कुछ भेद—भ.ग० ३।१०।१५ में स्थावर के छह भेद किए गए हैं, यथा—वनस्पति, औषधि, लता, त्वक्सार, वीरुध् और द्रुम। श्रीधर स्वामी ने इन सबों के जो लक्षण दिए हैं, वे इस प्रकार हैं--

(१) वनस्पति = ये पुष्पं विना फलन्ति = पुष्प के बिना जिसका फल होता है।

(२) औषधि--फलपाकान्त=फलपाक होने पर जो मर जाता है।

(३) लता=आरोहणापेक्षा=जो किसी पर आश्रित रहती है।

(४) त्वक्सार=वेणु, बांस आदि।

(५) वीरुध्=काठिन्य के कारण जो लता आरोहण का अनपेक्ष हो जाती है।

(६) द्रुम=ये पुष्पैः फलन्ति।

इन शब्दों की व्याख्या हमें महाभारत की देवबोधरचित टीका में भी मिलती है, यथा—

महाभारत का मूल श्लोक यह है—

उद्भिज्जाः स्थावरा प्रोक्ता स्तेषां पञ्चैवजायतः।
वृक्ष गुल्मलतावल्लयः त्वक्सारास्तृणजातयः॥

देवबोध—"उद्भिज्ज जायत इत्युद्भिज्जाः। वृक्षः स्कन्धशाखादिमान्। गुल्माः भिन्नजटाः। समूलभेदिनोऽतस्यादयः। लताः पराश्रयप्ररोहा लवङ्-द्राक्षादयः। वल्लयः एक जटाला शाकादयः (भीष्म० ५।१८)।

वृक्ष के पञ्चधा विभाग—विष्णु० ३।१७।२९ में जो "वृक्षादिभेदैर्यद्भेदि" कहा गया है, वह भेद पाँच प्रकार का है—वृक्ष, गुल्म, लता, वीरुध और तृण। श्रीधर स्वामी के मतानुसार इसका एक पाठान्तर भी था—'वृक्षादिभेदैः षड्-भेदि'। यदि यह पाठ माना जाय तो छह भेद इस प्रकार होंगे—वृक्ष, गुल्म, लता, वीरुत्, तृण, त्वक्सार। त्वक्सार में बाँस आदि आते हैं। इन सभी के विशिष्ट लक्षण मिलते हैं। उद्भिद् के ये भेद अन्य पुराणों में भी मिलते हैं। मार्कण्डेय पुराण में कहा गया है—"वृक्षेष्वथ लता-गुल्म-त्वक्सार-तृणजातिषु" (४।१९)। यह वर्गीकरण किस आधार पर किया गया है, इस पर वृक्षविद्या-विदों को विचार करना चाहिए।

वृक्ष सम्बन्धी रूपकालंकार—वृक्षों के विभिन्न अवयवों को लेकर रूपक अलंकार का प्रयोग पुराणों में अनेक स्थानों में मिलता है। मार्कण्डेय पुराण में संसार (अज्ञान मूलक) और वृक्ष का एक असाधारण रूपक मिलता है। यथा—

अहमित्यङ्कुरोत्पन्नो ममेति स्कन्धवान् महान्।
गृहक्षेत्रोच्चशाखाश्च पुत्रदारादि-पल्लवः॥
धनधान्यमहापत्रो नैककालप्रवर्धितः।
पुण्यापुण्याग्रपुष्पश्च सुखदुःख-महाफलः॥
तत्र मुक्ति पथव्यापि मूढसम्पर्कसेचनः।
विधित्साभृङ्गमालाढ्यो कृतज्ञानमहातरुः॥
यैस्तु सत्संगपाषाणशितेन ममतातरुः।
छिन्नो विद्याकुठारेण ते गतास्तेन वर्त्मना॥

—(मार्कण्डेय० ३८।८-१२)।

यहाँ अज्ञान-मूलक ममता को तरु मानकर जो रूपक दिखाया गया है, उसकी चमत्कारिता देखते ही बनती है। यहाँ वृक्षसम्बन्धी इन शब्दों का व्यवहार है—अंकुर, स्कन्ध, उच्चशाखा, पल्लव, महापत्र, अग्रपुष्प, महाफल, सेचन इत्यादि।

ऐसा ही एक दूसरा रूपक महाभारत में मिलता है। महाभारत के पर्वों के साथ वृक्षावयवों का रूपक आदिपर्व में द्रष्टव्य है (१।१।८८-९१)।

यहाँ वृक्ष सम्बन्धी निम्नोक्त शब्द मिलते हैं—बीज, मूल, स्कन्ध, विटङ्क, सार, महाशाखा, पलाश इत्यादि। वृक्षाश्रित उत्कृष्ट रूपकालंकारों के चमत्कारजनक स्थल पुराणों में हैं।

वृक्षरूपी विष्णु—विष्णुपुराण में विष्णु की स्तुति में कहा गया है—"यज्ञाङ्भूतं यद्रूपं जगतः सिद्धि-साधनम्। वृक्षादि-भेदैर्यद्भेदि तस्मै मुख्यात्मने नमः" (३।१७।२९) अर्थात् मुख्यात्म-स्वरूप विष्णु को नमस्कार है, जिसका रूप यज्ञाङ्गभूत, जगत्सिद्धिसाधन, और वृक्ष आदि नाना-भेद-युक्त है। यह श्लोक उद्भिद्-विद्या की महत्ता को स्पष्ट करता है और वृक्षरूपी नारायण की महत्ता को ख्यापित करता है। इस श्लोक की टीका में श्रीधर स्वामी ने मुख्यात्मा का अर्थ 'वृक्षात्मा' ही किया है। पुराणों में वृक्षसृष्टि को 'मुख्य सर्ग' ही कहा गया है (ब्रह्माण्ड० १।।३३-३४, वायु० ६।३८-४०)। यहाँ वृक्ष को यज्ञाङ्गभूत कहा गया है। इसका कारण यद्यपि टीकाकार ने नहीं बताया, तथापि ज्ञात होता है कि यज्ञक्रिया के लिये वृक्षनिर्मित नानाद्रव्यों की आवश्यकता होने के कारण ही कदाचित् ऐसा कहा गया होगा।

वृक्षों की व्यावहारिक उपकारिता—पर्यवेक्षण से प्राचीन आचार्यों को यह ज्ञात था कि वृक्षों का जहाँ अभाव होता है, वहाँ अनावृष्टि होती है और यही कारण है कि पुराणादि में निरर्थक वृक्षच्छेदन की बहुत ही निन्दा की गई है। पुराण का निम्नोक्त श्लोक इस विषय में सबको ध्यान से देखना चाहिए—

क्रियते यत्र विच्छेदः सपुष्पफलिनस्तरोः।
अनावृष्टि-भयं घोरं तस्मिन् देशे प्रजायते॥

तात्पर्य यह है कि पुष्पफलवान् वृक्षों का नाश जहाँ किया जाता है, वहाँ अनावृष्टि होती है। वनमहोत्सव की सार्थकता चाहने वालों को इस श्लोक की सत्यता की परीक्षा करनी चाहिए। इस विषय में लुप्त वह्निपुराण का एक श्लोक कहीं-कहीं उद्धृत मिलता है—

तस्मान्न छेदयेद् वृक्षान् सुपुष्पफलितान् कदा।
यदीच्छेत् कुलवृद्धिं च धनवृद्धिं च शाश्वतम्॥

कुल और धन की वृद्धि की यदि इच्छा हो तो पुष्पफलवान् वृक्षों का नाश नहीं करना चाहिए।

इस पुण्यमय दृष्टि के कारण ही इस देश में सर्वजन-प्रसिद्ध 'वृक्षप्रतिष्ठा' रूप धर्मकृत्य की प्रशंसा पुराणादि में की गई है। मत्स्य० पद्म० आदि अनेक पुराणों में वृक्ष-प्रतिष्ठा-सम्बन्धी व्रतादि का उल्लेख मिलता है।

हमारे यहाँ वृक्षरोपण पर इतनी आदर-बुद्धि थी कि वृक्ष पर पुत्र-बुद्धि रखने का उल्लेख भी कहीं-कहीं मिलता है, यहाँ तक कि इन रोपित वृक्षों को 'धर्मपुत्र' मानने की परिपाटी प्रचलित थी। आज भी गाँवों में यह दृष्टि कहीं-कहीं दृष्टिगोचर होती है। यह मान्यता अग्नि-पुराण के निम्नोक्त श्लोक में प्रतिभात होती है—

तस्मात् सुबहवो वृक्षा रोप्याः श्रेयोऽभिवाञ्छता।
पुत्रवत् परिपाल्याश्च ते पुत्रा धर्मतः स्मृताः॥

उद्भिद् की तरह उपकारक कहाँ मिलेंगे ? ये अपने पत्र से, पुष्प से, फल से, मूल से, छाया से वल्कल से और काष्ठ से सबका उपकार करते हैं; पुराणों में ठीक ही कहा गया है—

पत्र-पुष्प-फल-च्छाया-मूल-वल्कल-दारुभिः।
परेषामुपकुर्वन्ति तारयन्ति पितामहान्॥

वृक्षों की इस उपादेयता के कारण ही वृक्ष-सम्बन्धी उत्पातों के प्रशमन के लिये कुछ उपाय भी पुराणों में कहे गए हैं। मत्स्यपुराण के २३२वें अध्याय में यह विषय आया है (अद्भुतशान्तौ वृक्षोत्पात-प्रशमनं नाम)। यहाँ कहा गया है कि जब वृक्षों का रस स्वतः अधिक क्षरित होता है, जब आंधी के विना वृक्ष-शाखा गिर पड़ती है, अकाल में फल-पुष्प उत्पन्न होते हैं, सहसा यों ही वृक्ष शुष्क हो जाते हैं, उस परिस्थिति में उन उत्पातों की शान्ति के लिए कौन-सा कर्म करना चाहिए। सम्भवतः ज्योतिर्विद् गर्ग का इस विषय पर कोई ग्रन्थ था, जिससे यह प्रकरण लिया गया है। अतिवृष्टि-अनावृष्टि के प्रतीकार के लिये भी गर्ग का मत २३३वें अध्याय में दिया गया है।

मत्स्यपुराण के ५९वें अध्याय में 'वृक्षोत्सव' का विवरण मिलता है, जिसका नामान्तर है—'वृक्षोद्यापनविधि'। वृक्ष-प्रतिष्ठा के अर्थवादपरक जो श्लोक यहाँ कहे गए हैं, उनमें कुछ सत्य का अंश भी है, यह ज्ञातव्य है।

वृक्षरोपण की महिमा के विषय में एक सारवान् विवरण पद्मपुराण (सृष्टिखण्ड ५४ अध्याय) में मिलता है। यद्यपि यहाँ की सब बातें धार्मिक दृष्टि से कही गई हैं, तथापि उनसे कुछ लौकिक ज्ञान भी हो जाता है। यथा—जल के समीप वृक्षारोपण करने से अधिक फललाभ होता है। इस दृष्टि की सत्यता साधारण बुद्धि से भी जानी जाती है।

बिल्व, निम्ब, न्यग्रोध आदि वृक्षों की इस उपकारिता को देखकर इस पुराण

में यह भी कह दिया गया है कि 'कृत्रिमवन' की रचना करनेवाला स्वर्गभाक् होता है। आज उन कृत्रिम वनों (अपने प्रयत्नों से बनाए गए वन) की महती आवश्यकता है, यह विज्ञजन जानते ही हैं। पद्मपुराण का यह श्लोक कितना महनीय है कि वृक्ष पुत्रहीन के प्रति पुत्रवत् होते हैं—"अपुत्रस्य च पुत्रत्वं पादपा इह कुर्वते"।

प्रसंगतः यह भी ज्ञातव्य है कि कौन वृक्ष किस प्रकार से माङ्गल्यप्रद होता है, और उपादेय वृक्ष भी किस हेतु से कब वर्जनीय होता है, इसका एक उत्कृष्ट विवरण ब्रह्मवैवर्त्त पुराण (कृष्णजन्म खण्ड १०३ अ. जीवा. संस्करण) में मिलता है। इस स्थल का वैज्ञानिक अध्ययन आवश्यक है।

: १७ :

भागवत में कपिल-सम्बन्धी एक भ्रान्त निर्देश

अवतारों के प्रसंग में भागवत (१।३।१०) में कहा गया है—

पञ्चमः कपिलो नाम सिद्धेशः कालविप्लुतम् ।
प्रोवाचासुरये सांख्यं तत्त्वग्रामविनिर्णयम् ॥

अर्थात् सिद्धेश्वर कपिल ने आसुरि को सांख्यशास्त्र का उपदेश दिया, जो कालविप्लुत (कालनष्ट, अर्थात् पहले नष्ट हो चुका था) था ।

सामान्य दृष्टि से इसमें कोई विप्रतिपत्ति उत्पन्न नहीं होती । शास्त्र कालनष्ट होते ही हैं—गीता (४।१-२) में भी ऐसा एक संकेत है । असुरों द्वारा वेदनाश और वेद का पुनरुद्धार पुराणों में बहुधा वर्णित है[1] । इन घटनाओं से भी शास्त्रों की काललुप्तता सिद्ध होती है ।

किन्तु प्रस्तुत स्थल में प्रश्न यह होता है कि जिन परमर्षि कपिल ने आसुरी को सांख्यविद्या दी, वे आदिविद्वान् थे और आसुरि उनके प्रथम शिष्य[2] थे ।

---

१. द्रष्टव्य-भागवत० ११।४।१७; अग्नि० २।१६-१७; पद्म० ४।२२।२३; ६। २५७।१-३१; भागवत० ५।१८।६; स्कन्द०रेवा० ९ अ०; वराह० १५।१०, १।५, ११३।२० ; मत्स्य० ५३।५-७ ; स्कन्द० वस्त्रापथ १८।५४ ; कूर्म० १।१६।७७-७८ ; महाभारत शान्ति० ३४७ अ० । वेदश्रुति का 'नष्टा' रूप विशेषण वाल्मीकीय रामायण के किष्किन्धाकाण्ड (३।५) में भी है । नारायणीय धर्म के बहुधा लोप होने का निर्देश शान्तिपर्व (३४८।५१-५२) में है । प्राकृतिक विपर्ययों से भी शास्त्र और संप्रदाय का नाश होता है । इन्द्र-द्वारा सामशाखाओं के नाश की कथा इसका एक उदाहरण है (द्र० चरणव्यूह) । शल्यपर्व (५२।४१-५२) में अनावृष्टि आदि कारणों से वेद के उत्सन्न होने की बात कही गयी है ।

२. द्रष्टव्य-योगभाष्य (१।२५) में उद्धृत पञ्चशिख का वाक्य—"आदि-विद्वान् निर्माणचित्तमधिष्ठाय कारुण्याद् भगवान् परमर्षिरासुरये जिज्ञासमानाय तन्त्रं प्रोवाच ॥" सांख्यकारिका (७०) से भी ज्ञात होता है कि आसुरि कपिल के प्रथम शिष्य थे । आसुरि के ग्रन्थ नहीं मिलते, पर उनके वचन कहीं-कहीं उद्धृत मिलते हैं ।

शास्त्रीय परम्परा के अनुसार इस सृष्टि में सांख्यविद्या के प्रवर्तक जब अपने प्रथम शिष्य को उपदेश देते हैं, तब वह शास्त्र 'कालविप्लुत' कैसे हो सकता है ? कोई शास्त्र जब प्रवर्त्तित होकर दीर्घकाल तक पढ़ा-पढ़ाया जाय और आगे चलकर किसी कारण-वश वह काल की चपेट में आ जाय तथा फिर यदि कोई उसका पुनः प्रवर्तन करे जैसा महाभाष्य के नाश होने पर चन्द्राचार्य ने किया था (वाक्यपदीय २।४८९ ; राजतरङ्गिणी तरङ्ग १ श्लोक १७६ इत्यादि), तभी यह कहा जा सकता है कि अमुक ने कालविप्लुत शास्त्र का उद्धार या संरक्षण किया। शास्त्रारम्भ में ही 'कालविप्लुत' विशेषण कैसे दिया जा सकता है ?

यदि कहा जाय कि 'सांख्यविद्या पूर्वकल्प में नष्ट हो चुकी थी (प्रलय के कारण उसका संप्रदाय नष्ट हो चुका था), और परमर्षि कपिल इस सर्ग में पूर्वजन्मीय योगसंस्कार से अभिसंस्कृत होकर ही उत्पन्न हुए थे। सांख्यज्ञान उनका सहजात था। अतः उन्होंने आसुरि को पूर्वकल्पनष्ट सांख्यशास्त्र का उपदेश किया', तो यह भी ठीक नहीं। इस दृष्टि से तो सभी शास्त्र, सभी विद्याएँ नियमतः 'कालनष्ट' होंगी, फिर शास्त्र के साथ 'काललुप्तता' तो नित्यसम्बद्ध ही ठहरती है। ऐसी स्थिति में इस अत्यन्त स्पष्ट विशेषण को अस्थान में कहने की आवश्यकता ही क्या रह जाती है ? शास्त्र का काललुप्त होना इतना सुप्रसिद्ध है कि इसे शास्त्रप्रवर्तनपरक वचन के साथ सुस्पष्ट रूप से कहने की कोई आवश्यकता नहीं, विशेषकर जब यह सिद्ध है कि परमर्षि कपिल सांख्यज्ञान के आदिविद्वान् हैं।

चूँकि प्रथम वक्ता के द्वारा प्रोक्त ज्ञान के साथ 'कालविप्लुत' विशेषण का कोई सार्थक्य नहीं होता, इसलिये हम समझते हैं कि प्रचलित भागवत ग्रन्थ उस समय रचित है,[1] जब यह प्रसिद्धि हो गई थी कि सांख्यशास्त्र कालनष्ट हो चुका

---

१. पुराण-काल-सम्बन्धी ऐसी चर्चा को कुछ लोग शास्त्रविरुद्ध समझते हैं। उनको जानना चाहिए कि स्वयं उनके पूर्वाचार्य ग्रन्थों के रचनाकाल सम्बन्धी विचार को आवश्यक (विशिष्ट स्थल में) मानते थे। यदि रचनाकाल का कोई महत्त्व नहीं होता, तो पाणिनि ब्राह्मण और कल्पसूत्रों का 'चिरन्तन-अचिरन्तन भेद' कहते। मनुभाष्यकार मेधातिथि 'पुराणानि व्यासादिप्रणीतानि' (३।२२२) कहते हैं। विभिन्न पुराण-प्रणेता एक काल में ही सब पुराणों को लिखे होंगे, ऐसा नहीं कहा जा सकता। आचार्य के

है। प्रचलित भागवत ग्रन्थ निश्चय ही ईसा की पाँचवीं शताब्दी के बाद का है। भागवतगत अनेक शब्दप्रयोग इसके वलिष्ठ प्रमाण हैं। प्रत्येक ग्रन्थ में जो स्थूल ऐतिहासिक बातें मिलती हैं, उनसे काल-निर्णय किया जा सकता है, व्यवहारतः इस सत्य का अपलाप नहीं किया जा सकता। भागवतगत 'हूण शकादि' जातिनाम, 'कृतमाला' आदि नदी नाम, प्राचीन वेदान्ताचार्यों द्वारा भागवतीय वेदान्तसिद्धान्त-परक श्लोकों का अनुल्लेख आदि हेतुओं से भागवत का काल ज्ञात होता है। लौकिक कार्यकारण-परम्परा के अनुसार जब तक बुद्धि सोचती रहेगी, तब तक उपर्युक्त तथ्यों का अपलाप नहीं किया जा सकता।

इस दृष्टिकोण के अनुसार हम समझते हैं कि भागवत-रचना के बहुत पहले ही सांख्य के प्राचीन ग्रन्थ लुप्त हो गए थे। पञ्चशिख का सूत्रग्रन्थ, वार्षगण्य का षष्ठितन्त्र शास्त्र, विन्ध्यवासी एवं अन्यान्य सांख्यचार्यों के ग्रन्थ बहुत पहले ही नष्ट हो चुके थे और दार्शनिक जगत् में यह प्रसिद्धि हो चुकी थी कि सांख्यशास्त्र नष्ट हो गया है। बाद में यह प्रसिद्धि और प्ररुढ़ हो गई और सांख्य के नवीन भाष्यकार विज्ञानभिक्षु को लिखना पड़ा—"कालार्कभक्षितं सांख्यशास्त्रम्" (सांख्यभाष्यारम्भ में)। इस दृष्टि से तो सांख्य को 'काल-विप्लुत' कहा जा सकता है, क्योंकि यह एक ऐतिहासिक सत्यघटना पर आधृत है। ध्यान देना चाहिए कि महाभारत-काल में भी सांख्य को 'कालार्कभक्षित' नहीं कहा जा सकता था (शान्तिपर्वगत विशाल सांख्य-प्रकरण इसका प्रमाण हैं), उसके पहले किसी काल में सांख्यज्ञान नष्ट हो गया था, इसका भी प्रमाण नहीं मिलता (यद्यपि महाभारत में अन्यान्य ज्ञानपरम्पराओं के नष्ट होने की बात है), अतः यह मानना युक्ततर है कि विज्ञानभिक्षु के बहुत पहले ही सांख्यज्ञान नष्ट हो गया था और इस स्थिति को लक्ष्य कर ही अर्वाचीन काल में रचित भागवत में सांख्य के लिए 'कालविप्लुत' विशेषण दिया गया है। प्रलयकालीन नष्टता को लक्ष्यकर 'कालविप्लुत' विशेषण देना निरर्थक ही है। हाँ, यदि कहीं कालनष्टता को कहना आवश्यक हो, तो ऐसा कहा जा सकता है, जैसा भागवत में ही वेद-प्रचार को लक्ष्यकर "कालेन नष्टा प्रलये वाणीयं वेदसंज्ञिता, मया तु ब्रह्मणे प्रोक्ता" (११।१४।३) कहा गया है।

प्राचीनत्व का आश्रय कर उनके व्याख्यान का उत्कर्ष भी पूर्वाचार्यों ने माना है। भागवतकाल के विषय में डा० हाजराकृत Puranic Records ग्रन्थ द्रष्टव्य है (पृ० ५२-५६)।

: १८ :

'महर्षीणां भृगुरहम्' वाक्य में भृगु-नाम का सार्थक्य

गीता में कृष्ण ने कहा है—'महर्षीणां भृगुरहम्' (१०।२५)—'मैं महर्षियों में भृगु हूँ'। सोचना चाहिए कि ऋषियों में वसिष्ठ आदि सप्तर्षियों में से किसी का नाम न लेकर या मन्त्रद्रष्टा अनेक ऋषियों (जिनके नाम वैदिक अनुक्रमणियों में हैं) में किसी का नाम न लेकर 'भृगु' का नाम ही गीता में क्यों लिया गया ? जिनका नाम सप्तर्षियों में नहीं है, उन भृगु में ऐसा कौन-सा वैशिष्ट्य है, जिसके कारण अन्यान्य गोत्रकारक ऋषियों का या विद्याप्रवर्तक अन्य किसी का नाम न लेकर भृगु का नाम ही लिया गया है ?

वैदिक साहित्य में भृगु की सर्वातिशायी श्रेष्ठता कहीं भी स्पष्टतः नहीं कही गई है, अतः अन्य किसी स्रोत से इस श्रेष्ठता का कारण ज्ञातव्य है यह स्रोत वेदमूलक होगा। यहाँ ऐसा तर्क नहीं किया जा सकता कि यतः कृष्ण यदुवंशी थे और यदुवंश का मूल 'भार्गवी देवयानी' से है, अतः कृष्णभक्त गीताकार की दृष्टि में भृगु सर्वश्रेष्ठ महर्षि हैं। यहाँ यह भी विचार्य है कि 'ऋषि' न कह कर 'महर्षि' ही क्यों कहा गया ?

विचारने से ज्ञात होता है कि महाभारतकार वेदव्यास क्षेत्रविशेष में भृगु का सर्वोच्च स्थान मानते थे, जिसके कारण उन्होंने महर्षियों में भृगु की श्रेष्ठता को कृष्ण के मुख से निकलवाया है। यह कोई भी समझ सकता है कि गीता का प्रत्येक वाक्य उसी रूप में कृष्ण के द्वारा कहा हुआ नहीं है। वेदव्यास ने या उनकी चिन्ताधारा का अनुवर्तन करनेवाले उनके किसी शिष्य ने 'प्रत्येक जाति के श्रेष्ठ रत्नों' का एक संकलन कृष्ण की युक्ति-प्रणाली के साथ उपयुक्त अवसर देखकर जोड़ दिया है। गीता में तात्कालिक विविध अध्यात्म-चिन्ताओं का उत्कृष्ट संकलन है, जिसके कारण वह सभी सम्प्रदायों के द्वारा आदृत हुई है। सदाचार के क्षेत्र में 'प्रत्येक जाति का श्रेष्ठ व्यक्ति' का भी ज्ञान रहना आवश्यक है, जिनकी महत्ता के अनुशीलन से अन्य लोग भी महान् हो सकते हैं। स्वयं गीताकार कहते हैं—"यद् यदाचरति श्रेष्ठस्तत् तदेवेतरो जनः" अतः गीताकार के लिये श्रेष्ठजनों के

नामों का उपन्यास करना सर्वथा प्रासंगिक ही था। इस सद् उद्देश्य से प्रणोदित होकर गीताकार (चाहे वे व्यास हों या व्यासचित्तानुवर्ती कोई शिष्य हो) ने इस उपादेय विषय का समावेश गीता में (इसका एक पूर्णांग रूप देकर) किया है। कृष्ण के साक्षात् उपदेश में इस विषय का इतने विशाल रूप में होना आवश्यक नहीं था; सम्भवतः इस तत्त्व का बीज उनके उपदेश में था और बाद में उसका विस्तार किया गया है। वृक्षों में अश्वत्थ की ही श्रेष्ठता के उल्लेख का कोई प्राचीन कारण (जो कृष्ण की दृष्टि में उपपन्न था) ज्ञात नहीं है, यह ज्ञातव्य है।

प्रकृत स्थल में स्थिति चाहे जो हो, महर्षियों में भृगु की श्रेष्ठता का कारण विचार्य है। यहाँ 'ऋषि'पद वैदिक दृष्टि के अनुसार व्यवहृत हुआ है और यह मुनि से भिन्न है। गीता में पृथक् कर 'मुनीनामप्यहं व्यासः' (१०।३७) कहा गया है, अतः यहाँ 'महर्षि' का तात्पर्य 'वेदसिद्ध महर्षि' से है। प्राचीनकाल में मुनि और ऋषि में अत्यन्त स्पष्ट भेद था, जो बाद में नष्ट हो गया है।

अब प्रश्न होगा कि यह वेदगत महर्षि-तत्त्व क्या है, एवं भृगु महर्षियों में श्रेष्ठ क्यों हैं ?

कई पुराणों में वैदिक ऋषितत्त्व-सम्बन्धी एक सारवान् विवरण मिलता है, जहाँ आर्षज्ञान, ऋषि-जाति, ऋषिभेद आदि पर पुष्कल विचार किया गया है (मत्स्य० १४५ अध्याय; वायु० ५९ अध्याय, ब्रह्माण्ड० १।३२ अध्याय) पुराणगत यह विषय चिरकाल से प्रसिद्ध था, क्योंकि राजशेखर ने काव्यमीमांसा (सप्तम अध्याय) में भी इस विषय का उल्लेख किया है।

उपर्युक्त स्थलों में 'पञ्चधा ऋषिजाति' का एक विवरण आया है, जहाँ पाँच प्रकार के ऋषि कहे गए हैं (वायु० ५९।६३-८७; ब्रह्माण्ड० १।३२।६१-९५; मत्स्य० १४५।६५-८९)। इन पाँच प्रकारों में ज्ञान और शक्ति की श्रेष्ठता के अनुसार दश महर्षि का स्थान सर्वोच्च है, अर्थात् ऋषि जाति का महत्तम अंश महर्षि है; इन दश महर्षियों में भृगु का नाम सर्वत्र प्राथम्येन लिया गया है (वायु० ५९।८८-८९; मत्स्य० १४५।९०)। यतः नामोल्लेख में सर्वत्र भृगु का नाम ही पहले लिया गया है, अतः यह अनुमित होता है कि उनमें अन्य कोई वैशिष्ट्य था। लोक में नामग्रहण में जिसका नाम पहले ही लिया जाता है (वह भी बहुशः) तो इतरापेक्षया उनमें कुछ वैशिष्ट्य ज्ञात होता है।

मन्त्र-द्रष्टृत्व में भेद न होने पर भी भृगु में अन्य कुछ वैशिष्ट्य अवश्य रहा होगा। तपस्या के क्षेत्र में भृगु की सर्व-श्रेष्ठता है, ऐसा कहना कठिन है, 'तपसा भृज्जतीति भृगुः' ऐसा कहने पर भी तपस्या में अन्य महर्षियों का निकृष्टत्व

सिद्ध नहीं होता। पुराणों में जो 'भृगु के द्वारा विष्णुवक्ष पर पदाघात' की कथा वर्णित है, उसके आधार पर कोई दार्शनिक विचार नहीं किया जा सकता। जब तक ऐसी पौराणिक घटनाओं का मूल तात्पर्य ज्ञात न हो, तब तक निन्दा-प्रशंसागर्भक ऐसी कथाओं के ही प्रामाण्य पर दार्शनिक दृष्टि से कुछ भी निर्णय करना असमीचीन ही होगा।

हम समझते हैं कि समाज में लोककल्याणार्थ आख्यानोपाख्यान के द्वारा वैदिक ज्ञान के प्रचार करने में भृगु का आग्रहातिशय था, और इस दृष्टि से 'भृगुवाक्यप्रवर्ती' व्यास ने भृगु का नाम महर्षियों में गिनाया है। व्यास को 'भृगुवाक्यप्रवर्ती' कहा गया है (वायु० १।४२), अतः स्वभावतः भृगु का नाम देना व्यास (या उनके किसी अनुवर्ती) के लिये उचित ही है। आख्यानादि के प्रचार के क्षेत्र में भृगु (और उनके कुल) का हाथ सर्वाधिक है, अतः लोकोपकारार्थ पुराणसंहिता का निर्माणकारी और व्यास-परम्परा का निर्माण कर लोक में प्रकृत धर्मज्ञान का प्रचारकारी (द्र० भारत सावित्री में व्यास की दृष्टि-स्वर्गारोहण पर्व—५।६०-६४) व्यास ने यदि 'महर्षियों में श्रेष्ठ' के रूप में भृगु का नाम लिया ही है, तो वह वस्तुतः सार्थक है।[1]

गीता में देवर्षियों ने नारद की श्रेष्ठता कही गई है (१०।२६)। यह देवर्षि पञ्चधा ऋषिजाति में नहीं आता, बल्कि यह त्रिविध ऋषि-प्रकृति (देवर्षि-राजर्षि-महर्षि) का अन्यतम है। यह त्रिविध ऋषि-प्रकृति विष्णु० ३।६।३०, वायु० ६१।८० और ब्रह्माण्ड० १।३५।८१-९० में उक्त हुई है। इन त्रिविध ऋषिप्रकृतियों का क्रम यह है—पहले ब्रह्मर्षि, उनसे देवर्षि और उनसे राजर्षि। इस क्रम से ब्रह्मर्षि की सर्वमूलभूतता सिद्ध होती है। इन ब्रह्मर्षियों में भी भृगु का नाम है। यह भी भृगु नाम के उल्लेख का एक कारण हो सकता है। (विष्णु० आदि में जो 'तेभ्यः' पद प्रयुक्त हुआ है, उसका तात्पर्य विचार्य है)।

---

१. आख्यानादि के क्षेत्र में भृगुकुल के विशिष्ट सम्बन्ध के विषय में डा० सुकथनकर का लेख (भृगुवंश और भारत) द्रष्टव्य है (डा० वासुदेवशरण अग्रवाल के द्वारा अनूदित तथा वैदिकधर्म, वर्ष २२, अंक ३-४ में प्रकाशित)। महाभारत में भार्गव वंश की प्रमुखता भी है, यह महाभारतश्रोता शौनक की जिज्ञासा से भी ज्ञात होता है (अत्र वंशमहं पूर्वं श्रोतुमिच्छामि भार्गवम् १।५।३)।

: १९ :

गीता के विभूति-योग में वाल्मीकि का नाम

आधुनिक समीक्षा-पद्धति के अनुसार विचार करनेवाले विद्वानों ने यह संशय व्यक्त किया है कि गीता के दशम अध्याय में जहाँ अनेक प्रसिद्ध कवि, मुनि, सिद्ध, मनुष्य, सर्प, नाग, महर्षि, देवर्षि आदि के नाम लिए गए हैं, और स्पष्टतया इन जातियों में उन महर्षि, मुनि, देवर्षि, कवि आदि की श्रेष्ठता कही गयी है, वहाँ आदिकवि वाल्मीकि का नाम किसी प्रसंग में क्यों नहीं लिया गया ? उशना (शुक्र) को कवियों में श्रेष्ठ कहा गया है—"कवीनामुशना कविः"(१०।३७); यहाँ व्यास को मुनियों में श्रेष्ठ कहा गया है; किसी ऐसे स्थल में वाल्मीकि का नाम तो अवश्य ही लेना चाहिए था।

यह प्रश्न और भी जटिल हो जाता है जब हम सोचते हैं कि रामायण की घटना कृष्ण या महाभारतकार कृष्णद्वैपायन से पहले की है और रामायण ग्रन्थ भी महाभारत से पहले रचित है। विण्टरनिट्ज-सदृश पाश्चात्य विद्वान् भी यह मानते हैं कि रामायण ग्रन्थ महाभारत के पहले लिखा जा चुका था (हिस्ट्री ऑव इण्डियन लिटरेचर, पृ० ५०३)। याकोबी भी रामायण को महाभारत से प्राचीन मानते थे, यह विण्टरनिट्ज ने इस ग्रन्थ में स्पष्टतः दिखाया है (पृ० ५०६)। महाभारतकार व्यास वाल्मीकि के ऋणी हैं—इस तथ्य को अनेक उदाहरणों से विद्वान् सुकथनकरजी ने भी दिखाया है (द्र० एफ० डब्ल्यू० टामस अभिनन्दन ग्रन्थ में उनका लेख, पृ० २९४–३०३)। 'ए वाल्यूम आफ स्टडीज इन इण्डोलाजी, नामक ग्रन्थ में भी श्री सुकथनकरजी ने यह दिखाया है कि महाभारत के अन्तर्गत रामोपाख्यान का मूल रामायण ही है।

प्राचीन भारतीय आचार्यों का यह सर्वसमस्त मत रहा है कि महाभारतकार व्यास ने वाल्मीकिकृत रामायण का अध्ययन किया था; यह तथ्य राजशेखर कृत प्रचण्डपाण्डव नाटक में भी उल्लिखित है। इस प्रकार के अन्य उदाहरण भी दिए जा सकते हैं।

अब प्रश्न यह उठता है कि यदि महाभारतकार व्यास वाल्मीकि के नाम से

परिचित थे तो उन्होंने कवियों में, मुनियों में या ऋषियों में वाल्मीकि का उल्लेख क्यों नहीं किया ?

हम समझते हैं कि गीता के 'कवीनाम् उशना कविः' (१०।३७) वाक्य में जो 'कवि' शब्द है, उसका अर्थ 'काव्यकार' नहीं है, बल्कि क्रान्तिदर्शी अर्थात् नीतिवित् कार्यकारणज्ञ विद्वान् है। प्राचीनतम ग्रन्थों में 'कवि' का अर्थ प्रायः 'काव्यकृत्' न होकर 'मेधावी' 'क्रान्तदर्शी' 'नीतिज्ञ' आदि ही देखे जाते हैं[1]। पाणिनि को 'कवि' कहा गया है (१।४।५१ महाभाष्यस्थ श्लोकवार्त्तिक में); पर क्या पाणिनि कालिदास जातीय 'कवि' थे ? ईशोपनिषत् में परमात्मा को लक्ष्य-कर 'कविर्मनीषी' कहा गया है। यहाँ कवि का अर्थ 'सर्वदर्शी' ही है। गीता के प्राचीनतम भाष्यकार शंकर भी प्रकृतस्थल में कवि का अर्थ 'क्रान्तिदर्शी' ही करते हैं। इस प्रकार यह सिद्ध हो जाता है कि १०।३७ श्लोक में 'वाल्मीकि' का नाम (जो काव्यकृत् है) रहना आवश्यक नहीं है, क्योंकि इस क्षेत्र में उशनाः का सर्वश्रेष्ठत्व सर्वसम्मत है।

अब प्रश्न होगा कि ऋषियों (महर्षि और देवर्षि में; गीता में इन दोनों का उल्लेख है) में वाल्मीकि का नाम क्यों नहीं है ? उत्तर यह है कि महर्षि और देवर्षियों के निश्चितसंख्यक नाम पुराणों में गिने गए हैं (ऋषिजाति के वर्णन-प्रसंग में)[2] और उन सूचियों में (तथा अन्यत्र भी) कहीं भी महर्षि-देवर्षि नामों में वाल्मीकि का नाम नहीं है, अतः वाल्मीकि का नाम वहाँ होना अनिवार्य नहीं है।

---

१. यह ज्ञातव्य है कि काव्य शब्द भी 'चमत्कारजनक शब्दार्थ सन्दर्भ' रूप अर्थ के अतिरिक्त विशेषण के रूप में 'वर्णनीय' इस अर्थ में महाभारत में प्रयुक्त हुआ है—काव्यां=वर्णनीयाम् (देवबोधकृत टीका सभा० ५५।३; उद्योग० ९१।२०)। व्यासभाष्य २।१३ में "द्वे द्वे ह वै····कवयो वेदयन्ते" श्रुति में कवि का अभिप्राय भी दार्शनिकज्ञानवान् अन्तर्दृष्टि-संपन्न व्यक्ति ही है, रमणीयार्थ-प्रतिपादक-शब्दप्रणयनकारी व्यक्ति नहीं।

२. देवर्षि विवरण—विष्णु० ३।६।३०; वायु० ६१।८०; ब्रह्माण्ड० १।३५। ८९–९०; महर्षि-विवरण—वायु० ५९।६३–८७; ब्रह्माण्ड० १।३२।६१–९५; मत्स्य० १४५।६५–८९ (इन स्थलों में पञ्चधा ऋषिजाति के वर्णन-प्रसंग में महर्षिस्वरूप पर पुष्कल विचार किया गया है)।

पुनः प्रश्न होगा कि वाल्मीकि के नाम का इस अध्याय में क्यों स्मरण नहीं किया गया—किसी एक जाति में उनकी गणना तो की ही जा सकती थी, उदाहरणार्थ मुनियों में वाल्मीकि का नाम गिना जा सकता था ?

हमारा उत्तर है कि गीता में यह जो कहा गया है—"मुनीनामप्यहं व्यासः" (१०।३७), यहाँ वाल्मीकि का स्मरण किया गया है। इस वाक्य में जो 'व्यास' शब्द है, वह एक ही व्यास को लक्ष्य नहीं करता, बल्कि व्यासरूपी उपाधि को लक्ष्य करता है। वाल्मीकि भी एक व्यास थे। २४वें द्वापर में वाल्मीकि व्यास हुए थे, यह कई पुराणों में कहा गया है (विष्णु० ३।३ अ०; कूर्म०, १।५२ अ०, लिंग० १।२४ अ०)। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि 'व्यास' के रूप में वाल्मीकि का (और अन्य व्यासों का भी) स्मरण गीताकार ने किया है।

यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि गीता के इस स्थल में सर्वत्र व्यक्ति-विशेषों का नाम ही नहीं लिया गया, बल्कि 'उपाधि' या 'पद' का भी उल्लेख किया गया है, जैसे—'नराणां च नराधिपम्' (१०।२७)। यहाँ राजा (चाहे वह कोई भी व्यक्ति हो) को नरश्रेष्ठ कहा गया है, जो किसी का नाम नहीं है, ठीक उसी प्रकार १०।३७ में 'व्यास' को मुनियों में श्रेष्ठ कहा गया है। यह व्यास व्यासपदवीधारी कोई भी हो सकते हैं।

पुनः प्रश्न होगा कि यह व्यासपदवीधारी वाल्मीकि ही रामायणकार हैं, क्या इसमें कोई प्रमाण है ? उत्तर यह है कि २४वें व्यास के विषय में लिंगपुराण में कहा गया है—"परिवर्ते चतुर्विंशे व्यास ऋक्षो यदा विभो" (१।२४।१११)। इस २४वें व्यास को लक्ष्यकर वाल्मीकि शब्द का प्रयोग भी मिलता है। (तृण विन्दु स्त्रयोर्विंशे वाल्मीकि स्तत् परः स्मृतः–१।५२।८; वेद-व्यासावतार प्रसंग में)। इस ऋक्ष के विषय में विष्णुपुराण कहता है (वेदव्यासों के नामों की गणना में) 'ऋक्षोऽभूद् भार्गवस्तस्माद् वाल्मीकिर्योऽभिधीयते' (३।३।१८)। अब विचारना चाहिए कि यहाँ वाल्मीकि को 'भार्गव' कहा गया है। भार्गव=भृगु का अपत्य= भृगुवंश में जात। रामायणकार वाल्मीकि च्यवन कुलोत्पन्न थे, यह बुद्ध चरित १।४३ में कहा गया है। च्यवन भृगुपुत्र हैं, अतः रामायणकार वाल्मीकि भार्गव ही हुए। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि विष्णु० ३।३।१८ में लक्षित २४वें व्यास वाल्मीकि रामायणकार वाल्मीकि ही थे। मत्स्य० १२। ५०–५१ में रामचरितकार वाल्मीकि को 'भार्गवसत्तम' ही कहा गया है।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि गीताकार ने रामायणकार वाल्मीकि का स्मरण 'मुनीनामप्यहं व्यासः'[1] वाक्य के द्वारा किया है।

---

१. यह प्रश्न हो सकता है कि व्यास का अर्थ वेदविभागकारी है। यदि वाल्मीकि वेदविभागकारी थे, तो उनके रामायणग्रन्थ के साथ भी वेद का निकटतम संबन्ध होना चाहिए। रामायणोक्त मत और वेद की सर्वाङ्गीण तुलना अभी तक नहीं की गई, यह खेद का विषय है। रामायण ग्रन्थ स्वयं अपने को वेदोपबृंहणकारक के रूप में कहता है, यह "स तु मेधाविनौ दृष्ट्वा वेदेषु परिनिष्ठितौ वेदोपबृंहणार्थाय तावग्राहयत प्रभुः" (१।४।६) इस श्लोक से ध्वनित होता है।

: २० :

एकलव्य कृष्ण का चचेरा भाई था

एकलव्य की कथा भारतवर्ष में प्रसिद्ध है। शिक्षार्थी युवक चिरकाल से एकलव्य से प्रेरणा लेते आ रहे हैं कि प्रत्यक्ष गुरु के सन्निधान के विना भी केवल श्रद्धा और अभ्यास के बल पर ही कोई विद्यार्थी अपनी साधना में सिद्धि कैसे प्राप्त कर सकता है। कभी-कभी विद्वान् गुरु भी उद्देश्यविशेष की सिद्धि के लिए कितना छोटा कर्म कर सकते हैं, एकलव्य के असन्निहित गुरु द्रोणाचार्य इसके प्रमाण हैं।

इस एकलव्य के विषय में हम यही जानते हैं कि एकलव्य जाति से निषाद था। निषाद एक अधम जाति मानी गई है[1], पर अपनी साधना से वह अर्जुन से भी अधिक धनुर्विद्याभ्यासी हुआ था, यह महाभारत में गौणरूप से कहा गया है। महाभारत में एकलव्य के विषय में कई ज्ञातव्य बातें कही गई हैं—वह निषादराज हिरण्यधनु का पुत्र था, निषादपुत्र होने के कारण द्रोणाचार्य ने एकलव्य को धनुर्विद्या नहीं सिखायी, द्रोणाचार्य की मूर्ति का निर्माण कर इसने धनुर्विद्या का अभ्यास किया। द्रोणाचार्य को दक्षिण हस्त का अंगुष्ठ काटकर एकलव्य ने दक्षिणा दी (आदि० १३१ अ०)। इसके अतिरिक्त द्रोण० १८१ अध्याय, उद्योग० ४८ अ०, मौसल० ६ अ० आदि में भी एकलव्य का चरित सामान्यतः कथित हुआ है।

यद्यपि सामान्यतया यही प्रसिद्ध है कि एकलव्य जातितः निषाद था और

---

१. निषाद एक अनुलोम जाति है, जो ब्राह्मण और शूद्रा स्त्री से उत्पन्न होता है (मनु० १०।८, अनुशासन० ४८।५। सम्भवतः 'पारशव' भी निषाद का ही नामान्तर है। गौतमधर्मसूत्र ४।१४ की हरदत्तकृत व्याख्या के अनुसार निषाद ब्राह्मण और वैश्या स्त्री से उत्पन्न होता है। नारदस्मृति ५।१०८ के अनुसार क्षत्रिय और शूद्रा से निषाद उत्पन्न होता है। इस अर्थ में अनुशासन० ४८।१२ का वचन भी प्रमाण है। निषाद जाति की वृत्ति है—वन्यपशुहनन और मत्स्यविक्रय। निषादजातीय व्यक्ति का शरीरवर्णन शान्ति० ५९।९५-९७ में है। भाग० ४।१४।१४ में भी निषादशरीर का वर्णन है—"काककृष्णोऽतिह्रस्वाङ्गो ह्रस्ववाहुर्महाहनुः, ह्रस्वपान् निम्ननासाग्रो रक्ताक्ष स्ताम्रमूर्धजः"।

यही कारण है कि द्रोणाचार्य ने उसको विद्या नहीं सिखाई, पर अन्यान्य पुराणों के अवलोकन से यह स्पष्टतः प्रतीत होता है कि एकलव्य उस वृष्णिवंश में उत्पन्न हुआ था, जिसमें कृष्ण भी अवतरित हुए थे और जननी के सम्बन्ध से अर्जुन आदि का एकलव्य से सीधा रक्तसम्पर्क था। बात यह है कि वृष्णिवंशीय शूर के[1] दस पुत्र और पाँच कन्याएँ थीं। वसुदेव नामक उनके पुत्र से जैसे वासुदेव कृष्ण पैदा हुए, उसी प्रकार देवश्रवाः नामक पुत्र से शत्रुघ्न नामक पुत्र पैदा हुआ, जो किसी कारण-वश बालकपन में ही त्याग दिया गया और निषादों ने उसको पालकर बड़ा किया। इस लड़के का एकलव्य नाम भी निषादों का दिया हुआ है, ऐसा प्रतीत होता है (द्र० हरिवंश १।३४।१७-३३)। इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि कृष्ण और एकलव्य चचेरे भाई थे। अर्जुन की माता पृथा शूर की कन्या थी और देवश्रवाः उसका अपना भाई था; पृथा (नामान्तर कुन्ती) के लड़के अर्जुन थे, अतः एकलव्य (प्रकृत नाम शत्रुघ्न) का अर्जुन बुआ का पुत्र हुआ। अर्जुन के कारण एकलव्य की दयनीय स्थिति वस्तुतः मानव के तामसपक्ष का एक उदाहरण ही है।

हरिवंश का यह कथन अन्यान्य पुराणों से भी समर्थित होता है, अतः यह मत परम्परागत है, ऐसा मानना पड़ेगा।

वायुपुराण (९६ अध्याय) में कृष्ण का ऊर्ध्वतन वंश वर्णित है (९६।१८४-१८७)। इस स्थल में एकलव्य और उनके पिता, पितामह आदि के नाम कहे गए हैं, जिससे यह सिद्ध होता है कि एकलव्य उसी वंश में उत्पन्न हुआ था, जिसमें वासुदेव कृष्ण उत्पन्न हुए थे। एकलव्य का 'महावीर्य' विशेषण है, जो उसके भावी पराक्रम का ज्ञापक है। यहाँ एकलव्य के लिए हरिवंश की तरह 'निषादैः परिवर्धितः' (९६।१८४-१८७) कहा गया है, जिससे सूचित होता है कि उसका पालन निषादों ने किया था। यहाँ 'शक्रशत्रुघ्न'[2] नाम है।

---

१. 'शूर' को 'सूर' भी कहा जाता है। नीलकण्ठ कहते हैं—"शूरः। दन्त्यादिरयम् इत्यन्ये" (हरिवंश० १।३४।१७)।

२. हरिवंश० १।३४।३२ का पाठ है—"निवृत्तशत्रुं शत्रुघ्नं देवश्रवा व्यजायत"। यहाँ 'निवृत्तशत्रु' का शत्रु शब्द ही लिपिकर प्रमाद के कारण 'शक्र' हो गया है, ऐसा वायु० के पाठ को देखने से प्रतीत होता है। वायु० का पाठ हरिवंश पाठ की तुलना में अधिक भ्रष्ट हो चुका है। संभवतः नीलकण्ठ की टीका रहने के कारण हरिवंश का पाठ अधिक सुरक्षित रहा।

वायु० का पाठ कुछ भ्रष्ट भी है, अतः सब श्लोकों का अर्थ भी नहीं लगता ; यहाँ शायद एकलव्य को वसुदेव के वंश में ही दिखाया गया है, पर पूर्वापर वर्णन से यह सर्वथा स्पष्ट हो जाता है कि यह एकलव्य (९६।१८७) प्रसिद्ध एकलव्य ही है। ब्रह्माण्ड० २।७१ अ० में भी वायु-पुराणवत् विवरण मिलता है। एकलव्य का परिचय २।७१।१८६-१९० में दिया गया है। श्लोकों का पाठ कुछ भ्रष्ट है, अतः अर्थ भी बहुधा अस्पष्ट है। मत्स्य० ४६ अ० में देवश्रवाः का उल्लेख है, उनके शत्रुघ्ननामक पुत्र का नाम भी है (४६।२४), पर एकलव्य नाम नहीं है। ब्रह्मपुराण १४ अ० में यादव वंश का विवरण है (कृष्ण यादव=यदुवंशीय थे)। यहाँ भी 'एकलव्यः निषादैः परिवर्धितः' कहा गया है (१४।२८), तथा वृष्णिवंश में उत्पन्न देवश्रवाः के वंश में एकलव्य का जन्म कहा गया है। यहाँ शत्रुघ्न शब्द भी व्यवहृत हुआ है। सम्भवतः यहाँ एकलव्य को श्रुतदेवात्मज कहा गया है। श्लोकों के पाठ प्रायेण इतने भ्रष्ट हैं कि हस्तलेखों के विना श्लोकार्थ का निरूपण करना कठिन है, तथापि इतना तो निश्चित हो ही जाता है कि एकलव्य जातितः क्षत्रिय थे और निषादों के द्वारा पालित थे। ऐसा प्रतीत होता है कि किसी निषादराज ने बाल्यकाल से ही उसका पालन किया था और इस कारण से उसकी प्रसिद्धि भी निषाद के रूप में हो गई थी।

प्रश्न होगा कि आदिपर्व में एकलव्य को 'निषादराज हिरण्यधनु का सुत' (१३१।३१) कैसे कहा गया ? 'सुत' शब्द 'पालित पुत्र' के लिए भी बहुधा प्रयुक्त हुआ है। पुत्र के अनेक प्रकार हैं (औरस आदि बारह भेद धर्मशास्त्र में है), जिनमें पालित सुत भी है। अर्जुन की माता पृथा (कुन्ती) को कुन्ति-नरेश की पुत्री कहा जाता है, यद्यपि वह पालित पुत्री ही है, वास्तविक नहीं। एक गोत्र में उत्पन्न पुत्र को अन्य गोत्र में दिए जाने का बहुधा उल्लेख धर्मशास्त्र में है, यह पुत्र ग्रहीता का श्राद्ध करता है, अतः 'पिण्डं दत्वा धनं हरेत्' न्याय से वह पुत्र ही होता है। वस्तुतः एकलव्य निषादराज हिरण्यधनु का पालित पुत्र था। सम्भवतः द्रोण को एकलव्य का प्रकृत परिचय ज्ञात नहीं था, अतः उन्होंने एकलव्य को शिष्य के रूप में स्वीकार नहीं किया।

आदिपर्व १३१।३२ श्लोक से शायद यह ध्वनित होता है कि द्रोण को एकलव्य का प्रकृत परिचय ज्ञात था, पर चूँकि एकलव्य निषादपुत्र के रूप में प्रसिद्ध हो गया था, अतः पाण्डवों की ओर दृष्टि रखकर ही उन्होंने एकलव्य को धनुर्विद्या नहीं सिखाई। आदि० १३१।३२ में जो 'तेषामेवान्ववेक्षया' वाक्य है इससे यह ध्वनित होता है कि द्रोण जानते थे कि एकलव्य जातितः क्षत्रिय है,

अतः यदि उसको वाणविद्या सिखाई जायगी, तो वह अर्जुन आदि से अधिक बलवान योद्धा हो जाएगा, इस हेतु से शिष्यवत्सल द्रोण ने अपना धर्म (अर्थात् अर्जुन को सबसे बड़ा योद्धा बनाऊँगा, रूप प्रतिज्ञा) को पूर्ण करने के लिए जान-बूझकर एकलव्य को अपना शिष्य नहीं बनाया। इस श्लोक में जो 'धर्मज्ञ' विशेषण है, उसकी यही ध्वनि है, ऐसा मैं समझता हूँ, यद्यपि निश्चयेन ऐसा ही है, यह नहीं कह सकता।

यह भी चिन्तनीय है कि द्रोण के पास अस्त्रविद्या सीखने के लिए राजा और राजपुत्र आए थे (१३१।३०)। राजा-राजपुत्र क्षत्रिय ही होते थे (उस काल में), अतः निषादराज हिरण्यधनु ने एकलव्य को जातितः क्षत्रिय जानकर ही द्रोण के पास भेजा होगा, पर द्रोण ने प्रकटरूप से कुछ कारण न कहकर एकलव्य को शिष्य बनाना अस्वीकार किया था। यदि द्रोण यह बताते कि 'चूँकि तुम जातितः निषाद हो, अतः मैं तुमको शिष्य नहीं बनाऊँगा,' तो निश्चित ही उस समय इस बात पर छानबीन होती। महाभारत के आदिपर्व में 'नैषादिरिति चिन्तयन् तं न प्रतिजग्राह' (१३१।३२) कहा गया है, अर्थात् मन में सोचकर कि यह नैषादि (निषादकुलजात यानी निषादकुलजात के रूप में प्रसिद्ध) है, उन्होंने अर्जुन की रक्षा के लिये कोई कारण मुख से कहे विना एकलव्य को शिष्य बनाने में अस्वीकार किया था। उस काल में एकलव्य के लिए लौट जाने के अतिरिक्त और कोई मार्ग नहीं था, गुरु से प्रश्नोत्तर नहीं कर सकता था।

एकलव्य के जीवन के उत्तरार्ध के विषय में कुछ सामग्री हरिवंश में मिलती है। इस पुराण में कहा गया है कि जब पौण्ड्रक ने यादवों पर आक्रमण किया था, तब एकलव्य ने पौण्ड्रकपक्ष के योद्धा के रूप में युद्ध किया था (भविष्य० ९४ अ०)। यहाँ एकलव्य का 'निषादप' (= निषादों का अधिपति) विशेषण दिया गया है (९४।२६)। इसी प्रसङ्ग में बलभद्र के साथ एकलव्य के भयंकर युद्ध का वर्णन मिलता है (९८ अ०; यहाँ भी निषाद, निषादप आदि शब्द व्यवहृत हुए हैं)। एकलव्य बलभद्र के द्वारा पराजित होकर समुद्र की ओर भागा और समुद्र में घुसकर पाँच योजन दूर चला गया और वहाँ रहने लगा—इत्यादि घटनाएँ १०२वें अध्याय में कही गई है (१०२।१–६)। भारतसमुद्र के अन्तर्गत विभिन्न द्वीपों में निषादजाति के जो लोग रहते हैं, उनके साथ इस घटना की कोई संगति लग सकती है या नहीं, इस पर विद्वानों को विचार करना चाहिए।

: २१ :

नामकरण की पौराणिक पद्धतियाँ

किसी भी तीर्थ, नदी, नगर, पर्वत तथा जनपद आदि का नामकरण कैसे होता है, यह एक अध्येतव्य विषय है। 'नामकरण' यह शब्द ही बताता है कि भौगोलिक पदार्थों का नाम दिया जाता है, वे चिरकाल से स्वतः चले नहीं आते। हमें स्पष्ट प्रतीत होता है कि भौगोलिक प्रमेय (तीर्थ, जनपद, पर्वत, नदी आदि) के नाम किसी-न-किसी कारण से ही पड़े हैं, यह नहीं कि निष्कारण ही उन नामों का प्रचलन हुआ है। पर्वतादि के वाचक शब्द 'संज्ञा' कहलाते हैं, और 'संज्ञा' के विषय में पूर्वाचार्यों की यह मान्यता थी कि संज्ञा 'किसी व्यक्ति के द्वारा किसी हेतु के ही दी जाती थी।' इस विषय की उपपत्ति अन्यत्र द्रष्टव्य है।

प्रस्तुत प्रकरण में हम पुराणीय साक्ष्य के अनुसार उन कारणों के निदर्शन प्रस्तुत करेंगे, जिसके लिए किसी भौगोलिक प्रमेय का नाम पड़ा है। हम केवल पौराणिक विवरण ही यहाँ उद्धृत करेंगे और उन विवरणों की युक्तता की परीक्षा पृथक् ग्रन्थ में की जाएगी।

विशिष्ट-वस्तु-हेतुक नाम—यह देखा जाता है कि किसी स्थान-विशेष का नाम उस स्थान के किसी विलक्षण पदार्थ के नाम के अनुसार पड़ जाता है। आज भी यह पद्धति समान रूप से प्रचलित है। पुराणों के अध्ययन से पता चलता है कि किसी समय पृथिवी के विभाग के जो सात द्वीप थे, उनका नामकरण इसी नियम के अनुसार हुआ था। यथा—

पृथिवी के सात द्वीप हैं—जम्बू, प्लक्ष, शाल्मलि, कुश, क्रौंच, पुष्कर तथा शाक। इन द्वीपों के नामकरण के विषय में प्रत्येक पुराण के भुवनकोश में स्पष्ट रूप से कहा गया कि है इन द्वीपों में जम्बू, प्लक्ष आदि के नाम से महान् सात वृक्ष हैं, जिनके अनुसार ये सात नाम पड़े हैं। सभी पुराणों में यह बात समान रूप से लिखी है, अतः यहाँ किसी का उद्धरण नहीं दिया जा रहा है। विद्वान् व्यक्ति भुवनकोश अंश का अध्ययन कर इसकी सत्यता स्वयं जान सकते हैं।

इस पद्धति का अन्य उदाहरण 'अविमुक्त' शब्द भी है। कूर्मपुराण कहता है—"श्मशानमेतद् विख्यातम् अविमुक्तं ततः स्मृतम्" (१.३१।२७ तथा अन्यत्र भी)। काशी में 'अविमुक्त' एक श्मशान का नाम है जिसके कारण काशी का नाम भी 'अविमुक्त' पड़ गया है। इस देश में जितने तीर्थ हैं, उनमें अधिकांश तीर्थों के नाम तीर्थस्थ लिंग के नाम के अनुसार ही हैं, यह सुप्रमाणित है। अविमुक्त नाम का अन्य हेतु भी है, जैसा आगे दिखाया जाएगा।

विशिष्ट-घटना-हेतुक नाम—यह देखा जाता है कि किसी स्थान में कभी-कोई विशिष्ट घटना संघटित होती है और उस काल से उस घटना के अनुसार उस स्थान का नाम पड़ जाता है। यदि पहले से उस स्थान का कोई नाम नहीं था तो घटना-संवलित वह नाम ही प्रसिद्ध हो जाता है और यदि कोई पूर्वनाम रहा हो, तो भी इस प्रसिद्धतर नूतन नाम के कारण प्राक्तन नाम गौण पड़ जाता है और कभी-कभी वह नाम परवर्ती काल में लुप्त भी हो जाता है। पुराणों में ऐसा स्पष्ट संकेत मिलता है कि किसी स्थान का पहले एक नाम था और बाद में दूसरा नाम हो गया, जैसे द्वारका के विषय में कहा गया है—"पुरीं द्वारावतीं नाम साम्प्रतं या कुशस्थली" (मत्स्य० ६९।९) या "कुशस्थली या ह्यमरावतीव, सा द्वारका सम्प्रति तत्र चास्ते" (विष्णु० ४।१।२०) इत्यादि। विशिष्ट-घटना-हेतुक नामकरण के कुछ प्रसिद्ध उदाहरण ये हैं—

प्रसिद्ध नैमिषक्षेत्र के नामकरण के विषय में कहा गया है—"भ्रमतो धर्मचक्रस्य यत्र नेमिरशीर्यत, कर्मणा तेन विख्यातं नैमिषं मुनिपूजितम्" (वायु० २।८)। यह मत कूर्मपुराण में भी मिलता है, यथा "तस्य वै व्रजतः क्षिप्रं यत्र नेमिरशीर्यत, नैमिषं तत् स्मृतं नाम्ना' (२।४३।९)। इन दोनों वाक्यों से यह स्पष्ट ध्वनित होता है कि चक्र की नेमि टूटने से ही नैमिष नाम पड़ गया। इस विषय पर अन्य मत भी हैं, जिनकी चर्चा यहाँ अप्रासंगिक है।

दूसरा उदाहरण लीजिए। सरस्वती के विनाशस्थान का नाम 'विनशन' पड़ गया, यह तो महाभारत में स्पष्ट उल्लिखित है (शल्य० ३८।१)। उसी प्रकार 'बाहुदा नदी' के विषय में भी बाहु दान करने की एक कथा का उल्लेख पुराणों में मिलता है, जिसका विवक्षित तात्पर्य हम नहीं समझ पाए हैं।

कपालमोचन तीर्थ भी इस पद्धति का प्रसिद्ध उदाहरण है। वामन० (३।४८–५१) तथा कूर्म० (२।३१ अ०) आदि में इस नाम की उपपत्ति के लिये शिवसम्बन्धी एक कथा मिलती है। यह पद्धति भौगोलिक दृष्टि से उपादेय तो नहीं

है, पर इसका कुछ-न-कुछ तात्पर्य होगा, यह निश्चित है। अधिकारी विद्वानों को ऐसी कथाओं के अभिप्राय पर विचार करना चाहिए।

विशिष्ट घटना के कारण नया नाम पड़ जाता है, इस तथ्य का दूसरा उदाहरण 'रैवत्तक पर्वत' भी है। पहले इस पर्वत का नाम कुमुद था। इस पर रेवती नक्षत्र का पतन हुआ था, और इसीलिये इसका नाम रैवतक पड़ गया, यह मार्कण्डेय पुराण में स्पष्ट वर्णित है (७५।२१–२३)।

विशिष्ट-गुण-हेतुक नाम—जैसे विशिष्ट घटना से स्थान आदि का नाम पड़ता है, वैसे उस स्थान आदि के किसी विशेष गुण के (सौन्दर्य, कला इत्यादि के) कारण भी नाम पड़ जाता है। निम्नोक्त उदाहरणों से यह बात प्रमाणित होगी—

द्वारकापुरी के नामकरण के विषय में कहा गया है कि वह 'बहुद्वारा' (=अनेक द्वारवाली) है (अग्नि० २७२।१५), और इसीलिये कभी-कभी 'द्वारवती' शब्द का भी प्रयोग मिलता है (विष्णु० ५।२४।७ कूर्म० १।२६।२२)। जब 'द्वारावती' शब्द प्रयुक्त होता है, तब भी उसका वही अर्थ है, और संज्ञा होने के कारण पाणिनि के 'शरादीनां च' (६।३।१२०) सूत्र से दीर्घ होता है।

इस पद्धति का दूसरा उदाहरण 'स्वर्णोदका नदी' है। इसके नामकरण के विषय में लिंगपुराण में कहा गया है : "यस्मात् सुवर्णान् निःसृत्य नद्येषा सम्प्रवर्तते, स्वर्णोदकेतिता माह देवदेवस्त्रियम्बकः" (लिंग० १।४३।४६), अर्थात् इस नदी से चूँकि प्रचुर स्वर्ण निकलता है, इसलिये इसका नाम 'स्वर्णोदका' है।

इस पद्धति का अन्य उदाहरण 'अविमुक्त' (=काशी) नाम है। पुराण में एक स्थान पर यह कहा गया है कि अवि (=पाप) से यह प्राणियों को मुक्त करता है, अतः इसका नाम 'अविमुक्त' है (लिंग० १।९२।१४३)

शासक या स्थापयिता के अनुसार नाम—पुराणों में इस पद्धति का सर्वाधिक व्यवहार है। जिस द्वीप, नगर, पुरी या वर्ष का जो शासक या आदि स्थापनाकारी है, उसके नाम के अनुसार प्रायः उस स्थान का भी नाम पड़ गया है। (इस प्रसंग में यह भी जान लेना चाहिए कि कभी-कभी स्पष्ट रूप से यह कहा नहीं गया है कि अमुक नाम शासक नाम के अनुसार है, पर जब हम स्थान के नाम को शासक के नाम के अनुसार ही देखते हैं, तब हम यह निश्चित रूप से जान जाते हैं कि वस्तुतः यहाँ का नामकरण उपर्युक्त पद्धति के अनुसार ही हुआ है)। निम्नोक्त उदाहरणों से यह बात स्पष्ट होगी—

पूर्वभारत में पाँच प्रसिद्ध जनपद थे—अङ्ग, वङ्ग, सुह्म, कलिङ्ग तथा पुण्ड्र। वायु० (९९ अ०) मत्स्य० (४८ अ०) विष्णु० तथा अन्यान्य पुराणों में भी यह स्पष्ट लिखा है कि इन पाँच जनपदों (कहीं-कहीं विषय) के नाम बलि के पाँच पुत्रों (जिनके भी यही नाम हैं) के अनुसार हैं, जो इन पाँच स्थानों के शासक थे।

इस पद्धति का दूसरा उदाहरण जम्बू आदि सात द्वीपों के वर्षों के नामकरण में भी मिलता है। प्रत्येक द्वीप के वर्षों का नामकरण उनके शासकों के अनुसार ही किया गया है, यह प्रत्येक पुराण के भुवनकोश में स्पष्ट लिखा हुआ है।[1]

अन्य उदाहरण भी लीजिए। श्रावस्तीपुरी का नाम उनके राजा श्रावस्त या श्रावस्ति के नाम के अनुसार,[2] तक्षशिलापुरी तक्षनृपति के अनुसार और पुष्करावतीपुरी पुष्करनृपति के अनुसार है (वायु० ८८।१९०)। हस्ती नामक राजा ने 'हस्तिनापुर' बसाया (विष्णु० ४।१९।१०)। वैशालीपुरी भी राजा तृणविन्दु के पुत्र विशाल के नाम के अनुसार ही है (विष्णु० ४।१।१८), अङ्गदीयापुरी भी लक्ष्मणपुत्र अङ्गद के नाम के अनुसार है (वायु० ८८।१८७-१८८) इत्यादि।

कभी-कभी शासक के नामों के अनुसार न होकर शासकसम्बन्धित अन्य गुण के अनुसार भी जनपदों का नाम किया जाता था। पाञ्चाल देश इसका प्रमुख उदाहरण है। इस नाम के विषय में विष्णुपुराण कहता है "ततो हर्यश्वः, तस्माद् मुद्गल-सृञ्जय-बृहदिषु-प्रवीर-काम्पिल्याः पञ्चानामेतेषां विषयाणां रक्षणाय अलम् एते मत्पुत्रा इति पित्राभिहिता अतः ते पाञ्चालाः (४।१९।५)। इन पांचाल क्षत्रियों के कारण इस स्थान का नाम भी पाञ्चाल पड़ा—यह ऐतिहासिक तथ्य है। अन्य पुराणों में भी इस ओर संकेत है (अग्नि० २७७।२०; मत्स्य० ५०।४ इत्यादि)।

उत्पत्तिस्थान के अनुसार नामकरण—यह पद्धति मुख्यतः नदी, सरोवर इत्यादि में ही दीख पड़ती है। जिस पर्वत या स्थान से जो नद या नदी निकलती

---

१. कभी-कभी यह भी देखा जाता है कि अधिपति के अनुसार नाम नहीं भी पड़ता है; एक राजा के तीन पुत्र थे, उत्कल, गय तथा विनताश्व। उत्कल के नाम के अनुसार उत्कलापुरी और गय के नाम के अनुसार गया थी, पर विनताश्व के राज्य का नाम पश्चिमराष्ट्र ही पुराणों में सर्वत्र कहा गया है।

२. लिंग० १।६५।३४; विष्णु० ४।२।१३।

है, कभी-कभी उस उद्गम स्थान के नाम के अनुसार उसका नाम पड़ जाता है। यथा—

यमुना का एक नाम कालिन्दी है। पुराण कहता है—"यमुना च नदी जज्ञे कलिन्दान्तरवाहिनी" (मार्क० ७८।३०) और इस कलिन्द पर्वत से प्रवाहित होने के कारण ही यमुना का नाम कालिन्दी पड़ा, यह स्पष्ट है। यहाँ यह भी जानना चाहिए कि इस नदी के ये दो नाम स्थान-नियत भी हैं, जिस पर विचार अन्यत्र द्रष्टव्य है।

कभी-कभी यह उत्पत्तिस्थान वास्तव न होकर कल्पित भी माना गया है, जैसे जटोदका नदी का उत्पत्तिस्थान शिव की जटा माना गया है (लिंग० १।४३।३५) और जम्बू नदी के उत्पत्तिस्थान को जाम्बूनदमय मुकुट कहा गया है (लिंग० १।४३।४७)।

एक सरोवर है, जिसका नाम 'अच्छोद' है। वायु० कहता है कि वह 'अच्छोदा नदी' से निकला है (७३।३)। यह स्पष्ट है कि यहाँ उद्गमस्थान के अनुसार ही सरोवर का नाम पड़ा है।

उद्गमस्थान के अनुसार विशेषण शब्द का भी प्रयोग होता है। जैसे गंगा के लिये हैमवती शब्द। हिमवत्-पर्वत से निकलने के कारण ही यह नाम है, यह निश्चित है। उत्पत्ति से सम्बन्धित पदार्थों के अनुसार भी नदी का नामकरण प्रसिद्ध है। गंगा का भागीरथी नाम इसका प्रमुख उदाहरण है। वायु० कहता है—भगीरथस्तु तां गङ्गाम् आनयामास कर्मभिः तस्माद् भागीरथी गङ्गा कथ्यते ब्रह्मवित्तमैः। (८८।१६९, द्र० मत्स्य० १२।१।४४)। भगीरथ से गंगा नहीं निकलीं, पर उनकी उत्पत्ति से भगीरथ का सम्बन्ध है, इसलिये यह नाम पड़ा। यह द्रष्टव्य है।

महत्त्व-ख्यापक नाम—यह पद्धति तीर्थ-स्थानों के लिए विशेषकर प्रवर्तित होती है। तीर्थनामों के निर्वचनों में पुराणों में ऐसी बातें कही गई हैं, जो पूर्वोक्त पद्धति की स्पष्ट ज्ञापिका है। यथा—

अविमुक्त तीर्थनाम इस पद्धति का प्रमुख उदाहरण है। मत्स्य० में इस नाम के विषय में कहा गया है : "विमुक्तं ना मया यस्माद् मोक्ष्यते वा कदाचन्, महत् क्षेत्रमिदं तस्माद् अविमुक्तमिदं स्मृतम्" (१८०।५४)।

व्यक्ति नामानुसार स्थान नाम—तपस्वी, योगी या अवतार आदि के नाम के अनुसार भी तीर्थ-स्थानों का नामकरण पुराणों में बहुधा मिलता है।

यहाँ यह भी जानना चाहिए कि इन स्थानों का नाम पहले अन्य कुछ अवश्य था, पर बाद में तपस्वी आदि के नाम के अनुसार ही हो गया है। यथा—

सांख्याचार्य जैगीषव्य वाराणसी की किसी गुहा में रहकर सिद्ध हुए थे। उस गुहा का नाम भी 'जैगीषव्य गुहा' पड़ गया था (लिंग० १।९२।३५)।

उसी प्रकार नकुलीश्वर का आधार होने के कारण एक तीर्थ का नाम नकुलीश्वर तीर्थ पड़ गया (कूर्म० २।४४।१२)। यह पद्धति नन्दितीर्थ नाम के विषय में भी घटती है (कूर्म० २।४१।९०)।

तपस्या के कारण नाम पड़ने का सुन्दर उदाहरण श्रीपर्वत भी है। अग्नि० में कहा गया है कि श्रीरूपिणी गौरी ने यहाँ तप किया था, अतः इसका नाम श्रीपर्वत पड़ गया (११३।४)। उसी प्रकार भृगु ने जिस पर्वतशृंग पर तप किया, उसका नाम भृगुशृंग पड़ गया (लिंग० १।२४।४९-५०)। लिंग० में यह भी कहा गया है कि महादेव का शिखंडी अवतार शिखण्डिनीवन में होगा (लिंग० १।२४।८८)। यहाँ ऐसा समझना ही समीचीन होगा कि शिखण्डी का निवासस्थान होने के कारण ही उस वन का नाम शिखण्डिनी वन हो गया, जैसा पहले कहा गया है। चूँकि पुराण लिखने के समय शिखण्डिनी नाम ही प्रचलित था, अतः इस रूप में ही लिखना पड़ा। यह सिद्धान्त हिमालयस्थ अट्टहासगिरि के नामकरण में भी प्रयुक्त होगा (लिंग० १।२४।९६)।

यह नियम आश्रमों में भी प्रयोज्य है, जैसे शिलाद ने जहाँ तप किया उसका नाम शिलादाश्रम हो गया (लिंग० १।४३।८) इत्यादि।

नामकरण के विषय में कभी-कभी विचित्र बातें पुराणों में मिलती हैं। 'कर्मनाशा नदी' इसका एक उदाहरण है। राजा त्रिशङ्कु के पाप से सम्बन्धित एक कथा इस नाम के साथ युक्त है (वायु० ८८।११३) जिसके तात्पर्य पर विद्वानों को ध्यान देना चाहिए।

नामकरण-विचार में भ्रान्ति—पौराणिक स्थान-नामकरण में विचार करने के लिये कभी-कभी सूक्ष्म दृष्टि भी आवश्यक होती है। इस देश का नाम 'भारत' कैसे हुआ, इस विषय में पुराणकारों का एकस्वर से कहना है कि 'स्वायंभुववंशीय भरत नामक नृप के नाम के अनुसार भारत नाम पड़ा है।'[1]

---

१. भाग० ५।४।९; मार्क० ५७ अ०; नरसिंह० ३० अ०; ब्रह्म० ४८।१०; वायु० ३३।५१-५२।

पर शकुन्तला के पुत्र का नाम भी भरत था, अतः नामसाम्य से यह भ्रान्त धारणा उत्पन्न हो गई थी कि इस भरत के नाम से ही 'भारत' नाम पड़ा है। पुराणों के कुछ ऐसे वचन भी मिलते हैं, आपातदृष्टि से जिनका अर्थ ऐसा प्रतीत होता है कि शकुन्तला-पुत्र भरत के नाम से ही 'भारत' नाम पड़ा है, यथा—"शकुन्तलायां भरतो यस्य नाम्ना तु भारतम्" (वायु० ९९।१३४) या "शकुन्तलायां तु बली [भरतः] यस्य नाम्ना तु भारताः" (अग्नि० २७७।७)। पुराणों के वचनो में विरोध न हो, इसलिए यह मानना पड़ता है कि इन श्लोकों में भारताः-पद 'जनाः' का विशेषण है और 'भारतम्' 'कुलम्' का विशेषण है। इस विषय में महाभारत का श्लोक भी आलोच्य है (आदि० ७४।३१)। इस एक उदाहरण से ही यह सिद्ध होता है कि स्थाननामकरण सम्बन्धी पुराणमतों के तात्पर्य-ज्ञान के लिये सम्बन्धित सभी पुराणांशों का ज्ञान आवश्यक है, अन्यथा भ्रम की उत्पत्ति हो ही सकती है।

पौराणिक नामकरण और तद्धितवृत्तियाँ—पूर्वोक्त उदाहरणों से एक और बात भी निकलती है। वह है—लुप्त तद्धित वृत्तियों का ज्ञान। कालिन्दी (=यमुना) के विषय में एक पुराण कहता है—"कालिन्दी च नदी जज्ञे कलिन्दान्तरवाहिनी"। इससे 'अन्तरवहन' रूप वृत्ति में तद्धितप्रत्यय की संभावना ज्ञात होती है। 'प्रभव' अर्थ में जिस प्रकार 'हैमवती' (गङ्गा) शब्द सिद्ध होगा,[1] तथैव कालिन्दी शब्द 'अन्तरवहन' वृत्ति में तद्धित-प्रत्यय से सिद्ध होगा।

द्वितीय उदाहरण—नैमिषेय (ऋषिगण) शब्द की व्याख्या में कहा गया है—"नैमिष ईजिरे यत्र नैमिषेयास्ततः स्मृताः" (वायु० २।१३)। इससे 'तत्र यजते' रूप एक नई तद्धितवृत्ति का ज्ञान होता है। यों इन नई वृत्तियों का अन्तर्भाव पाणिनिव्याकरणगत किसी सामान्य वृत्ति में कोई कर सकता है, पर तब भी यह मानना ही होगा कि पुराण के अध्ययन से अनेक अज्ञात विशेष वृत्तियों का ज्ञान होता है।

---

१. द्र० पाणिनि का सूत्र 'प्रभवति' (४।३।८३), जिसके उदाहरण में व्याख्याकार कहते हैं—"हिमवतः प्रभवति हैमवती गङ्गा"।

: २२ :

पारिभाषिक शब्दनिर्माण के क्षेत्र में इतिहास-पुराण का उपयोग

आजकल चारों ओर नूतन-शब्द-निर्माण[1] की पद्धति अपनी चरम गति से चल रही है। विज्ञानशास्त्रीय यन्त्रादि के नामों के संस्कृतमूलक नूतन वाचक शब्दों[2] का निर्माण अवश्य ही वैदुष्यज्ञापक कार्य है और इस कार्य में विभिन्न स्रोतों से जो भी सहायता मिल सकती है, उसका संग्रह करना चाहिए।

इस क्षेत्र में इतिहास-पुराण का शब्द-भाण्डार हमारे लिये अपूर्व निधि है। उपसर्गों की सहायता से एकजातीय पदार्थों के ही अवान्तर भेदों के ज्ञापन के उदाहरण इस साहित्य में प्रचुरमात्रा में मिल जाते हैं। निम्नोक्त उदाहरणों से यह बात प्रमाणित होगी तथा हम भी नवीन-शब्द-निर्माण में इन उपसर्गों का सफलतापूर्वक प्रयोग कर सकेंगे। निम्नोक्त उदाहरणों में यह दिखाया जाएगा कि जब हम एक जाति के अवान्तर भेदों के लिये एक धातु से विभिन्न उपसर्गों की सहायता से शब्दों का निर्माण करने चलेंगे, तब 'किस प्रकार के भेद के लिये कौन उपसर्ग समीचीन है', इसका निश्चित उदाहरण हमें प्राप्त होगा और हम निःसंशय होकर नूतन शब्दों का निर्माण कर सकेंगे।

---

१. इस प्रकरण में वही शब्द लिए जाएँगे जो एक जाति के अवान्तरभेदों के लिये प्रयुक्त होते हैं। उपसर्गभेद से जहाँ पृथक् असंलग्न पदार्थों का बोधन कराया जाता है, वे शब्द यहाँ विचारित नहीं होंगे, यथा—संपन्न-आपन्न-विपन्न-प्रपन्न-उत्पन्न।

२. आजकल हिन्दी में 'पारिभाषिक' शब्द से उन शब्दों को भी लिया जाता है, जो वस्तुतः शास्त्रीय दृष्टि में पारिभाषिक नहीं हैं। 'शास्त्रकार के द्वारा संकेतित शास्त्रमात्र व्यवहार्य' शब्द ही पारिभाषिक शब्द हैं, यथा पाणिनि व्याकरण का वृद्धिशब्द (१।१।१)। हिन्दी में तो लोकव्यवहार्य वाचक शब्द भी पारिभाषिक माने जाते हैं, जैसा कि नवनिर्मित पारिभाषिक शब्दों को देखने से ज्ञात होता है।

पञ्चप्राणनाम—पञ्चप्राण[1] के जो पाँच अवान्तर भेद हैं, उनके नाम भी एक ही धातु से (उपसर्गभेदपूर्वक) बनाए गए हैं—प्राण-अपान-समान-व्यान-उदान। यहाँ प्र, अप, सम्, उद्, वि—इन उपसर्गों के साथ अन (अन प्राणने) धातु का प्रयोग है। प्राणादि शब्दों की व्याख्या में पूर्वाचार्यों ने जो कहा है, उससे इन उपसर्गों की शक्ति ज्ञात होती है, यथा—

प्राण—प्राग्वृत्ति।

अपान—अपनयनकारी।

समान—समनयनकारी।

उदान—ऊर्ध्वारोहण-उत्कर्ष-उन्नयन-कारी।

व्यान—व्याप्तिवृत्तियुक्त।

पंच प्राण संचरणशील हैं (और संचरणशीलता के कारण ही वे वायु कहे जाते हैं), अतः संचरण-क्रियाजातीय वैज्ञानिक क्रिया के वाचक शब्दों के निर्माण में प्र-अप् आदि उपसर्गों का प्रयोग इन उदाहरणों के अनुसार हम कर सकते हैं। प्राण को विधारिणी शक्ति कहा गया है, अतः विधारणक्रियासम्बन्धी शब्दनिर्माण में भी इन उपसर्गों का प्रयोग सार्थकतापूर्वक किया जा सकेगा।

पक्षिगति संबन्धी शब्द—पक्षिगतियों के अष्ट प्रकारों के सम्बन्ध में स्कन्दपुराण में श्लोक मिलते हैं (चतुरशीति लिङ्ग० ४५।३१-३२)। यहाँ प्रडीन-उड्डीन-संडीन—ये उपसर्ग-घटित शब्द हैं, जो गतिविशेषों के वाचक हैं (काण्ड-व्याड-कपाटिका इत्यादि पाँच नाम अन्य प्रकार के हैं)। पुराण में इन शब्दों का कोई अर्थ नहीं कहा गया है, पर महाभारतीय प्रयोग से इनके अर्थ ज्ञात हो जाते हैं, यथा—

कर्ण० ४१।२५-२९ में पक्षिगतियों के बहुसंख्यक नाम आए हैं, जिनमें उपसर्गहेतुक अर्थभेद के महत्त्वपूर्ण उदाहरण द्रष्टव्य हैं (अन्य प्रकार के नाम भी हैं)। यथा—उड्डीन, अवडीन, प्रडीन, निडीन, संडीन, विडीन, परिडीन, पराडीन, सुडीन, अभिडीन और अतिडीन। टीकाकार नीलकण्ठ ने इनके जो अर्थ कहे हैं, उनसे उपसर्गों के अर्थस्फोरण-शक्ति का ज्ञान स्पष्टतः हो जाता है।

---

१. पञ्चप्राण के विवरण के लिये निम्नोक्त स्थल द्रष्टव्य हैं—वायु० ९७।५२-५६; लिङ्ग० १।८।६१-६७; शान्ति० १८५ अ०; अश्वमेध० २३ अ०; इत्यादि।

विमानचलनक्रिया से सम्बन्धित शब्दों के निर्माण में इन उपसर्गों का प्रयोग—उड्डयनसम्बन्धी क्रियावैशिष्ट्य को लक्ष्यकर—हम सफलतापूर्वक कर सकते हैं।

असिचालनसंबन्धी शब्द—तलवार चलाने के कुछ नामों के अध्ययन से भी उपसर्गशक्ति का ज्ञान होता है। द्रोण० १९१।३८-३९ में ये नाम मिलते हैं। यहाँ उपसर्गशक्ति द्योतक नाम ये हैं—

भ्रान्त—तलवार को मण्डलाकार चलाना।

उद्भ्रान्त—बाँह ऊपर उठाकर मण्डलाकार चलाना।

प्रसृत—तलवार की नोक से शत्रु शरीर का स्पर्श करना।

सृत—चकमा देकर शस्त्र का आघात करना।

परिवृत्त—शत्रु के दाएँ बाएँ तलवार चलाना।

निवृत्त—पीछे हटना।

ये नाम कर्ण० २५।३२ में भी आया है। इतस्ततः विक्षेपण क्रिया से सम्बन्धित शब्दों के निर्माण में इन उपसर्गों का प्रयोग किया जा सकता है—उपदर्शित प्रयोगों के अनुसार। हरिवंश० ३।१२५ अ० में भी असियुद्ध-सम्बन्धी भ्रान्त उद्भ्रान्त आदि शब्द हैं।[1]

गदायुद्ध-सम्बन्धी शब्द—आदिपर्व (६८।१२) में चतुष्पथ गदायुद्धों का उल्लेख है। नीलकण्ठ ने इन चारों के नाम और लक्षण दिए हैं—प्रक्षेप (दूरवर्ती शत्रु पर फेंकना), विक्षेप (समीपवर्ती शत्रु पर गदा की कोटि से प्रहार), परिक्षेप (सब ओर गदा को घुमाकर प्रहार), अभिक्षेप (गदाग्रभाग से प्रहार)। यहाँ प्र-वि-परि-अभि—इन चार उपसर्गों की द्योतनशक्ति स्पष्टतः कही गई है।

---

१. यहाँ नीलकण्ठ कहते हैं—"भ्रान्तमुद्भ्रान्तमित्यादयः द्वात्रिंशत्खड्गभेदाः यथायथमूह्याः, खड्गशास्त्रे वान्वेषणीयाः" (३।१२५।१७)। यदि आज खड्गगदा-धनुः आदि शास्त्रों के ग्रन्थ प्रचुरमात्रा में उपलब्ध होते, तो पारिभाषिक शब्दनिर्माण का कार्य बहुत कुछ सरल हो जाता। वैज्ञानिकशास्त्रों का लोप हमारी अदूरदर्शिता का फल है। मान लीजिए कि यदि आज गार्ग्य, गालव आदि के द्वारा प्रणीत तक्षशास्त्र (लकड़ी चीरने का शास्त्र) उपलब्ध होता, या वारिशास्त्र, पक्षिशास्त्र आदि के आर्षग्रन्थ मिलते तो सहस्रों पारिभाषिक शब्द हमें अनायास मिल जाते। वल्लालसेनकृत अद्भुतसागर ग्रन्थ और बृहत्संहिता ग्रन्थ में भी उपयोगी पारिभाषिक शब्द मिलेंगे।

शल्य० (५७।१७-२०) में गदायुद्ध-सम्बन्धी शब्दों में भी उपसर्गशक्ति का विशद उदाहरण मिल जाता है। निम्नोक्त शब्द दर्शनीय हैं—

गत—शत्रु का सम्मुखीन होना।

प्रत्यागत—सम्मुख में रहकर ही थोड़ा-सा हट आना।

परिवर्तन—प्रहार करने के लिये शत्रु के चारों और घूमना।

संवर्त—शत्रु के प्रसारण का अवरोध करना।

अवप्लुत—शत्रु के प्रहार को व्यर्थ करने के लिये अपने शरीर को अवनत करना।

उपलुप्त—ऊपर कूदकर प्रतिपक्ष के प्रहार को व्यर्थ करना।

उपन्यस्त—शत्रु की दुर्बलता को जानकर उसके पास जाकर प्रहार करना।

अपन्यस्त—घूमकर शत्रु के पीछे आकर उस पर आघात करना।

परस्पर बाहुयुद्ध के शब्द—विराट० १३वें अध्याय में नियुद्ध (परस्पर बाहुयुद्ध) के वर्णन में कुछ विशिष्ट नाम आए हैं, जिनसे भी उपसर्ग शक्ति का ज्ञान हो जाता है, यथा—

कृत—शत्रु के शरीर के किसी भी स्थान पर सहसा निपीडन।

प्रतिकृत—कृतमोचन = निपीडन का प्रतीकार।

प्रमाथ—मिट्टी में गिराकर जोर से पीसना।

उन्मथन—शत्रु को उठाकर उसका अङ्गमर्दन करना।

आकर्षण—परिश्रान्त शत्रु को अपने पास खींच लाना।

प्रकर्षण—खींचकर अपने गोद में रखकर शत्रु को अच्छी तरह से पीटना।

अभ्याकर्षण—शत्रु के छिद्रान्वेषण करने के लिये उसके सामने पीछे और इधर-उधर घूमना।

विकर्षण—सुयोग पाकर सहसा शत्रु को पकड़ कर धरती में गिरा देना।

महाभारत में भीमजरासन्धबाहुयुद्ध के वर्णन में प्रकर्षण-आकर्षण-अनुकर्षण (अनुकर्ष)-विकर्षण—ये चार शब्द व्यवहृत हुए हैं (सभा० २३।२६), यथाक्रम इनके अर्थ हैं—पीछे ढकेलना, आगे खींचना, बार बार खींचना और छीना-झपटी करना (नीलकण्ठ-व्याख्या)। इन अर्थों को देखने से प्र-आ-अनु-वि—इन चार उपसर्गों की द्योतनशक्ति का निश्चित ज्ञान होता है और हम 'परस्पर संघर्षण' क्रिया से संबद्ध शब्दों के निर्माण में इन उपसर्गों का सार्थक प्रयोग कर सकते हैं।

भाग० १०।४४।३-५ में एक बाहुयुद्ध का वर्णन है, यहाँ कई शब्दों का व्यवहार है; उनमें एकधातुज शब्द हैं—उत्सर्पण, अपसर्पण। यथाक्रम इनके

अर्थ हैं--'उत्सृज्य पुरतो गमनम्' तथा 'पृष्ठतो गमनम्' (श्रीधरी टीका)। गति-सम्बन्धी शब्दावली के निर्माण में ये उदाहरण सहायक सिद्ध होंगे।

सप्त वायु-प्रकार—पुराणादि में जो सप्त प्रकार के वायु (पृथिवी-अन्तरिक्ष आदि के सात स्तरों में प्रवहणशील) के नाम मिलते हैं,[1] उनमें भी उपसर्ग-शक्ति के उदाहरण मिल जाते हैं। नाम ये हैं--प्रवह, आवह, उद्वह, संवह, विवह, परिवह और परावह (मत्स्य-ब्रह्माण्ड-वायुपुराण का भुवनकोष तथा शान्ति० ३२८।३६-५२)। यहाँ वायु को प्रवाहशीलता की प्रकृति को लक्ष्य कर आ-प्र-उद्-सम्-वि-परि-परा--इन उपसर्गों का प्रयोग किया गया है। यद्यपि यह कहना कठिन है कि इन उपसर्गों से कौन-सी विचित्रता दिखाई गई है (प्राचीन व्याख्यान के अभाव के कारण), तब भी अनुमान के बल पर कुछ निश्चय हो ही जाता है। संचरण-क्रिया से सम्बन्धित पारिभाषिक शब्दों के निर्माण में इन उपसर्गों का उचित प्रयोग किया जा सकता है।

---

१. मरुत्नाम—अग्नि० २१९ अ० में उनचास मरुतों के नाम हैं—एकज्योति, द्विज्योति, एकशक्र, द्विशक्र आदि। इन मरुतों के गुणकर्मों का अनुसन्धान कर उन नामों के अर्थों के साथ शब्दों के सम्बन्धों को यदि देखा जाय तो इन शब्दों के आधार पर पारिभाषिक शब्दों का निर्माण करना बहुत कुछ सरल हो जाएगा। मरुत्नामों में उपसर्ग-भेदहेतुक अर्थभेद अत्यल्प है, केवल 'मित-संमित-अमित', 'अतिमित्र-अनुमित्र-पुरुमित्र', 'धाता-विधाता' 'धारण-विधारण' इत्यादि नामों में उपसर्गों का प्रयोग लक्षणीय है। हम यह भी समझते हैं कि इतिहास-पुराणों में जितने 'सहस्रनाम' और 'शतनाम' कहे गए हैं, उनके अध्ययन से भी पारिभाषिक शब्दनिर्माण में सहायता मिल सकती है।

: २३ :

इतिहास-पुराण में माला का निर्देश

कला, पूजा आदि में माला का एक मर्यादित स्थान है। अग्नि० में कहा गया है—

"धर्मार्थ-काम-मोक्षाणां भाजनो पापनाशनी।
सौभाग्यारोग्यलक्ष्मीदा पुष्पमाला प्रगृह्यताम्॥"

(अग्नि० २०६।९-१०)। यहाँ माला को धर्मार्थ-काम-मोक्ष का आश्रय, पापनाशकारिणी तथा सौभाग्य एवं आरोग्य देनेवाली कहा गया है। हमारी संस्कृति के प्राचीन आचार्यों ने इस बात को सहर्ष स्वीकार किया है। पाठकों की जानकारी के लिये हम यहाँ माला-सम्बन्धी पौराणिक सामग्री का संकल्प कर रहे हैं—

पहले ही जानना चाहिए कि **माला** और **माल्य** में भेद है, यद्यपि कोशों में सर्वत्र इस भेद को माना नहीं गया है (द्र० अमर० २।६।१३५)। स्कन्द पुराण में कहा गया है—"माला तु प्रपदीना स्यात् माल्यं कण्ठोरुलम्बितम्" (पुरुषोत्तम० ३०।१४०), अर्थात् माला पैर तक व्यापने वाली होती है और माल्य वह है जो कण्ठ और उरु पर्यन्त रहती है[1] (पुराणों में इस भेद को मानकर सर्वत्र प्रयोग नहीं किया गया है, यह ज्ञातव्य है)।

मालाओं के विभिन्न प्रकारों पर कहीं-कहीं कुछ न कुछ सामग्री मिलती है, यथा—

वनमाला—महाभारत और पुराणों में इसका बहुधा उल्लेख मिलता है। महाभारत के प्राचीन टीकाकार देवबोध ने इसका लक्षण दिया है—"सपुष्प पल्लवग्रथिता स्रक्' (उद्योग० १९।१८), अर्थात् वह माला जो पल्लव और पुष्प से ग्रथित है। यह वनमाला श्रीकृष्ण को बहुत ही प्रिय थी, क्योंकि उनके लिये बहुधा 'वनमाली' शब्द का प्रयोग आया है (विष्णुसहस्रनाम ५६१)। विष्णुपुराण में भी इस माला का उल्लेख है (५।१८।३७)। वनमाला के

---

१. पुराणों में एक ही वाक्य में माला-माल्य-शब्दद्वय का प्रयोग मिलता है—"माला माल्यमथापि वा" (पुरुषोत्तम० ३०।१३९)।

लिये 'वन्यस्रक्' शब्द भी आया है (भाग० १०।१४।१)। देवीभाग० १।४०।९, अग्नि० २२।१७, गरुड़० १।४३।३१ इत्यादि पुराणों में इस माला का उल्लेख मिलता है। भाग० में वनमाला का एक विशिष्ट विशेषण है 'अम्लान लक्ष्मी'=जिसकी शोभा नष्ट नहीं हुई है (२।२।१०)।

सर्वर्तुपुष्पा माला—ब्रह्म० ३६।२६ में इसका उल्लेख है। सब ऋतुओं में उत्पन्न होने वाले पुष्पों से यह माला बनती थी, ऐसा प्रतीत होता है।

चित्रमाल्य—ब्रह्म० में चित्रमाल्य से शोभित कृष्ण-बलराम का वर्णन आया है (१९३।१३)। भागवत में भी 'चित्रस्रक्' उल्लिखित है (९।११।३३)। विचित्रमाल्य-सम्बन्धी एक श्लोक स्कन्दपुराण में दर्शनीय है—'मां प्रत्यग्रैः सुकुसुमैः सुशुभैः इष्टगन्धिभिः, सुविचित्राणि माल्यानि' (चतुरशीति लिंग० ४५।८५)। माला के लिये 'इष्टगन्धि' विशेषण ध्यान देने योग्य है। विष्णु० ५।२०।१३ में भी इस माल्य का उल्लेख है। 'स्रग्भिः विचित्रमाल्याभिः' भागवत में भी है (३।२३।१४)। यहाँ श्रीधर स्वामी ने विचित्रमाल्य का अर्थ किया है—'विचित्राणि माल्यानि पुष्पाणि यासु'। यहाँ 'माला पर स्थित भ्रमर' का भी निर्देश है।

वैजयन्तीमाला—श्रीकृष्ण के साथ इस माला का नाम इतिहास-पुराण में प्रायः मिलता है। हरिवंश में इस माला का उल्लेख है (भविष्य० २३५।१५)। यह माला पञ्चरूपा होती थी (ललितासहस्रनाम का भाष्कर भाष्य पृ० १६१)। वैजयन्ती माला का उल्लेख स्कन्दपुराण में भी आया है—"माला च वैजयन्त्याख्या स्वर्णपङ्कजशोभिता" (सेतु० १२।९) तथा "मालां ददुर्वैजयन्तीं श्रीमदुम्बुजशोभिताम्" (सेतु० १९।५५)। विष्णुपुराण में पञ्चरूपा वैजयन्तीमाला का प्रसंग है (१।२२।७०)। इसकी व्याख्या में श्रीधर स्वामी कहते हैं—"पञ्चरूपा मुक्तामाणिक्यमरकतेन्द्रनीलवज्रसमानवर्णा"।

मालती माला—ब्रह्मवैवर्त पुराण में मालती माला से भूषित केशों का उल्लेख आया है (१।५।३४)। श्रीकृष्ण के लिये भी इस माला का उल्लेख है (१।२९।३१)। देवी भागवत में इसका निर्देश है (९।१८।२३)।

पद्ममाला—इसका उल्लेख हरिवंश (विष्णु० १६५।१२) तथा लिंग० में है (१।४३।२९)। 'सितपद्मोत्पलस्रक्' भाग० में है (३।२१।८); यहाँ पद्मोत्पल के विवरण में श्रीधर ने कहा है—"पद्मोत्पले दिनरात्रिविकाशे।" ब्रह्माण्ड० में पद्मकिंजल्कवर्ण अम्लानमाला का निर्देश है (३।८।१७२)। सप्तशती में 'अम्लानपङ्कजा माला' उल्लिखित है।

अन्यान्य कुछ मालाओं का उल्लेख भी पुराणों में मिलता है। यथा—अक्षमाला, रुद्राक्षमाला (देवीभाग० ११।४।३७), जयमाला (देवीभाग० ११।५ अ०), कदम्बमाला (विष्णु० ५।६।४७), मयूरमाला (विष्णु० ५।६।४७), कुन्दमाला (विष्णु० ५।१८।३६), तुलसीदल माला (पुरुषोत्तम० ३०।१३८) इत्यादि।[1]

हमने अभी तक यह दिखाया है कि माला[2] से शरीर को शोभित किया जाता था। पुरी की शोभा के लिये भी माला का उपयोग किया जाता था—'मालादिभिः' पुरीं रम्यां भूषयांचक्रिरे" (कूर्म० १।२६।३६)।

पुराणों में विभिन्न देवों की विभिन्न मालाओं के नाम भी मिलते हैं, यथा—वरुण की रसेन्दसारा नामक माला (ब्रह्मवै० ४।५९।३७)। इस प्रकार के उल्लेख और भी मिलते हैं, संक्षेपार्थ जिनका उल्लेख नहीं किया गया।

महाभारत में स्रक और दाम का एक साथ प्रयोग है—स्रग्दामैः (भीष्म० ५३।२०)। इसकी व्याख्या में देवबोध कहते हैं—"स्रग्घटितैः दामभिः। अनेन स्रजां बाहुल्यं दैर्घ्यं च विवक्षितम्"। इससे माला के बाह्य प्रकार का भी ज्ञान होता है।

पूजा में माला का कितना महत्वपूर्ण स्थान है, इससे सभी परिचित हैं। मनु ने कहा है—"गन्धमाल्यैः सुरभिभिः अर्चयेद् देवपूर्वकम्"। अग्निपुराण में जहाँ पूजा अर्चन आदि का विवरण है, वहाँ प्रायेण माला का उल्लेख मिलता है।

---

१. विभिन्न अवयवों में धारण करने के कारण माला के विभिन्न नाम भी हो जाते हैं। यथा—स्रक् या माला (मस्तक में धारण करने पर); गर्भक (केश के भीतर पहनने से); ललामक (सम्मुख भाग में ललाट पर रहने से); प्रभ्रष्टक (शिखा में लटकने से); प्रालम्ब (कोष्ठ में परिधान करने से); वैकक्षिक (उपवीत की तरह)। इस विषय में अमरकोश २।६।१३५-१३६ द्रष्टव्य है।

२. प्राचीन आचार्यों ने माला का निर्वचन इस प्रकार किया है—'मां शोभां लातीति माला' (ललिता सहस्रनाम भाष्य पृ० १६२)—जो शोभा देता हो, वह माला है। यह अर्थ कितना सुन्दर है, इसे कहने की आवश्यकता नहीं।

हम पुराणोक्त एक माला-स्तुति का उल्लेख कर इस विवरण की समाप्ति करेंगे। स्कन्दपुराणान्तर्गत पुरुषोत्तम० (९।३७-४०) में यह स्तुति है—

मालां मुकुन्दशिरसोऽनुपमप्रमोद-
लोभाधरीकृतसुरद्रुमकान्तगन्धाम्।
अन्धीकृतालिनिचयां पवनप्रसारि-
गन्ध-प्रकाशित-जगत्कलुषां नमामि ॥ ३७ ॥

यत्पादपङ्कजगलद्रजसोऽनुषङ्गं
ब्रह्मादयः परमसंपदमापुरस्य।
विष्णोः कलेवरसमुज्ज्वलिताङ्गराग-
संसक्तपुष्पनिलयां प्रणतोऽस्मि मालाम् ॥३८॥

पद्मां हृत्पद्मवसतिं सपत्नीं या हसत्यसौ।
विकस्वरैः सुकुसुमैः विष्ण्वङ्कस्थितिगर्विताम् ॥ ३९ ॥
कुत्रस्थितेयमाहार्षीत् महिमानं स्रगुज्ज्वला।
या श्रीनिधेः शरीरेऽभूत् सर्वाङ्गव्यापिनी चिरम् ॥ ४० ॥

: २४ :

पुराणों में नेत्र-सौन्दर्य का चित्रण

आन्तरिक मनोभाव का स्पष्ट प्रतिफलन यदि किसी भी बाह्य इन्द्रिय में होता है, तो नेत्र ही इसका एकमात्र उदाहरण हो सकता है, इसमें कोई संशय नहीं। वस्तुतः हर्ष, शोक, शान्ति आदि मनोभावों की अभिव्यक्ति अधिक मात्रा में नेत्रों में स्पष्टतः दीख पड़ती है, इस दृष्टि से शारीरिक अंगों में आँख का प्रमुख स्थान है[1]। पुराणकार भी कहते हैं—

"अङ्गानां लोचनं यथा" (ब्रह्मवै० ३।३।१४)

इस प्रकरण में हम नेत्रसम्बन्धी कुछ पौराणिक निर्देशों पर संक्षिप्त विचार करना चाहते हैं। इस सूक्ष्मभावविज्ञापक इन्द्रिय के विषय में पुराण-साहित्य में जो रुचिर ज्ञातव्य सामग्री मिलती है, उसका अध्ययन आवश्यक है। हमारे नवीन कवियों के लिये भी यह संकलन उपकारक होगा।

मीनाक्षी—पुराणादि में मीनाक्षी देवी प्रसिद्ध है। मीन (मछली) की आँखें गोलाकार होती हैं, और गोल आँखें कभी भी स्त्री के लिए सौन्दर्यवर्द्धक नहीं मानी जा सकती, अतः मीनाक्षी का तात्पर्य क्या है, यह विचारणीय है। शाक्त भास्कराचार्य ने ललितासहस्रनाम के भाष्य में इसका तात्पर्य खोल दिया है। वे कहते हैं–"मीनानां वीक्षणमात्रे शिशूनाम् अभिवृद्धिर्नतु स्तन्यदानादिनेति प्रसिद्धेः, तेन कटाक्षमात्रेण भक्तपोषका" (पृ० ३२)। इससे सूचित होता है कि मीनाक्षी कहने से 'मछली की-सी आँखों वाली' नहीं समझना चाहिए, बल्कि जिसकी आँखें करुणा-पूर्ण हैं, जिसके नेत्र से दयाभाव अभिव्यक्त होता है, ऐसी प्रशान्त-नयना देवी को समझना चाहिए। आज तो यह अर्थ लुप्त-प्राय ही है।

पद्माक्ष—इतिहास पुराण में यह शब्द अतिप्रसिद्ध है। हरिवंश की टीका में नीलकण्ठ ने कहा है—"पद्माक्षः सनिमेषदृष्टिः" (३।८३।१७)। पद्माक्ष का यह तात्पर्य कहाँ तक संगत है, इस पर सूक्ष्म दृष्टि से विचार करना चाहिए।

---

१. चक्षु शब्द को कभी-कभी सभी इन्द्रियों का उपलक्षण माना जाता है (द्र० उद्योग० ४५।६ ज्ञानदीपिका)।

ऐसा ही दूसरा शब्द है—**पुण्डरीकाक्ष**, जिसका सामान्य तात्पर्य सभी जानते हैं—जिसके नेत्र कमल के समान हैं—"पुण्डरीकाकारे उभे अक्षिणी यस्य" (विष्णुसहस्रनाम के १११वें नाम का शंकरभाष्य)। पुण्डरीक श्वेत कमल को कहते हैं, अतः पुण्डरीकाक्ष में नयन की श्वेतता सर्वत्र विवक्षित होगी, ऐसी बात नहीं। विष्णुपुराण के पुण्डरीकाक्ष शब्द की व्याख्या में श्रीधर स्वामी कहते हैं—"अत्र श्वेतत्वम् अविवक्षितं लोहितत्वेनैव नयनोत्कर्षात्" (१।१।१ आत्मप्रकाश टीका)। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि नयन में कुछ-न-कुछ लाल रंग होना शोभाकर ही है। क्रोध के समय नयन की रक्तवर्णता प्रसिद्ध ही है। ब्रह्मवैवर्त पुराण में रुष्टा रमणी के विशेषण में **'रक्तपद्मेक्षणा'** शब्द दिया गया है। क्रोधजनित रक्तवर्ण और प्रशान्त नेत्र का रक्तवर्ण—इन दोनों में भेद है, यह ज्ञातव्य है।

पद्मनेत्र से प्रसन्नता का बोध भी होता है। विकसित पद्म में वस्तुतः प्रसन्नता का आभास मिलता ही है। भागवत में 'नमः पङ्कजनेत्राय' कहा गया है (१।८।२२)। यहाँ श्रीधर स्वामी कहते हैं—"पङ्कजवत् प्रसन्ने नेत्रे यस्य।" **'स्फुट पद्मलोचन'** विष्णु० १।४।२६ में है। स्फुट=विकसित।

पद्मनेत्र में रक्तवर्ण आभा की विद्यमानता अन्यत्र स्पष्टतः कही गयी है। भागवत में **'पद्मगर्भारुणेक्षण'** रूप विशेषण का प्रयोग है (३।२८।१३)। विष्णुपुराण में भी **'पद्मपत्रारूणेक्षण'** कहा गया है (५।१८।३६)। मत्स्य० ११६।१० में **'नलिनी-रज-नेत्राभा'** विशेषण है। पद्म के साथ शरत्कालीन पद्म की बात भी आती है। ब्रह्मवैवर्त पुराण में कृष्ण के विशेषण में 'शरन्मध्याह्न पद्मौघशोभामोचनलोचनम्' वाक्य मिलता है (२।२।१८)। पद्मनेत्र की तरह **सुपक्वपद्मनेत्रा** विशेषण भी दिया गया है। ब्रह्मवै० ४।९२।६० में कृष्णविरहिणी राधाका यह विशेषण है (सहृदयों को इस विशेषण पर ध्यान देना चाहिए)। पद्मलोचन या अब्जलोचन के अन्य प्रकार का तात्पर्य भी होता है। विष्णु० १।४।४४ में **अब्जलोचन** शब्द आया है। यहाँ श्रीधर स्वामी कहते हैं—"अब्जे हृत्पुण्डरीके लोचनं दृष्टि र्यस्य" अर्थात् हृदय का साक्षी। इस प्रकार का रहस्यमय अर्थ भी उचित ही है, यदि ग्रन्थ का स्वारस्य तदनुसार ही हो, पर साधारण काव्यादि में इस प्रकार का अर्थ सर्वत्र ग्राह्य नहीं होगा।

पशु-पक्षियों के लोचनों से सम्बन्धित कुछ विशेषण भी देखिए—अग्निपुराण में **'मत्तपारावतेक्षणा'** यह विशेषण प्रशस्त स्त्री के लक्षण में कहा गया है (२४४।१)। भगवती सती के लिये **मृगशावाक्षी** विशेषण है (भागवत०

४।२।११)। मृगशिशु की आँखों में जो स्निग्धता है, वह देखते ही बनती है। शिव के उन्मत्त, नग्न, वीभत्स रूप को दिखाने के समय इस पुराण में **मर्कटलोचन** (बानरों की आँखें जिसकी हैं) शब्द का प्रयोग किया गया है (४।२।११)। बन्दर की आँख में कुछ भी सुषमा दृष्टिगोचर नहीं होती, यह तो स्पष्ट ही है। यमुना नदी को एक रमणी के रूप में मानकर **'सितहंसेक्षणापाङ्गी'** विशेषण हरिवंश में आया है (२।४६।३९)।

किस प्रकार की आँखों से कौन-सा आन्तरिक भाव व्यक्त होता है, इस पर कुछ मननीय बातें गरुडपुराण में मिलती हैं (१।६५।६२-६५)। कुछ उदाहरण यहाँ दिए जा रहे हैं—

आँख का स्वरूप	आँखवाला का परिचय
पद्मपत्राक्ष	सुखभोगी
मार्जारलोचन	पापाचारी
मधुपिंगलचक्षु	दुरात्मा
गजलोचन	सेनानी
गम्भीराक्ष	राजा, स्वामी
नीलोत्पलाक्ष	विद्वान्
श्यामचक्षु	सौभाग्यवान्

अन्यान्य शास्त्रों में भी इस प्रकार के निर्देश मिलते हैं।[1] यदि ऐसे निर्देशों पर कोई परीक्षण कर इनकी सत्यता का निश्चय करें, तो आज उस परीक्षण की महत्ता सर्वत्र मानी जाएगी। यह विषय अंगविद्या (अंगविज्जा) के अन्तर्गत है। हम जानते हैं कि किसी समय इस देश में इस विद्या का बहुत ही आदर था।

नेत्रों की विभिन्न अवस्थाओं से सम्बन्धित विशेषण-पद भी यत्र-तत्र मिल जाते हैं, जैसे—**'चार्वायताक्ष** (भाग० १।०१९।२६)=चारु और आयत आँख वाला। 'आयताक्ष' होना बहुत बड़ी शोभा की बात है। काशीखण्ड में "कर्णाकर्णप्रकीर्णाभ्याम् लोचनाभ्याम्" (११।११८) वाक्य आया है। हम सर्वत्र **'आकर्णविस्तृतलोचन'** विशेषण वीर पुरुषों के लिये देख पाते हैं। वराह-पुराण में **आयतेक्षणा** विशेषण आया है (२।६५)।

---

१. बृहत्संहिता के पुरुष-स्त्री-लक्षणों में भी नेत्र सम्बन्धी ऐसी बातें मिलती हैं।

विलोमलोचन भी नेत्र की अवस्था-विशेष का ज्ञापन करता है। इसका अर्थ है—निम्नदिक्गामी चक्षु। स्कन्दपुराण के अयोध्यामाहात्म्य में उर्वशी के विवरण में यह श्लोक है—

विलोमलोचनापाङ्ग-तरङ्गधवलत्विषा ।
नवपल्लवसच्छायं कल्पयन्ती निजाधरम् ॥ (७।५३)

अर्थात् उर्वशी के स्वभावतः लालवर्ण अधरोष्ठ में उनकी निम्नदिक्-गामिनी ईषत् वक्र दृष्टि पतित हुई है। इस विलोमलोचन की धवल कान्ति से अधरोष्ठ नूतन पल्लव की आभा की तरह ईषत् रक्ताभ हो उठा है। दृष्टि के इस असामान्य वर्णन की चमत्कारिता देखते ही बनती है।

हम **'नासिकाग्रदृष्टि'** से परिचित हैं। नासिका के आरम्भस्थान (भ्रूमध्य) में चित्तस्थैर्य के साथ नेत्र को स्थिर किया जाता है। किसी को गुरु के विना इसका अभ्यास नहीं करना चाहिए। कूर्मपुराण में नेत्र की इस अवस्था का रुचिरवर्णन आया है—"नासिकाग्रे समा दृष्टिरीषदुन्मीलितेक्षणः" (२।११।५३)। यह योगी की दृष्टि है। विष्णुपुराण में **नासाग्रन्यस्तलोचन** शब्द आया है (५।१८।४२)।

'विलोमलोचन' की तरह **वक्रलोचन** शब्द भी मिलता है (ब्रह्मवै० २।२।३३)। **सुवक्रलोचना** पद ब्रह्मवै० ४।८०।४ में आया है। वक्रलोचन का तात्पर्य स्पष्ट है। इससे अपाङ्गदृष्टि की तुलना कीजिए। इसी पुराण में **'भ्रुभङ्गलीलालोलचञ्चललोचन'** की बात आई है (४।७२।८)। नेत्र चाञ्चल्य के सौन्दर्य इसमें अभिव्यक्त होता है। **'तरलायताक्षी'** विशेषण भी कामिनियों के लिये पुराण में आया है। वामन पुराण में कात्यायनी का विशेषण तरलायताक्षी मिलता है (१८।८)।

पुराण में कहीं-कहीं नेत्रसम्बन्धी वैज्ञानिक बातें भी मिलती हैं। तैजस पदार्थ को देखते रहने से नेत्र दुर्बल होता है, यह स्कन्दपुराण में कहा गया है (अवन्ती क्षेत्र० ४।४४)। वैज्ञानिक दृष्टि से परीक्षणपूर्वक ऐसे सिद्धान्तों का निर्णय करना चाहिए।[1]

---

१. नेत्र शब्द का नेता-रूप अर्थ महाभारत में है। भीष्म० २०।१ में भीष्मनेत्र शब्द है, जहाँ नेत्र शब्द का यही अर्थ है (द्र० देवबोधटीका)।

: २५ :

इतिहासपुराण में दृढ़-स्वस्थ शरीर के विशिष्ट विशेषण

सौभाग्य से ही किसी को दृढ़ और स्वस्थ शरीर मिलता है। प्राचीन आचार्य कहते थे कि स्वस्थ शरीर होना पूर्वजन्मीय तप का फल है। शरीर यदि स्वस्थ और दृढ़ न हो तो धर्माचरण भी सम्यक् नहीं हो सकता—**शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्** (कुमारसम्भव)। यही कारण है कि प्राचीन आचार्यों ने शरीर-बल-वृद्धि, शरीरधातु-संरक्षण आदि पर धर्माचरण की दृष्टि से बहुत जोर दिया है। शरीर-पुष्टि और शरीर-शोषक्षय के लिये जब तपस्या का विधान किया जाता है, तब यह भी कह दिया जाता है कि अत्यधिक काय-क्लेश से तप नहीं करना चाहिए। वस्तुतः अत्यधिक शरीर पीडनमूलक तप को तामस कर्म ही समझा गया है और वह सामान्यतया अकरणीय है। यही आचार्यों का तात्पर्य है।

शरीर पर दृष्टि रखना, शारीरिक सामर्थ्य के अनुसार योग का अभ्यास करना आदि विषय योगशास्त्रीय ग्रन्थों में भी विचारित हुए हैं। व्याधि को योग का अन्तराय (= बाधक) माना गया है, जिसका लक्षण है—'धातुरसकरण-वैषम्य' (योगभाष्य १।३०)। धातु = वात-पित्त-श्लेष्मा; रस = अशितपीता-हारपरिणामविशेष; करण = इन्द्रिय (तत्त्ववैशारदी)। शारीरिक दृढ़ता के लिये ही हठयोग का मुख्य प्रयोग किया जाता है। आसन-मुद्रा का मुख्य प्रयोजन शारीरिक स्थैर्य और दृढ़ता हैं। स्वस्थता के साथ इन सबका अच्छेद्य सम्बन्ध है।

शारीरिक प्रसन्नता से योगाभ्यास करना चाहिए, इस पर भगवद्गीता का दृष्टिकोण बहुत ही उदार है। यहाँ उदाहरणार्थ कुछ श्लोक दिए जा रहे हैं :

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः।
न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन॥
युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा॥

शरीर की स्वस्थता और दृढ़ता धर्मसाध्य फल है, यह पूर्वाचार्यों का मत है। संयमपूर्वक जीवन चलाने से शारीरिक स्वच्छता और दृढ़ता होती है, यह प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध है।

पुराणादि में शरीर की दृढ़ता और स्वस्थता से सम्बद्ध कुछ विशेषण मिलते हैं, जिनसे शरीर-बल का उत्कर्ष तथा शारीरिक पटुता का ज्ञान होता है। ये सब विशेषण प्रायः सभी वीरों के लिये प्रयुक्त हुए हैं, अतः कौन विशेषण किसके लिये आया है, यह जानना अनावश्यक है। उन विशेषणों से दृढ़ता का जो भाव व्यक्त होता है वह भाव ही विशेषतः ज्ञेय है। इसी दृष्टि से इस प्रकरण में विशेषणों के साथ उद्दिष्ट वीरों के नाम नहीं दिए गए। शब्दों के साथ पुराणेतिहास का पता देना भी अनावश्यक है, क्योंकि सर्वत्र पुराणादि में ऐसे विशेषण मिल जाते हैं। संकलित विशेषणों के अनुरूप विशेषण भी मिल जाते हैं, संक्षेपार्थ उन सबका संकलन नहीं किया गया है।

शारीरिक उज्ज्वलता—योग-शास्त्र में शारीरिक उज्ज्वलता के लिए समान वायु पर आधिपत्य करने का उपदेश है (३।४०[1])। व्यायामादि के अभ्यास से भी कथंचिद् यह फल मिलता है। अनेक वीर आदि के वर्णन में ऐसे शब्द आए हैं। यथा—

सूर्येन्दुज्वलनोपम, द्युति-दीप्ति-कान्तियुक्त, तीव्रतेजाः, तीव्रसमृद्धतेजाः, ज्वलित-हुताशनप्रभ इत्यादि। स्वस्थता के साथ उज्ज्वलता का मूलतः सम्बन्ध है। ऋषियों के विशेषण में शारीरिक उज्ज्वलता का विशेष उल्लेख मिलता है[2]। शरीरोत्कर्ष के लिए कायसम्पत् शब्द योगसूत्र में है (३।४६), जिसका अर्थ है—'रूप-लावण्य-बल-वज्रसंहनन'। नकुल के लिए 'मेघमुक्त सूर्यमण्डल' कहा गया है (विराट० १२।१), जो शारीरिक उत्कर्ष का असाधारण ज्ञापक है।

शारीरिक दृढ़ता—शरीर की दृढ़ता के लिए 'वज्र-संहनन' शब्द का बहुत प्रयोग मिलता है। योगसूत्र (३।४६) में भी यह शब्द है। कहीं-कहीं 'सिंह-संहनन' शब्द भी मिलता है। 'वज्रसंहनन बल' भागवत में आया है (५।१७।१२)। महाभारत में वज्रसंहनन का प्रयोग बहुशः आया है। 'वज्रसंहननप्रख्य' शब्द कर्णपर्व में है (२०।१४)। शिलासारवान्, गिरिराजसार आदि शब्दों से शरीर की पर्वतोपम दृढ़ता व्यक्त होती है।

शारीरिक विक्रम—व्याघ्रशूर, सिंहविक्रम इत्यादि उपमागर्भक शब्द बल-ज्ञापन के प्रसिद्ध उदाहरण हैं। विशिष्ट वीरों के लिए 'नागायुतप्राण' विशेषण

---

१. यह बात काल्पनिक नहीं है। हमने योगाभ्यासी का ऐसा शरीर प्रत्यक्ष देखा है। ऐसा क्यों होता है, इस विषय में युक्ति भी है (द्र० कापिलाश्रमीय पातञ्जल योगदर्शन)।

२. द्र० कुमारसम्भव पञ्चमसर्गगत योगिरूपी शिव का वर्णन।

आया है, जिसका अर्थ है 'दश हजार हाथी का बल' रखना। प्रभिन्नमातङ्गसदृश, मत्तवारणविक्रान्त, मत्तवारणवारण, सिंहर्षभगजेन्द्रबलवीर्यपराक्रम, मत्तनागेन्द्रविक्रम आदि-आदि विशेषणों से शारीर बल का उत्कर्ष सूचित होता है।

बलपदघटित अन्य प्रकार के शब्द भी मिलते हैं—विक्रान्तयोधी, सर्वजयी इत्यादि। इन विशेषणों में उपमा का भाव नहीं है।

पहलवानों के वर्णनों में विक्रमज्ञापक शब्दों के प्रचुर व्यवहार हैं। कीचक-भीमयुद्ध में, कंस-कृष्णयुद्ध में तथा नियुद्धसम्बन्धी अन्य प्रकरणों में विक्रमज्ञापक शब्द दर्शनीय हैं।

शारीरिक उच्चता—शालसदृश, शालप्रतीकाश आदि शब्द उच्चता के लिये प्रयुक्त हुए हैं। 'प्रांशु' शब्द भी यत्र-तत्र मिल जाता है। 'शालपोत सदृश उद्गत' विशेषण भी मिलता है।

शारीरिक अजड़ता—'युवा' शब्द अनेक वीरों के लिये प्रयुक्त हुआ है, जहाँ सामर्थ्यातिशय दिखाना इष्ट है। गतिसम्बन्धी विशेषणों से भी अजड़ता का बोध होता है—वृषभगति आदि शब्दों की यही ध्वनि है।

शारीरिक गति—सिंहगति, सिंहखेलगति, सिंहर्षभगति, गतिमान् इत्यादि विशेषण मिलते हैं। गजेन्द्रगति भी पहलवानों के विशेषण में मिलता है।

शारीरिक वर्ण[1]—क्वचित् वीरत्ववर्णन में भी वर्ण का उल्लेख किया गया है। सौन्दर्यवर्णन में तो सर्वत्र वर्ण का उल्लेख रहता ही है। कनकवर्ण, हेमवर्ण, श्याम आदि विशेषण रणक्षेत्रस्थ वर्णनों में प्रयुक्त हुए हैं। इन शब्दों का गूढ़ तात्पर्य भी हो सकता है। जैसे 'श्यामा स्त्री' का पारिभाषिक अर्थ है, उसी प्रकार इन शब्दों का भी अर्थ हो सकता है।

स्वर—वीरों की कण्ठध्वनि के लिये मेघदुन्दुभिनिर्घोष, मेघस्वन, सिंहगर्जन आदि शब्दों का बहुल व्यवहार है। इस विषय में अन्य विशिष्ट शब्द नहीं मिलते।

---

१. शरीर के स्थान-विशेष में रक्तता का होना शोभा तथा स्वस्थता का ज्ञापक है। संवरण नृपवर्णन में 'रक्तस्तथा पञ्चसु राजपुत्रः' कहा गया है (वामन० २१।५३)। ये पाँच स्थान हैं—पादपाणितल, नेत्रान्त, ओष्ठ, जिह्वा तथा नख (महाभा० विराट० ९।१०-१३ नीलकण्ठी टीका)। उसी प्रकार राजशरीर में छह उन्नत भाग कहे गए हैं। छः स्थान ये हैं—नासिका, अक्षिद्वय, श्रोत्र, नख, स्तन, कृकाटिका (पूर्वोक्तस्थल की नीलकण्ठी द्रष्टव्य)। वामन० के उपर्युक्त स्थल में शरीर के विभिन्न अंगों की शोभा पर जो गणनात्मक उल्लेख है, वह शारीरिक स्वस्थता का ज्ञापक है, इसमें संशय नहीं। इस स्थल का पूर्ण स्पष्टीकरण आवश्यक है।

अब हम शरीरिक अंगों से सम्बद्ध कुछ शब्दों का संकलन कर रहे हैं—अंगों में चक्षु प्रधान है (अङ्गानां लोचनां यथा), अतः पहले चक्षु का वर्णन दिया जा रहा है—

चक्षु—'पृथुलोचन', 'आयताक्ष' आदि अनेक वीरों के लिये प्रयुक्त हुए हैं। पृथुलोहिताक्ष भी मिलता है। वीरों के लिए 'लोहिताक्ष' विशेषण बहुधा मिलता है। कहीं-कहीं 'लोहितपद्मनेत्र' शब्द भी मिलता है। 'ताम्राक्ष' विशेषण भी इसी प्रकार है।

उदर—वीरों के उदर के लिए 'नतोदर' शब्द पुराणादि में मिलता है। उदर का विशालत्व वीरत्व-व्यंजक नहीं है।

स्कन्ध—शालस्कन्ध, वृषस्कन्ध शब्द पुराणों में प्रसिद्ध है। महाभारत में इनका प्रचुर व्यवहार है (उद्योग० ५९।१०, १२६।१५)। सिंहस्कन्ध, बृहत्स्कन्ध, सिंहोन्नतांस (सिंह-सदृश स्कन्ध) का उल्लेख भी है। कहीं-कहीं 'व्यूढोत्तमांस' भी प्रयुक्त हुआ है। इसका अर्थ भी 'सुदृढ़ कन्धे वाला' ही है।

नासिका—वीरत्व-व्यंजक नासिका का विशिष्ट वर्णन प्रायः नहीं मिलता; सुन्दरताद्योतक विशेषण बहुत मिलता है। 'प्रचण्डघोण' शब्द क्वचित् मिलता है (घोणा = नासिका)।

बाहु—महाभुज विशेषण प्रायः सभी वीरों के लिये आता है। 'दीर्घबाहु' और 'आयतपीनबाहु' शब्द विशिष्ट वीरों के लिए प्रयुक्त हुए हैं।

द्रंष्ट्रा—मनुष्य वीरों के वर्णन में द्रंष्ट्रापरक विशिष्ट विवरण नहीं मिलता। सौन्दर्य-वर्णन में कुछ ज्ञातव्य शब्द अवश्य मिलते हैं। सिंहद्रंष्ट्र विशेषण क्वचित् मिलता है (वीरवर्णन में)।

उरः (वक्षः)—दृढ़वक्षाः और व्यूढोरस्क शब्द इस विषय में प्रसिद्ध है।

कटि—'सिंहकटि' शब्द प्रमुखतः प्रयुक्त होता है। कटि की सूक्ष्मता दिखाना ही इस शब्द का तात्पर्य है।

ग्रीवा—सौन्दर्यज्ञापक 'कम्बुग्रीव' शब्द प्रसिद्ध है। वीरत्व-दृढत्व-द्योतन के लिये 'सिंहग्रीव' शब्द मिलता है।

ऊरु—पीनोरु और वृत्तोरु विशेषण वीरों के लिये प्रसिद्ध है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि पुराणादि में मनुष्य-वर्णन में उसके शरीर पर भी ध्यान रखा जाता था। रामचन्द्र, युधिष्ठिर, कृष्ण आदि-आदि हमारे मान्य मनीषियों के वर्णन में उनके शरीर की स्वस्थता, दृढ़ता और सुषमा का वर्णन पदे-पदे मिलता है।

: २६ :

इतिहास-पुराण में वाग्व्यवहार के विशिष्ट स्थल

आज भाषण का युग है। जो भी अपनी जीभ को थोड़ा बहुत चला सकता है, वही अपने को उच्च महोच्च नेता समझ बैठता है, चाहे नेतृत्व करने की शक्ति उसमें रत्ती भर भी न हो। प्राचीन लोगों ने अपनी प्रज्ञा-हिरण्य को निकष में रगड़कर कहा था--नेता चेत् साधु पश्यति, तभी देश का कल्याण हो सकता है, पर आज तो 'जिह्वा चेद् बहु भाषते' जिसके लिये कहा जा सके, वही नेता है। मन्त्रणाशक्ति आजकल लुप्तप्राय है। उसका स्थान भाषणकला ने ले लिया है। खेद है कि नेताओं का भाषण भी सुभाषण न होकर परिभाषण होता जा रहा है (परिभाषण = सनिन्द उपालम्भ) और उत्कृष्ट वक्तृत्व-कला भी नष्टप्राय होती जा रही है।

वक्तृत्वकला की इस हीन दशा में यदि हम अपने इतिहासपुराण पर एक दृष्टि डालें तो इस कला के क्षेत्र में हमें बहुत कुछ शिक्षा मिल सकती है। बात-चीत करना तथा भाषण देना भी एक अध्यवसाय-साध्य शिक्षणीय कला है, यह हम आज प्रायः भूल गए हैं और 'गले को फाड़ना' ही भाषण का नामान्तर समझते हैं। इतिहास-पुराण में वाग्व्यवहार-सम्बन्धी जो सुन्दर विवरण मिलते हैं, उन विवरणों में जो विशेषणशब्द व्यवहृत हुए हैं, यदि हम उनका अध्ययन करें तो इस कला के विषय में अनेक विशिष्ट बातें हमें ज्ञात होंगी और हम अपने में उन गुणों का समावेश कर सकेंगे, ऐसा समझकर वाक्यप्रयोगसम्बन्धी विवरणों का एक लघु चित्रण यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है; आशा है पाठकों को यह रुचिकर लगेगा।

इतिहास-पुराण में विशिष्ट महापुरुषों के विशेषणों में कहीं-कहीं इन शब्दों का व्यवहार मिलता है—वाक्यज्ञ, वक्ता, वाक्यवित्, वाक्यविदांवर, वाग्विदांवर, वदतां वर इत्यादि। इन विशेषणों से यह स्पष्ट हो जाता है, कि बातचीत करना निश्चयेन एक विशिष्ट कला है, अन्यथा विशिष्ट पुरुषों के ये विशेषण कदापि न दिए जाते। विदुर ने 'वाक्य-प्रयोग में कुशलता' को एक स्पृहणीय गुण माना है; विदुरनीति में 'प्रवृत्तवाक्' 'चित्रकथः' ये दो पण्डितलक्षण कहे गए

हैं।[1] आवश्यकता पड़ने पर जिसकी वाणी अवश्य ही प्रवृत्त होती है और जिसकी वाणी नीरस न होकर वैचित्र्ययुक्त होती है, वह पण्डित है। आज भी यह लक्षण सत्य है और जब तक मनुष्य-समाज में शब्दव्यवहार प्रचलित रहेगा, तब तक ये लक्षण सत्य माने जाएँगे। रामायण में भी वाग्व्यवहार-सम्बन्धी विशेषण कहीं-कहीं मिलते हैं।

महाभारत में भाषणकला का एक महनीय उदाहरण वह है, जब कृष्ण ने कौरव सभा में जाकर पाण्डवपक्ष की पुष्टि के लिये भाषण किया था। व्यास के ये शब्द हैं--

वाक्यमभ्याददे कृष्णः सुदंष्ट्रो दुन्दुभिस्वनः ॥
जीमूत इव घर्मान्ते सर्वां संश्रावयन् सभाम्।
धृतराष्ट्रमभिप्रेक्ष्य समभाषत माधवः ॥

(उद्योग० ९५।१-२)। वेदव्यास ने यहाँ उत्तम वक्ता का सुन्दर चित्रण किया है। वक्ता के लिये जैसे उत्तम कण्ठस्वर आवश्यक होता है, उस प्रकार शारीरिक दोषहीनता भी (उच्चारणाक्यसंबन्धी) आवश्यक होता है; इसी दृष्टि से 'सुद्रंष्ट्र' (शोभमान=शुभ्र दन्त युक्त) विशेषण दिया गया है। वक्ता किस ओर अपनी दृष्टि को स्थिर रखेगा, यह भी प्रभावकारी भाषण के लिये--विशेष कर जब वह भाषण विशेषज्ञ या विशिष्ट पुरुषों के मध्य में होता है--अवश्य ज्ञातव्य है। कृष्ण ने धृतराष्ट्र की ओर मुँह कर भाषण किया, इसका तात्पर्य स्पष्ट है, क्योंकि उस समय कुरुराज वृद्ध धृतराष्ट्र ही शासन के सर्वोच्च अधिकारी थे। यहाँ वक्ता कृष्ण का विशेषण है 'दुन्दुभिस्वन'--दुन्दुभि की तरह दूरगामी गंभीर ध्वनि उनकी थी; यह विशेषण सफल वक्ता के गुण का ख्यापन करता है। ग्रीष्मकाल के अन्त में और वर्षा के आरम्भ में मेघ का प्राथमिक गर्जन लोक में आश्चर्यकर होता है--यह उपमा यहाँ कृष्ण कण्ठोत्थ वाणी की दी गई है। उनकी कण्ठध्वनि पूरी सभा में गूँजती थी, यह भी यहाँ कहा गया है। भाषण की सफलता का रहस्य इस वर्णन में स्पष्टतः ही भाषित हुआ है।[2]

---

१. उद्योग० ३३।२८; महाभारत में परस्पर बातचीत और भाषणकला के विषय में बहुशः श्लोक मिलते हैं, यह ज्ञातव्य है।

२ इस स्थल पर कृष्ण का शारीरिक वैशिष्ट्य कहा गया है, जो सहेतुक है। शारीरिक आकृति भी भाषण पर अपना प्रभाव डालती है--'यत्राकृतिस्तत्र गुणा वसन्ति'। महाभारत में भीष्मद्रोणयुधिष्ठिरादि महापुरुषों के भाषण-वर्णन के समय उनके चक्षु-बाहु-वक्ष आदि अवयवों की सुन्दरता भी प्रायः सर्वत्र कही गई है।

वाणी की मधुरता को दिखाने के लिये 'हंसवद्' उपमा प्रायः कही गई है—'हंसवद्....भारती शुश्रुवे' (शान्ति० ३९।२०)। विराटपर्व में सैरिन्ध्री का विशेषण 'हंसगद्गद्भाषिणी' दिया गया है। नीलकण्ठ कहते हैं—"हंसवद् गद्गदं किञ्चित् लुप्ताक्षरं मधुरं वा भाषते" (९।१३)। स्त्रियों के वर्णोच्चारण में कुछ वर्णों का लुप्त-सा हो जाना शोभाकारक होता है (कहीं-कहीं)। हंस की उपमा से यही व्यंग्यार्थ यहाँ अभिप्रेत है। महाभारत में अनेक स्थलों पर वाणी की उपमा में 'हंस' का उल्लेख किया गया है (शान्ति० ८०।२०)।

मधुर वाणी के प्रसंग में एक विशिष्ट उल्लेख आदिपर्व में है—"श्रोत्रं मधुरया वाचा रमयत्यर्जुनः" (१९९ अ० दाक्षिणात्य पाठ)। यही कारण है कि अर्जुन का 'चारुभाष' विशेषण अनेकत्र मिलता है।

'स्मितपूर्व वाक्य' भी वार्तालाप का एक विशिष्ट गुण है। राजाओं के लिये 'स्मितपूर्वभाषिता' एक गुण माना गया है (राजधर्मप्रक० द्र०)। परस्पर प्रेम और प्रणय के कारण वाक्य स्मितपूर्व होता है, इसके अनेक उदाहरण महाभारत में मिलते हैं। दुष्यन्त के प्रति शकुन्तला के वाक्य के प्रसंग में 'उवाच हसती वाक्यमिदं सुमधुराक्षरम्' प्रणयहेतुक वाक्य का उदाहरण है (आदि० ७१।१४)।

वाणी का गांभीर्य भी एक विशिष्ट गुण है। वामनपुराण में इस विषय में एक अनन्यसाधारण दृष्टि है। यहाँ कहा गया है कि राजविशेष के तीन पदार्थ गम्भीर होने चाहिएँ—'त्रिभि र्गभीरः' (संवरणरूपवर्णन)। यहाँ कौन-कौन पदार्थ इष्ट हैं, इसका उल्लेख नहीं हैं, पर विराटपर्व में किसी नारी का 'त्रिगभीरा' विशेषण है, जिसका अर्थ है—'शब्द-बुद्धि-नाभिषु गहना' (नीलकण्ठ टीका)। अतः शब्द में गंभीरता होना प्रशस्यता का लक्षण है। (नागर० १५५।४० भी द्र०)।

अर्थ को लक्ष्यकर भी वाणी के कुछ विशेषण दिए गए हैं। जैसे 'पुष्कलार्थपदाक्षरा वाणी' (शान्ति० ३९।२०)। उसी प्रकार केवल अक्षर को लक्ष्यकर भी 'मधुराक्षरा' विशेषण कहीं-कहीं मिलता है। वाणी ऐसी होनी चाहिए जिसमें अर्थबोध में किसी प्रकार की कठिनाई न हो और प्रत्येक अक्षर का यथावत् स्पष्ट उच्चारण हो; यह वाणी का सर्वसंमत गुण है।

मार्कण्डेय पुराण में एक स्थान पर 'दशाष्टदोष-रहितो वक्तुं समुपचक्रमे' (१।१८) कहा गया है।[1] ये १८ दोष वस्तुतः वाग्व्यवहार के कलंक हैं।

---

१. यहाँ यद्यपि 'दशाष्टदोषरहित' मुनि का विशेषण है, पर तत्वतः यहाँ १८ वाग्दोषों को लक्ष्य कर ही यह विशेषण दिया गया है। ब्रह्म० २४५।१ में 'दशाष्टदोषरहित वाक्य' का उल्लेख है, अतः यह अर्थ युक्त ही है।

इन दोषों का विवेचन स्कन्दपुराण में मिलता है। (कुमारिका० ४५।६२–७२)।

काशीखण्ड में भाषणकला का एक उत्कृष्ट उदाहरण मिलता है। यहाँ पुण्यकीर्ति नामक किसी सौगत के भाषण का अविकल चित्रण इस प्रकार किया गया है कि वे भाषणकारी सुस्वर, स्पष्ट उच्चारणकारी, सुस्निग्ध एवं मृदुभाषी थे। उनके भाषण के समय श्रोता पक्षियों का भी रोमांच होता था और मृग भी स्थिर होकर उनका भाषण सुनते थे (५८।७७-७९)।[1] यह अत्युक्ति हो सकती है, पर इससे भाषण का जो प्रतिमान खड़ा किया गया है, वह सब का आदर्श है।

कुमारिका० ४५ अध्याय में वक्ता के कुछ विशिष्ट सफलताकारक गुणों का उल्लेख मिलता है, जो आधुनिक वक्ताओं के द्वारा अवश्यमेव द्रष्टव्य हैं। यहाँ कहा गया है कि जब वक्ता, श्रोता और वाक्य अविकल होते हैं, तभी अभीष्ट अर्थ प्रकट होता है; जब वक्ता के प्रति श्रोता की श्रद्धा नहीं रहती, या श्रोता को वक्ता सर्वथा अज्ञ समझते हैं, तब वक्ता का भाषण फलोत्पादक नहीं होता। यदि सत्य पर ध्यान न देकर अपनी दृष्टि से ही कहा जाय या केवल श्रोता का मनोरंजन ही किया जाय तो श्रोता के मन में वक्ता के प्रति संशय हो सकता है। इसलिये अपने दृष्टिकोण को ही सब कुछ न मानकर और श्रोता के ज्ञान के प्रति आदर रखते हुए सत्य पर निर्भर रहकर जो भाषण देता है, वही प्रकृत वक्ता है। (४५।७३-७७)। आधुनिक काल के राजनीतिक वक्ताओं को यह स्थल देखना चाहिए।

यह सत्य है कि अर्थयुक्त चमत्कारपूर्ण वाणी अधिक नहीं बोली जा सकती– "अर्थवच्च विचित्रं च न शक्यं बहु भाषितुम्" (उद्योग० ३४।७६), पर मधुर शब्दों से कही गई वाक् कल्याणकारी होती है—"अभ्यावहति कल्याणं विविधं वाक् सुभाषिता" (उद्योग० ३४-७७)।

---

१. सुस्वरं सुपदव्यक्तिसुस्निग्धमृदुभाषिणम्।
स्तम्भनोच्चाटनाकृष्टि-वशीकर्मादिकोविदम्॥
व्याख्यानसमयाकृष्ट-पक्षिरोमाञ्चकारिणम्।
पीततद्गीतपीयूष-मृगपूगैरुपासितम्॥
महामोदभराक्रान्तवातचञ्चलहारिणम्।
वृक्षैरपि पतत्पुष्पच्छलैः कृतसमर्चनम्॥

: २७ :

अहिंसा की उपपत्ति

इतिहासपुराण में अहिंसा को सर्वोच्च धर्म के रूप में माना गया है—'अहिंसा परमो धर्मः' यह बहुधा कहा गया है। "न हिंस्यात् सर्वभूतानि मैत्रायणगतश्चरेत्" (वन० २१२।३४)—यह विधिवाक्य इस विषय में प्रधान है। इस साहित्य में अहिंसा का लक्षण और उसके भेदों का उल्लेख भी मिलता है। अनुशासन० ११४।४ में कहा गया है—"चतुर्विधेयं निर्दिष्टा ह्यहिंसा ब्रह्मवादिभिः" (११४।४)। अहिंसासाधन का एक लौकिक लाभ भी है। महाभारत में कहा गया है कि अहिंसा से दीर्घ आयु मिलती है—"अहिंसया च दीर्घायुरिति प्राहु र्मनीषिणः" (अनुशासन० १६३।१२)। यह भी कहा गया है कि हिंसक व्यक्ति मरने के बाद जब पुनः जन्म लेता है तब वह सबका अप्रिय होता है (अनुशासन० १४४।५४)।

अहिंसासम्बन्धी उदात्त भावना जैनादि धर्मों में भी सुप्रतिष्ठित है। इस प्रकरण में पूर्वोक्त धारणा की न्याय्यता पर विचार किया जा रहा है। आर्ष शास्त्र में इस तथ्य पर जो न्याय-प्रयोग है, वह यहाँ संक्षेप में दिया जाता है। यह तर्क-प्रणाली अपेक्षित परिवर्तन के साथ अन्यान्य धर्मों में भी मान्य होगी।

यहाँ यह ध्यान दिलाना आवश्यक है कि सदाचारों की मर्यादा और अनुशीलन में भारतीय मान्य दार्शनिकों में कोई तात्त्विक मत-विरोध नहीं है। यम-नियमादि सभी संप्रदायों की सामान्य सम्पत्ति हैं, यद्यपि उनकी समीचीनता विभिन्न सम्प्रदायों में विभिन्न रूप से प्रतिपादित हुई है।

अहिंसा एक व्रत है। कूर्म० में कहा गया है—"ब्रह्मचर्यमहिंसा च क्षमा शौचं तपो दमः। सन्तोषः सत्यम् आस्तिक्यं व्रताङ्गानि विशेषतः॥ एकेनाप्यथ हीनेन व्रतम् अस्य तु लुप्यते"। इन व्रतों का आचरण जब सार्वभौम होता है, अर्थात् देश, काल और समय से अवच्छिन्न नहीं होता, तब उसे 'महाव्रत' कहा जाता है (पातंजल सम्प्रदाय में)। महाव्रत शब्द का प्रयोग अन्य सम्प्रदाय में भिन्न अर्थ में भी मिलता है। प्रसंगतः यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि योगशास्त्र में अनवच्छिन्न अहिंसा का जो सारवान् विवरण है,

उससे अधिक अहिंसाचरण मनुष्य-बुद्धि से चिन्तित भी नहीं हो सकता। जैन-बौद्ध-ग्रन्थों में अहिंसा का विवरण पल्लवित है, आचरण या तत्त्वसम्बन्धी कोई मौलिक बात नहीं है, जो योग-प्रोक्त अहिंसा में न आती हो।

अहिंसा को सभी सदाचरणों के मूल में आर्ष तथा जैनादि संप्रदाय मानते हैं। इस विषय में श्रुति कहती है—"सः खल्वयं ब्राह्मणो यथा यथा बहूनि व्रतानि समादित्सते तथा तथा प्रमादकृतेभ्यो हिंसानिदानेभ्यो निवर्तमानः तामेव अवदातरूपाम् अहिंसां करोति' (योगभाष्य २।३० में उद्धृत; यह आगम है, ऐसा वाचस्पति मिश्र ने तत्त्ववैशारदी में कहा है) अर्थात् वह ब्रह्मवित् जिन-जिन रूपों में व्रतों का अनुष्ठान करता है, उन-उन व्रतों के द्वारा प्रमादकृत हिंसामूलक कर्म से निवृत्त होकर उस अहिंसा को ही निर्मल करता है। तात्पर्य यह है कि ब्रह्मवित् व्यक्ति का सब धर्माचरण अहिंसा की प्रतिष्ठा अर्थात् अहिंसा-सिद्धि के लिये है। अन्यत्र भी श्रुति स्पष्ट कहती है—'मा हिंस्यात् सर्वभूतानि'। प्राचीन सांख्याचार्य पञ्चशिख ने स्पष्टतया कहा था कि यज्ञादि में भी हिंसाकृत स्वल्प पाप होता है, यथा—"स्यात् स्वल्पः संकरः सपरिहारः...." (२।१३ योगभाष्य)। मनु आदि की स्मृतियों में भी अहिंसा-व्रत की महिमा कीर्तित है।

अहिंसा को सर्व-धर्म-मूल क्यों कहा गया—इसको जानने के लिये अहिंसा का शास्त्रीय स्वरूप जानना होगा। हमें यह भी जानना होगा कि अहिंसा-साधन और अहिंसा-स्वरूप भी एक नहीं हैं। किं च अहिंसा अनेक प्रकार की होती है—सभी प्रकार की अहिंसा समान मर्यादा नहीं रखती। अहिंसा आपेक्षिक भी होती है और सार्वभौम भी। प्रचलित अर्थ में जो 'नानवाइलैंस' है, वह अहिंसा का एकदेश है। वह निरवच्छिन्न अहिंसा नहीं है। इतना होते हुए भी हम अहिंसा को सब धर्मों का मूल समझते हैं, जो धर्म का तथा अहिंसा का लक्षण—इन दोनों की सविशेष पारस्परिक तुलना से स्पष्ट होगा।

पहले अहिंसा का लक्षण विचार्य है। अहिंसा=हिंसा का अभाव; हिंसा=स्थावर-जंगमादि सर्व प्रकार के जीवों के प्रति द्रोह (=पीडन-बुद्धि) जिससे जीवों को शारीरिक या मानसिक दुःख मिलता है। दुःख = "येन अभिहताः प्राणिनः तदुपघाताय यतन्ते" (अर्थात् जिससे अभिहत होकर प्राणी उसके प्रतीकार के लिये यत्न करते हैं)—यह दुःख का तटस्थ लक्षण है। इससे यह भी सिद्ध हुआ कि पर-पीडा-कारक चित्त-वृत्ति का न होना ही अहिंसा है[1]।

---

१. यहाँ जो जीव, दुःख, अभिघात, द्रोह आदि शब्द प्रयुक्त हुए हैं, वे सब आपेक्षिक हैं। आचरणकारी का चित्त जितना सूक्ष्मार्थ-ग्राहक होगा, वह

इतना मात्र कह देने से ही अहिंसा-सम्बन्धी कोई कार्यकर ज्ञान नहीं हो सकता। हमें यह भी दिखाना होगा कि (क) अहिंसा का आचरण क्यों किया जाय, (ख) कैसे किया जाय तथा (ग) अहिंसा सदाचारों का नियामक कैसे हैं ? हम यथाशास्त्र इन सब पर संक्षिप्त विचार करने जा रहे हैं।

अहिंसा व्रत केवल अहिंसा के लिये ही नहीं है। यदि यह पक्ष मान लिया जाय कि अहिंसा का आचरण किसी उच्चतर उद्देश्य के लिये नहीं है, उसकी समाप्ति अपने में ही है, तो न्यायदोष होगा, क्योंकि तब विरुद्धवादी भी यह कह सकता है कि हिंसा का आचरण भी हिंसा के लिये है, किसी अन्य उद्देश्य या फल से उसका सम्बन्ध नहीं है। यदि हिंसा इसलिये दूषित आचरण है कि उससे अन्य जीवों को कष्ट होता है, तो अहिंसा भी उद्देश्य-युक्त अवश्य होगी, और वह उद्देश्य होगा—'प्राणियों को कष्ट नहीं देने के लिये हिंसात्याग का आचरण।'

पुनः प्रश्न होगा कि अहिंसा का आचरण क्यों किया जाए ? विरुद्धवादी यह तर्क कर सकता है कि जैसे अपनी रुचि से कोई व्यक्ति अन्य प्राणी को कष्ट नहीं देने के लिये अहिंसा का आचरण करता है, वैसे अपनी रुचि से यदि कोई व्यक्ति हिंसा का ही आचरण करता है, तो वह दुष्ट क्यों होता है; दोनों ही तो अपनी रुचि से कर्म करते हैं। यदि यह कहा जाय कि हिंसा से अन्य को कष्ट होता है, अतः उसका परिहार करना चाहिए, तो यह तो मान लेने की बात हुई। दूसरों को कष्ट हो रहा है, इसलिये उसका परिहार किया जाए, यह कोई हेतु नहीं है। दूसरों को कष्ट देना क्यों एक वर्जनीय कार्य है—इसका हेतु देना होगा। 'अन्तःकरण में आनन्दबोध के लिये अहिंसा का आचरण करना चाहिए'—यदि अहिंसावादी यह कहे, तो जिसके अन्तःकरण में हिंसाचरण से सुखबोध होता है, वह हिंसाचरण क्यों नहीं करेगा—इस युक्ति के खण्डन के लिये कोई युक्ति नहीं मिलती। पशुओं को हिंसात्मक कार्य में आनन्द आता है—यह सिद्ध है।

उतना सूक्ष्म अहिंसा का स्पष्ट ज्ञान कर पाएगा, जो स्थूलतर चित्त के द्वारा विज्ञात नहीं हो सकता। जिस प्रकार स्थूल दुःख देने से सूक्ष्म दुःख देने की अपेक्षा अधिक हिंसाचरण होता है, उसी प्रकार स्थावर-प्राणि-पीडन से जंगम-प्राणि-पीडन में अधिक हिंसा होती है, क्योंकि हिंसाचरण कोई अचेतन विषय से सम्बन्ध नहीं रखता, प्रत्युत उसका सम्बन्ध एक चित्त से अन्य चित्त का है। यथास्थान इसका विचार द्रष्टव्य है।

हिंसाचरण से जिसको सुख होता है, उसको किसी भी साधारण तर्क से निवृत्त नहीं किया जा सकता। यदि उसे यह कहा जाए कि दूसरों को कष्ट होता है, इसलिये हिंसा मत करो, तो प्रतिप्रश्न होगा कि 'ऐसा क्यों ?' और यह निश्चित है कि अहिंसावादी इसका कोई उत्तर नहीं दे सकता। यदि यह कहा जाए कि हिंसा से सर्वत्र अशान्ति होती है, इसलिये अहिंसा का व्यवहार करना चाहिए, तो हिंसावादी यह कहेगा कि 'अशान्ति हुआ करे, मैं अशान्ति से सुख पाता हूँ या मैं संसार में अशान्ति चाहता हूँ' इत्यादि।

इस प्रकार हम देखते हैं कि 'अहिंसाव्रत क्यों आचरणीय है' इसके लिये कोई प्रतिष्ठापक युक्ति नहीं मिलती। पर बात ऐसी नहीं है। हमारे शास्त्रों में इस विषय पर जो युक्ति-प्रणाली है, उसी को संक्षेप में यहाँ दिखाया जा रहा है—

वस्तुतः अहिंसा एक साधन है, जिसकी सिद्धि है, उद्देश्य है तथा समाप्ति है। किंच अहिंसाव्रत कोई मान लेने योग्य विषय नहीं है। उसके आचरण के लिये युक्ति है। जो आधुनिक विचारक अहिंसा को ढोंग समझते हैं, या यह समझते हैं कि यह कपट व्यक्तियों के भोगसाधन का एक चातुर्यपूर्ण उपाय है, वे वस्तुतः अहिंसा की उपपत्ति को नहीं जानते। समालोचना करने के पहिले उनको वस्तुस्वरूप को जानना चाहिए। वास्तव तथ्यज्ञापन के लिये ही यह प्रयास किया जा रहा है।

अहिंसा का मूल योग में है और वह एक योगांगविशेष है (द्र० योगसूत्र २।३०)। यम-नियम के आचरण के विना समाधि की सिद्धि नहीं हो सकती; समाधिबल के विना चित्त का रोध (शाश्वतिक प्रलय) नहीं हो सकता और जब तक चित्तलय नहीं होगा, तब तक दुःखों की एकान्त और अत्यन्त निवृत्ति नहीं हो सकती। सुतरां दुःख-निवृत्ति के लिये अहिंसाव्रत का आचरण करना चाहिए—यह योगियों की युक्ति है। यदि कैवल्य नहीं है, चित्त-रोध नहीं है, समाधि-साधन नहीं है, तो अहिंसा का आचरण निरर्थक है, यद्यपि लौकिक सामान्य सुख के स्थायित्व के लिये स्थूल अहिंसा तब भी आवश्यक होगी।

अब हम इस तर्क की उपपत्ति करने जा रहे हैं[1]—

---

१. यहाँ जो उपपत्ति की गई है, वह आर्ष अध्यात्म-विद्या के अनुसार है। अनार्ष जैनादि शास्त्रों से भी यह विषय सुप्रमाणित किया जा सकता है। युक्तियों का उपन्यास सामान्य रूप से किया गया है। विशेष विचार आकर ग्रन्थ में द्रष्टव्य है।

प्रत्येक जीव दुःख से उद्वेजित होता है और उससे अवश्यंभावी रूप से निवृत्ति पाना चाहता है। यह तथ्य सर्वत्र अव्यभिचारी रूप में विद्यमान है, अतः यह एक स्वतःसिद्ध विषय है। यदि 'दुःखनिवृत्ति की चेष्टा' नहीं रहती, तो निर्वाण-मुक्ति भी निरर्थक होती।

हम यद्यपि दुःख (=प्रतिकूल वेदनीय बोध) के साथ कुछ सुख भी पाते रहते हैं, तो भी योगियों का यह निर्णय है कि कभी भी दुःख-वियुक्त सुख स्थायी रूप से नहीं मिल सकता। दुःख-बोध न हो, इसलिये तीन हेतु चाहिए--(क) सर्वदा विषय के साथ अनुकूल रूप से ही संयोग, (ख) इन्द्रिय तथा चित्त का अभीष्ट स्थिति में रहना तथा (ग) विषय का भी सदैव इष्ट एकरूप में रहना। धीर बुद्धि से विचार करने पर विज्ञात होगा कि ऐसा होना संभव नहीं है, अतः जीव को भी निरवच्छिन्न सुख नहीं मिल सकता। हाँ, क्षणिक सुख मिल सकता है, पर वह दुःखबहुल अवश्य होगा।

जैसे दार्शनिक विचार से यह मत प्रतिष्ठित होता है, वैसे प्रयोगमूलक वैज्ञानिक पद्धति से भी इस मत को प्रमाणित किया जा सकता है। अन्तःकरण की प्रत्येक वृत्ति में प्रकाश, क्रिया और जडता है। विषयाख्य क्रिया से अभिहन्यमान होने से जब अन्तःकरण में प्रकाश की उत्पत्ति अपेक्षाकृत अधिक होती है, तब वह सुख-बोध है; जब क्रिया-भाव अन्य दो से प्रबल होता है, तब दुःखबोध होता है और जब स्थितिभाव प्रबल होता है, तब सुखदुःख-हीन मोहरूप अतिक्लिष्ट अवस्था होती है। वस्तुतः आन्तर चेतना सदैव सुख-दुःख-मोह रूप गुणवृत्ति से अन्वित रहती है। चित्तनिरोध या कैवल्यावस्था को छोड़कर अन्य सब स्थितियों में अनात्मविषय से चित्त किसी न किसी रूप में उद्रिक्त होता ही रहता है। प्रलयावस्था में भी चित्त मोहवत् अवस्था में रहता है (जो इष्ट नहीं है), तथा पुनः उसका संसरण होता है, अतः किसी भी स्थिति में प्राणी दुःखहीन नहीं हो सकता।

भारतीय आचार्यों की यह भी गवेषणा है कि जब तक चित्त व्यक्त (विषय से चंचल होने की योग्यता से सम्पन्न) रहेगा तब तक वह दुःखोत्पादक क्रिया से स्पन्दित होता रहेगा, अतः चित्त के रोध से दुःख का रोध हो सकता है—यह न्याय्य विनिगमना है। चित्त के रोध के लिये चित्त का स्थैर्य चाहिए और इसके लिये ही यम-नियम (सुतराम् अहिंसा) का आचरण किया जाता है।

प्रश्न हो सकता हैं कि यम-नियम से चित्त-स्थैर्य क्यों होगा ? उत्तर—यम-नियम वस्तुतः किसी प्रकार की क्रिया या क्रियामार्ग में अधिकतर प्रवृत्ति का

प्रेरक नहीं है; यम-नियम से कर्मप्रवृत्ति क्षीण होती रहती है—यम-नियम की यही सार्थकता है। इसी को क्रियायोग कहा जाता है, जिस का रहस्य यह है कि अहरहः चित्त को कर्मक्लान्त करने की अपेक्षा उसको प्रशान्ति की ओर प्रवृत्त करना। यम-नियम का आचरण केवल यम-नियम के लिये नहीं होता; चित्तरोध को यदि यमादिका फल न माना जाय, तो उनकी कुछ भी सार्थकता नहीं रहती। योगी कहता है कि 'पर को पीडा न हो, इसलिये ही अहिंसा का आचरण नहीं किया जाता, बल्कि हिंसाचरण से चित्त-वृत्ति अधिकतर क्लिष्ट होती है, अतः शान्तिकामी मनुष्य को हिंसाचरण छोड़ना चाहिए।' संसार में सामयिक प्रतिष्ठा, जय, लाभ आदि हिंसा से प्राप्त हो सकते हैं, उससे हिंसक को सांसारिक सुख भी कुछ-न-कुछ मिल सकता है, पर चित्त-शांति[1] नहीं मिल सकती।

पूर्वोक्त युक्तिप्रणालो से यह सिद्ध होता है कि अहिंसा का आचरण चित्त-निरोध के लिये है, और दुःख-निवृत्ति के लिये चित्तनिरोध आवश्यक है। इस दृष्टि से 'अहिंसा का आचरण क्यों करना चाहिए' इसका उत्तर प्रतिवादी को मिल जाता है।

अब विचार्य विषय है—'किस रूप से अहिंसा का आचरण करना चाहिए।' यद्यपि आचरण का विषय बहुत व्यापक ही होता है, (अतः उस का विवेचन एक संक्षिप्त निबन्ध में नहीं हो सकता) तथापि जिन न्यायों का आश्रय कर अहिंसा का आचरण प्रवर्तित होता है, उन का उल्लेख यहाँ किया जा रहा है।

सब से पहले यह जान लेना चाहिए कि 'अहिंसा का आदर्श तथा अहिंसा का आचरण' व्यवहार-क्षेत्र में समान नहीं हो सकता। उसका कारण यह है कि 'अहम्' (=मैं) आचरण का कर्ता है। 'अहम्' के दो भाग हैं : शरीर तथा अन्तः करण। शरीर का प्रभाव अन्तःकरण पर पड़ता है, और अन्तःकरण का प्रभाव शरीर पर, सुतराम् अहिंसा के आचरण में आचरणकारी और आचरण का विषय प्राणी—इन दो अंशों के स्तर पर ध्यान रखना चाहिए, अर्थात् उस

---

१. सुख और शांति में भेद है। अनुकूलरूप से विषय-संयोग होने से प्रकाशशील भाव अधिक जायमान होता है, वह सुख है, जो रागज दुःख से अनुविद्ध रहता है। शांति सुख-दुःखशून्य चित्तरोधात्मक है। आधुनिक विद्वान् चित्तरोध के विषय में कुछ भी नहीं जानते। मूर्छा या सुषुप्ति चित्त-रोध की विपरीत अवस्था है।

आचरण का अधिक वर्जन होना चाहिए जिससे परकीय चित्तक्लेश का अधिक सम्बन्ध है तथा उच्चस्तरीय प्राणी को यथासम्भव कम दुःख देना चाहिए।[1]

आदर्श और आचरण की असमानता के साथ यह भी ज्ञातव्य है कि अहिंसा का आचरण दो पदार्थों की अपेक्षा करता है—आचरणकारी का स्तर तथा जिसके प्रति अहिंसा की जा रही है उसका स्तर। इसके साथ देशसापेक्ष, कालसापेक्ष तथा पात्रसापेक्ष अहिंसा भी होती है। यद्यपि व्यवहारक्षेत्र में ऐसा कोई आचरण सम्भव नहीं है, जिस में अणुमात्र भी हिंसा न हो, तथापि यह ज्ञातव्य है कि सम्यक् सार्वभौम अहिंसाचरण भी हो सकता है, जैसा आगे दिखाया जाएगा। हम यथाविधि इन सब पर विचार प्रस्तुत कर रहे हैं—

अहिंसा मूलतः एक मनोवृत्ति है, अतः केवल बाह्य दृष्टि से उसकी समालोचना नहीं हो सकती। अभिद्रोहपूर्वक पीडा देने की इच्छा से जो कार्य किया जाएगा वह हिंसाचरण है। जीव का स्तर जैसा-जैसा उत्कृष्ट होता जाएगा, हिंसा-अहिंसा का बोध भी वैसा-वैसा उन्नत होता जाएगा, और कर्ता जीव के चित्त-स्तर की दृष्टि से ही अहिंसा-परिमाण का निर्धारण होगा; व्याघ्र जब लोभ से मनुष्य का हनन करता है तब उसको हिंसा नहीं होती (अत्यल्प हिंसा होती है), पर जब मनुष्य लोभ से अन्य मनुष्य का हनन करता है, तब हिंसा अवश्यमेव होगी। हनन-क्रिया के पीछे जो मनोवृत्ति है, तदनुसार ही ऐसा होता है।

मनोवृत्ति रूप अहिंसा का सम्बन्ध मूलतः मन से है, स्थूल बाह्यक्रिया से उसका सम्बन्ध अपेक्षाकृत अल्प है। अनभिद्रोह का ज्ञान ज्ञाता के चित्त-स्थैर्य के अनुसार होता है, अतः चित्तशुद्धि-पूर्वक अहिंसाचरण होना चाहिए। जिस क्रिया से चित्त का प्रकाशभाव रुद्ध होता है, वह पापाचरण है, अतः भौतिक दृष्टि से अहिंसाचरण का पूर्ण लक्षण नहीं दिया जा सकता। किंच चित्तस्थैर्य और चित्तनिरोध से जिसका कोई सम्बन्ध नहीं है, उसके लिये अहिंसाचरण कोई महत्त्व नहीं रखता। ज्ञान के उत्कर्ष के साथ अहिंसाचरण का उत्कर्ष होता है, स्थूल बाह्य क्रियाओं के अबुद्धिपूर्वक सम्पादन में नहीं—यह योगशास्त्र का न्याय्य सिद्धान्त है।

---

१. इस विषय पर अधिक विचार करना अपेक्षित है। पर विस्तार के भय से इतना मात्र कहकर अन्य विषय का आरम्भ किया जा रहा है। विशेष जिज्ञासु को लखनऊ विद्यालय से प्रकाशित 'कापिलाश्रमीय पातंजलयोगदर्शन' (२।३०) देखना चाहिए। यहाँ अहिंसाचरण पर सुन्दर विचार किया गया है।

इस मीमांसा में यह संशय हो सकता है कि तब सब नीच स्तर के प्राणी ही क्यों न हो जायँ, जिससे हिंसाचरण दोषावह नहीं होगा ? उत्तर में वक्तव्य है कि यह अलीक चिन्ता है। नीचस्तर के प्राणी में ज्ञान-शक्ति आदि का अनुत्कर्ष है (मनुष्य आदि की अपेक्षा), अतः हिंसाचरण से चित्त विलष्ट न हो जाय इसलिये सब पशु हो जायँ, यह चिन्ता संगत नहीं है। बाह्य तथा आभ्यन्तर बाधाओं के दूरीकरण की ज्ञानशक्ति जिस प्रकार के प्राणी के पास अधिक है, तदनुसार उसकी उच्चता होती है। यह शक्ति बाह्यकरण तथा अन्तःकरण एवम् अन्यान्य पदार्थों पर निर्भर है, अतः अहिंसाचरण के लिये स्वस्थिति, बाह्य परिस्थिति, चित्तस्तर आदि अनेक पदार्थों को देखना पड़ता है। एक सांसारिक व्यक्ति के लिये गवादिपीडन-पूर्वक कृषि करना हिंसा नहीं है (या मृदुतम हिंसा है), पर मन से भी किसी को पीडा देने की चिन्ता करना एक ध्यानाभ्यासी योगी के लिये अपरिसीम हिंसा है। साधारण व्यक्ति सर्प की हत्या कर सकता है, पर योगी (साधारण योगाभ्यासी नहीं) किसी भी अवस्था में साँप की हत्या नहीं कर सकता। इसका कारण भी चित्तस्तर है। योगी का चित्त जिस स्तर में है, वहाँ से बहुत अधिक गिरने से हत्या करने की प्रवृत्ति होगी, पर साधारण व्यक्ति जिस स्तर में है, वह उस स्तर में रहकर साँप की हत्या कर सकता है।[1]

वस्तुतः अहिंसा का उत्कर्ष अनभिद्रोह-पूर्वक व्यवहार करने में नहीं है, प्रत्युत प्राणी से संबन्धयुक्त व्यवहार के क्रमिक त्याग में है। व्यवहार की पुष्कलता से अहिंसासाधन में बाधा होती है, अतः उच्च अहिंसा साधन के लिए लौकिक व्यवहार की अल्पता अपेक्षित है। योगियों के निर्जनवास आदि का यही कारण है।

अहिंसासाधन के लिये यह ज्ञातव्य है कि जब तक शरीर धारण किया जाएगा, तब तक सम्यक् अहिंसाचरण संभव नहीं हो सकता, इसीलिये जो सार्वभौम अहिंसाचरण करना चाहते हैं, उनको योग के बल पर शरीर-धारण-संस्कार से अतीत होना चाहिए, जिसको पराकाष्ठा कैवल्यावस्था में होती है।

---

१. कभी-कभी उच्छृंखलता के दमन के लिये करुणापूर्ण क्रोध से हिंसा करनी पड़ती है--कपिल के द्वारा सगरराजा के पुत्रों का नाश इसका उदाहरण है। यदि कपिल इनका नाश नहीं करते, तो ये राजपुत्र निरंकुश होकर प्रजाओं को पीड़ित करते।

प्रसंगतः एक बात और जाननी चाहिए कि शास्त्र में अहिंसाचरण से जिन विभूतियों का उल्लेख मिलता है (जैसे साँप भी योगी को काटता नहीं है, इत्यादि) वे पूर्ण सत्य हैं। अहिंसाचरण ठीक हो रहा है या नहीं, उसको जानने के लिये ये सब परिचायक चिह्न हैं। पर यह भी जानना चाहिए कि ये सब विभूतियाँ अभ्यासी व्यक्ति को नहीं होतीं, प्रत्युत अभ्यास में सिद्ध व्यक्ति में ही होती हैं। इनमें अणुमात्र भी अर्थवाद नहीं है। इन विभूतियों का कारण भी है, जिसका विचार यहाँ अनपेक्षित है।

अहिंसा के प्रसंग में योग, कैवल्य, चित्तरोध आदि विषयों के उपन्यास को देखकर सहसा कोई प्रश्न कर सकता है कि यह तो 'आम्रान् पृष्टः कोविदारान् आचष्टे' न्याय की तरह हुआ। उनका मनोभाव यह है कि ईश्वर, समाधि, कैवल्य आदि को न मानने वालों में भी तो अहिंसा-सत्य-अस्तेय आदि का आचरण विद्यमान है, अतः हमारा यह कथन कैसे संगत हो सकता है कि अहिंसा की प्रतिष्ठा कैवल्य-मुक्ति के लिये ही है। हमारा अन्तिम पक्ष तो यह है कि मानवीय प्रज्ञा से मोक्ष-विद्या का आरंभ भी नहीं होता, मुक्त ईश्वर से ही मोक्षविद्या (सुतराम् अहिंसाचरण भी) मूलतः उपदिष्ट हुई है। अब हम इन विषयों पर आर्षदृष्टि को दिखा रहे हैं—

किसी भी लौकिक युक्ति से अहिंसा को प्रतिष्ठित नहीं किया जा सकता, यदि मूल में चित्तनिवृत्ति रूप मोक्षविद्या मानी न जाय। यथार्थतः कौन आचरण हिंसात्मक है और कौन अहिंसात्मक—इसका अन्तिम निर्णय लौकिक उदाहरण और हेतु से नहीं हो सकता, इसके लिये भी योगजप्रज्ञा आवश्यक है। वस्तुतः अहिंसा का सम्यक् आचरण तब तक नहीं हो सकता, जब तक योग या योगेश्वर पर आस्था और शरण न ली जाए। योगमार्ग में प्रवृत्त होने पर आन्तरिक ज्ञान-शक्ति ही यह दिखाती है कि कौन क्रिया कहाँ तक अहिंसात्मक है। लौकिक दृष्टि यहाँ पूर्णतः निर्देशक नहीं हो सकती। अस्तेय, अपरिग्रह आदि के विषय में भी यह जानना चाहिए कि पहले योगविद्या की शरण में आकर योगाभ्यासी (किसी-न-किसी रूप में) होना पड़ेगा, तब स्वतः स्तेय क्या है, परिग्रह क्या है, किस धन के ऊपर मेरा अधिकार है, कितना ग्रहण करने से वह परिग्रह होता है, इन तत्त्वों का प्रातिभ ज्ञान उत्पन्न होता है। लौकिक दृष्टि से इन विषयों का सम्यक् निर्धारण नहीं हो सकता, और यदि कोई आग्रही निर्धारण करने का दुराग्रह भी करे तो वह स्वयं देख सकता है कि उसकी युक्ति कहाँ तक प्रतिष्ठित होती है।

उपसंहार में हमें दो बातें कहनी हैं, जिनका प्रतिपादन अत्यन्त संक्षेप में किया जा रहा है।

पहली बात यह कि आधुनिक समीक्षक अहिंसा पर जो आक्षेप करते हैं, वह अज्ञता-प्रसूत है; दूसरी बात यह कि यतः कैवल्य मोक्ष है अतः अहिंसा भी है, अन्यथा उसकी प्रतिष्ठा न्याय से नहीं हो सकती। अहिंसा, सत्य आदि किसी भी सदाचार की प्रतिष्ठा लौकिक हेतु से कभी नहीं हो सकती—यदि यह न माना जाए कि अहिंसा चित्त-निवृत्ति की सहायक है, जिसका अन्तिम परिपाक कैवल्यमोक्ष में होता है। जो आत्मा को अपरिणामी तथा शाश्वत नहीं मानता, वह न्यायप्रयोग से यह कदापि सिद्ध नहीं कर सकता कि क्यों पर को पीडा नहीं देनी चाहिए[1] जब कि पीडा देने की इच्छा अपने मन में होती है। यदि यह कहा जाय कि 'हिंसा से अशान्ति बढ़ती है, अतः अहिंसा का आचरण करो,' तो यह भी मानना पड़ेगा कि शान्ति काम्य है, और यदि क्षणिक शान्ति काम्य हुई, तो शाश्वती शान्ति की कामना भी सिद्ध होगी, सुतरां शाश्वती शान्ति का द्रष्टा शाश्वत आत्मा को भी मानना पड़ेगा। जलबिन्दु का स्वीकार करूँगा, और बिन्दु का उपादान सिन्धु का अपलाप करूँगा—यह नहीं हो सकता।

यह भी ज्ञातव्य है कि यतः शाश्वती शान्ति के कारण अहिंसा की प्रतिष्ठा है, अतः चिरकाल से मोक्षविद्या भी चली आ रही है। ऐसा नहीं कि पहले मोक्ष-विद्या नहीं थी और बाद में लोगों ने सोच-विचार कर मोक्षविद्या का आविष्कार किया। मोक्षविद्या सम्यक् पूर्ण विद्या है, उसमें क्रमिक विकास नहीं होता है, क्योंकि क्रमिक विकास मानने से अभी तक किसी को मुक्ति नहीं मिली—यह मानना न्यायतः प्राप्त होगा (जो असमीचीन है)।

क्योंकि शाश्वत मोक्षविद्या है, अतः उस विद्या से व्यपदिष्ट चित्त भी है (विद्या तो सदैव चित्ताश्रयी है), अतः यह भी सिद्ध होगा कि सदैव मुक्त चित्त-विशिष्ट कोई जीव है, जिससे मोक्षविद्या मुमुक्षु साधक को प्राप्त होती है। इस प्रकार मुक्त पुरुषों की सिद्धि निम्नोक्त न्याय-प्रयोग से की जा सकती है—"वस्तूनां जातिः अनादिः, मूलकारणानां नित्यत्वात्, तस्माद् बद्धजातीयकं तथा च मुक्तजातीयकं चित्तमनादि, यस्तु अनादिमुक्तचित्तेन व्यपदिष्टः पुरुषविशेषः स

---

१. अपरिणामी आत्मा को न मानने पर ब्रह्मचर्यादि सदाचारों की उपपत्ति नहीं की जा सकती—यह तर्क व्यासभाष्य में द्रष्टव्य है (४।२१)।

ईश्वरः" (योगभाष्य भास्वती १।२४)। यदि इस ईश्वर की सत्ता न मान ली जाय, तो किसी भी युक्ति से मोक्षविद्या की प्रवर्तना का आरंभ न्याय से प्रतिष्ठित नहीं किया जा सकता। उनके अभिध्यान से ही मोक्षविद्या का प्रकटन होता है और मोक्षविद्या का ही एक स्थूल अंश अहिंसा की उपपत्ति और उसका आचरण है। ईश्वराभिध्यान-परायण साधक के चित्त में यह स्वतः प्रकटित होता है कि कौन-सा आचरण जीव में कहाँ तक पीडाकारक होगा। लौकिक युक्ति इसका सम्यक् निर्णय नहीं कर पाती। क्योंकि लौकिक दृष्टि से जो युक्ति दी जाएगी, उसके समान बलसंपन्न खण्डनात्मक युक्ति भी दी जा सकती है। यह बात दूसरी है कि जो योग-संमत ईश्वर को मानते नहीं हैं, वे भी अहिंसा आदि का आचरण कर सकते हैं, पर वहाँ भी किसी महापुरुष के प्रति प्रणिधान आवश्यक होगा। ईश्वर में महापुरुषत्व की पराकाष्ठा है, और ईश्वरीय ज्ञान का एक लघु अंश ही महापुरुषों में होता है, अतः स्वसंप्रदाय के आदर्शभूत पुरुषों के प्रति प्रणिधिपरायण व्यक्ति भी अहिंसा का फललाभ कर सकते हैं।

इस प्रकार अहिंसाचरण क्यों करना चाहिए, इसका न्यायसंगत उत्तर मिल जाता है। यह विचार तात्त्विक दृष्टि से है; व्यावहारिक स्थूल क्षेत्र में इतनी सूक्ष्म दृष्टि आवश्यक नहीं है। उच्च साधन के लिये अहिंसासम्बन्धी ज्ञान भी अतिसूक्ष्म होता है। आधुनिक अहिंसावादियों से इस सूक्ष्म ज्ञान का निकट सम्पर्क नहीं है, क्योंकि उनका चित्तस्तर उस अतिसूक्ष्म ज्ञान के ग्रहण के लिये समर्थ नहीं है।

: २८ :

वेदोक्त हृदय-मन-सम्बन्ध का स्पष्टीकरण : इतिहास-पुराण के आधार पर

वेद में मन और हृदय के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में अनेक परस्पर पृथक् और विचित्र वाक्य मिलते हैं। ये वाक्य अवश्यमेव विचार्य हैं तथा वैदिक तत्त्वज्ञान की दृष्टि से इन वाक्यों का अर्थ विशदीकरणीय है। इस प्रकरण में कतिपय ऐसे विशिष्ट वाक्यों पर विचार किया जा रहा है। कहीं-कहीं हृदय के लिए हृत् शब्द और मन के लिए मानस आदि शब्द व्यवहृत हुए हैं (श्रुति-स्मृति-पुराणादि में)।

(१) निम्नोक्त वाक्यों को देखिए—

अन्तर्हृदा मनसा (माध्यन्दिन संहिता १७।९४), मनो हृदये [श्रितम्] (तै० ब्रा० ३।१०।८।६), कस्मिन् तु मनः प्रतिष्ठितं भवतीति हृदय इति (शतपथ० १४।६।९।२५), हृदीन्द्रियाणि मनसा संनिवेश्य (श्वेताश्वर उपनिषत् २।८), चन्द्रमा मनो भूत्वा हृदयं प्राविशत् (ऐ० उप० १।२), यदेतद् हृदयं मनश्चैतत् (ऐ० उप० ३।१), हृत्प्रतिष्ठं....तन्मे मनः (यजुः माध्यन्दिन संहिता ३४।६), हृत्सु अयं क्रतुर्मनो जवः प्रतिष्ठः (शतपथ० ३।३।४।७), हृदा मनीषा मनसाऽभिक्लृप्तः .... (कठ उप० २।३।९), प्रध्यायत मनसा हृदयेन च (छादोग्य ब्राह्मण २।२।५), हृदा हृदिस्थं मनसा य एनम् (श्वेताश्वतर० ४।२०), मनसा ह्येव पश्यति मनसा शृणोति, हृदयेन हि रूपाणि जनाति (ऐत० उप० ३।१ शांकरभाष्योद्धृत वाजसनेयक वाक्य), हृदयं निरभिद्यत, हृदयान्मनः (ऐत० उप० १।१)।

यह वैदिक दृष्टि स्मृति-पुराणादि में भी है। मनो हृदि निरुध्य च (गीता ९।१२); मन उपाहृत्य हृदि रुन्ध्यात् (भाग० ७।१५।३३) इत्यादि वाक्यों में हृदय में मन का निरोध कहा गया है।

उपर्युक्त वाक्यों में मन-हृदय के विषय में कई विचारणीय तथ्य भाषित हुए हैं, यथा—मन हृदय में आश्रित है, मन हृदय में प्रतिष्ठित है, मन हृदय में प्रविष्ठ होता है, मन का निरोध हृदय में किया जा सकता है इत्यादि। इन सिद्धान्तों की सार्वत्रिकता इनकी महत्ता की ज्ञापक है।

(२) उपर्युक्त सिद्धान्त मन-हृदय के कीदृश स्वरूप होने पर उपपन्न होते हैं, यह यहाँ विचारित हो रहा है। इन विषयों के स्पष्टीकरण के लिए हमें सनातन सांख्य-योग[1] विद्या पर आश्रय करना होगा, क्योंकि योगाभ्यासजात तारक ज्ञान से युक्त ऋषियों के द्वारा मन्त्र उक्त हुए हैं (निरुक्त १।२० की दुर्गटीका—तानसौ तारकेण ज्ञानेन पश्यति)। ऋषि तारक ज्ञानान्वित होते हैं और सांख्य-योग विद्या ही प्रकृत आर्षज्ञान है, यह मत शब्दशः कई प्राचीन पुराणों में कहा गया है। (वायु० ५९ अध्याय; ब्रह्माण्ड० १।३२ अध्याय; मत्स्य० १४५ अध्याय)। यह भी ज्ञातव्य है कि इस विद्या से ही हृदय-मन-परक वैदिक वचनों का तात्पर्य बोधगम्य होता है। प्राचीनतम सांख्य-योग विद्या काल-क्रम से विपरिणित होकर वैष्णव-शाक्त-शैवादि सम्प्रदायों में एवं अद्वैतवाद आदि विभिन्न मतवादों में न्यूनाधिक विकृत रूप में चली आ रही है, यह हमारी मान्यता है। योग ग्रन्थों में जो मन-हृदय-नाड़ी आदि विवृत हुए हैं, वे वस्तुतः वेद-प्रतिष्ठ हैं। स्थूल नाड़ीमार्ग का आश्रय कर आत्मबोध का अनुसन्धान करना तो शब्दशः तै० उप० १।६ में विवृत हुआ है।[2] उसी प्रकार वैदिक ग्रन्थों में वर्णित प्राण विद्या का स्पष्टीकरण सांख्ययोग शास्त्र से ही हो सकता है[3]। इस विद्या (नास्ति सांख्यसमं ज्ञानं नास्ति योगसमं बलम्, शान्ति० ३१६।२) के विना अध्यात्म विद्या के वचनों की संगत व्याख्या करना सम्भव नहीं है।

(३) अध्यात्म योगविद्या (जो इतिहास-पुराणों के प्राचीनतम अंशों में आज भी मिलती है तथा योगियों के विभिन्न सम्प्रदायों में अंशतः संकीर्ण या असंकीर्ण रूप से प्राप्तव्य है) के अनुसार हृदय-मन का रूप यह है—

प्रत्येक जीव के आत्मभाव का जो प्रत्यगात्मरूप परम मूल है, वह अविकारी साक्षी-रूप है। इस चिद्रूप अपरिणामी चितिशक्ति के द्वारा त्रिगुण रूप

---

१. सांख्यं च योगं च सनातने (दे० अनुशासन०)।

२. इस प्रसंग में अथर्व० १०।२ सूक्त द्रष्टव्य है। यहाँ जो चक्र-द्वार-कोश आदि शब्द हैं, उनका स्पष्टीकरण योग-विद्या से ही हो सकता है। तै० ब्राह्मण और तै० आरण्यक में कई ऐसे स्थल हैं, जो योगविद्या गत चक्र-द्वारादि विषय से सम्बद्ध हैं। सौन्दर्यलहरी की भास्करराजकृत टीका में ऐसे कुछ स्थलों की व्याख्या है।

३. द्र० स्वामी हरिहरानन्द आरण्य का 'प्राणतत्त्व' नामक बँगला निबन्ध (कलकत्ता विश्वविद्यालय के द्वारा प्रकाशित कपिलाश्रमीय पातञ्जल योग-दर्शन के अन्तर्गत)।

प्रकृति जब उपदृष्ट होती है, तब 'जीव' होता है, जिस जीव के व्यावहारिक आत्मभाव (जो अस्मत्-प्रत्यय परिणम्यमान है और आचित्तलय जो नाना रूप में विद्यमान रहता है) को लक्ष्य कर 'अस्मिता' शब्द सांख्ययोगादि शास्त्रों में प्रयुक्त होता है। 'अस्मि' भाव में समाहित होने पर ही इस व्यावहारिक आत्मभाव का प्रत्यक्ष होता है। इस दृष्टि से इसको 'अस्मिता' कहा जाता है (तमणुमात्र-मात्मानम् अनुविद्य अस्मीत्येवं तावत् संप्रजानीते—१।३६ योगभाष्य में उद्धृत पञ्चशिखवचन)। यतः यह विक्रियमाण अस्मत्प्रत्यय परिच्छिन्न है, अतः इसका उपादान है, जो उपादान सत्त्व-रजस्तमोगुणात्मक प्रकृति है, ऐसा अनुमान पूर्वाचार्यों ने किया है। इस प्रकृति तत्त्व और अनुमान प्रणाली के विषय में यहाँ कुछ कहना अप्रासंगिक होगा।

जब सत्त्व-रज-तम-आत्मक यह मौलिक उपादान द्रव्य (=प्रकृति) पौरुष उप-दर्शन से ग्रहीतृरूपेण विकृत होता है (जिससे व्यावहारिक आत्मभाव व्यक्त होता है), तब पहले ही सत्त्वप्रधान, रजःप्रधान और तमःप्रधान रूप तीन परिणाम होते हैं—प्रथम सत्त्वबहुल अस्मिप्रधान बुद्धि, जो व्यावहारिक अहंभाव का सर्वशीर्षभूत है; द्वितीय रजोबहुल अहंकार, जो अहं का ही विषयाभिमानजनित अनेक-रूपात्मक भाव है; तृतीय तमोबहुल आवरितस्वभाव हृदय, जो सब वृत्तियों की शक्तिरूप अलक्ष्य अवस्था है एवं सर्वविध संस्कार जिसमें अदृश्य रूप से आहित रहता है। जीव (जिसका एकमात्र परिचय है—अहंभाव) के मौलिक धर्म तीन ही हैं—ज्ञान, चेष्टा और संस्कार (जिसको गुणत्रय के स्वभाव के अनुसार प्रख्या-प्रवृत्ति-धृति भी कहा जाता है), जो यथाक्रम बुद्धि तत्त्व (अहं तत्त्व), अहंकार तत्त्व, और हृदय तत्त्व के स्वलक्षण हैं।

(४) पाठकों के सुखावबोधार्थ बुद्धि-अहंकार-हृदय[1] रूप त्र्यङ्ग अन्तःकरण का विशद परिचय दिया जा रहा है—

---

१. यह हृदय कहीं-कहीं 'मन' से भी अभिहित हुआ है, जो इन्द्रियाधीश मन नहीं है, पर इन्द्रियाधीश मन इस संस्काराधारभूत मन का ही बहिरंग रूप है और यही कारण है कि कहीं-कहीं योग-ग्रन्थों में हृदय का उल्लेख न कर केवल मन का ही उल्लेख किया गया है। इस तामस हृदय से पञ्चप्राणों का साक्षात् सम्बन्ध है। प्रश्नोपनिषत् में कहा भी है—"मनःकृतेन आयात्य-स्मिन् शरीरे"। बुद्धि-अहंकार से पञ्चप्राणों का उतना निकटतम संबन्ध नहीं है, यह जानना होगा, अन्यथा पञ्चप्राणों का रहस्य अबोध्य हो रहेगा। विषयग्रहणप्रक्रिया के साथ 'हृदय' का सीधा सम्पर्क है, बुद्धि-अहंकार

[1]सत्त्वबहुल बुद्धितत्त्व का स्वभाव—यह विशुद्ध 'अस्मि' भाव है, इसको महत्-तत्त्व भी कहा जाता है। यही व्यावहारिक ग्रहीता है, जो कभी-कभी अस्मिता-मात्र भी कहलाता है। अध्यवसाय (अधिकृत विषयों का प्राकाश्य-पर्यवसान) इसका लक्षण है। कार्य की दृष्टि से अध्यवसाय और ज्ञान को भिन्न मानकर "बुद्धिरध्यवसायेन ज्ञानेन च महांस्तथा" (अश्व० ४३।३५) कहा गया है। यहाँ ज्ञान=अस्मिप्रत्यय और अध्यवसाय=विषय का प्राकाश्यपर्यवसान। तत्त्वतः अभेद होने पर भी कार्य-भेद से इस प्रकार भेदवत् कथन शास्त्रों में सर्वत्र मिलता है।[2]

रजोबहुल अहंकारतत्त्व का स्वभाव—महत्-तत्त्व का जो क्रियाशील भाव है—जिसके द्वारा अनात्मभाव के साथ आत्मा का सम्बन्ध होता है, वह

का नहीं, इसलिये साधनासम्बन्धी गूढ़ उपदेशों में हृदय या हृत् शब्द बाहुल्येन प्रयुक्त होता है। स्थूल उपदेशों में 'मन' शब्द अधिक प्रयुक्त होता है, क्योंकि इन्द्रियाधीश मन इस तामस आवरितस्वभाव हृदय का व्यक्ततर प्रकट रूप है। कभी-कभी 'महान्' को भी मन कहा गया है (द्र० १।६४ सांख्यभाष्यधृत-लिङ्गपुराण वाक्य)।

१. सत्त्व-रज-तम वस्तुतः रूपादि की तरह गुण नहीं हैं। सत्त्वादि तत्त्वतः धर्म भी नहीं हैं, बल्कि ये तीन बाह्य-आन्तर द्रव्यों के चरम उपादान हैं। चूँकि स्वरूपतः गुणसाम्यावस्थारूप प्रकृति भी देशकालातीत है, इसलिये धर्म-धर्मि-भाव की कल्पना भी प्रकृति में नहीं घट सकती। व्यवहारतः सत्त्वादि को द्रव्य कहा जा सकता है। ग्राह्य-ग्रहण-ग्रहीतृरूप त्रिधाविभक्त दृश्य में सर्वत्र प्रकाश (बोध-हेतु), क्रिया (परिणामहेतु) और स्थिति (बोधपरिणाम का रोधहेतु, जिसके कारण परिणम्यमान होकर भी वस्तु का अभाव नहीं होता) विषम रूप में हैं। इससे यह अनुमान होता है कि इसके अमेय मूल उपादान में प्रकाश-क्रिया-स्थिति अविषम रूप में हैं, यही प्रकृति है, जो साक्षात् उपलब्धव्य नहीं है। गुणत्रय के विषय में अनेक भ्रान्त धारणाएँ दार्शनिकों में एवं आधुनिक गवेषकों में हैं।

२. बुद्धि और मन के विषय में भी यही बात है। मुरारिमिश्र कहते हैं—"संकल्पात्मकं मनः अन्तःकरणेन्द्रियम्। हृदयाधारा च बुद्धिरिति भेदः सांख्यदर्शने श्रुतावपि च (वेदनिघण्टु, द्र० वैदिक वाङ्मय का इतिहास, भाग २, पृ० २५१)।

अहंकार है। यह ममता और अहन्ता का मूल है। यह अभिमानात्मक है। सांख्य-योग और पुराणों में इन दोनों के स्वभाव-कार्य पर विशद विचार द्रष्टव्य हैं।

तमोबहुल अन्तःकरण (=हृदय) का स्वभाव—यह अस्मिता का आवरितस्वभावयुक्त अंश है, जो संस्कारों (वृत्तियों की अलक्ष्यवत् सूक्ष्मरूप से स्थिति) का आधार है। चूँकि इसमें स्थित्याधिक्य है, अतः न्यायतः यह संस्काराधार ही होगा। क्रिया (इन्द्रियवाहित वैषयिक क्रिया) के द्वारा उद्रिक्त होने पर यहाँ से ही बोध उत्पन्न होता है। इसे 'बोधजनक क्रिया की शक्ति रूप अवस्था' कहा जा सकता है। उसी प्रकार बुद्ध भाव जब अतीत हो जाता है, तब वह उस आवरित अवस्था में शक्ति रूप में अलक्ष्यवत् रहता है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि आत्मभावसंलग्न (यह आत्मा अपरिणामी चिदात्मा नहीं है, बल्कि अस्मितारूप व्यावहारिक आत्मा है; अस्मिता के लिए 'आत्मा' पद श्रुत्यादि में प्रयुक्त होता है) जाड्य ही बोधवृत्ति को अभिभूत कर रखता है। यह आत्मसंलग्न जाड्यप्रधान स्थितिशील अंश—जो वृत्तियों का उद्भव-लयस्थान है—हृदय है। यह हृदय वृत्तियों का उदय-लय-स्वरूप है। शान्तिपर्व में एक बहुत ही सारवान् वाक्य मिलता है—

यतो निर्याति विषयो यस्मिंश्चैव विलीयते।
हृदयं तद् विजानीयाद् मनसः स्थितिकारणम्॥

यहाँ 'स्थितिकारण' कहने से हृदय का तमोबहुलत्व सिद्ध होता है, क्योंकि स्थिति तमः का स्वरूप है (द्र० योगसूत्र 'प्रकाश-क्रिया-स्थितिशीलम्.... २।१८; स्थिति के कारण ही विधारणस्वभावलक्षण 'नियम' शब्द भी प्रयुक्त होता है—प्रकाशप्रवृत्तिनियमार्थाः—सांख्यकारिका १२)।

(५) स्थितिप्रधान हृदय का स्वरूप यदि ठीक से समझ लिया जाय (मुख्यतः अन्तःकरण की दृष्टि में और गौणतः तदधिष्ठानभूत शरीरांश की दृष्टि में) तो मन (बाह्यविषयग्रहणकारी इन्द्रियों का अधीश) और वृत्ति (चित्त का खण्ड-खण्ड परिणाम) के साथ उसका सम्बन्ध भी स्पष्टतः ज्ञात होगा एवं हृदय-मन सम्बन्ध के विषय में जो मत पहले कहे गए हैं, उनकी संगति भी पूर्णतः समझ में आ जाएगी।

इस विषय में यह जानना चाहिए कि परिणम्यमान अस्मिता में जो क्रिया या परिणामभाव मिलता है, वह दो प्रकार का है। प्रथम—अप्रकाशित को प्रकाशित करना और द्वितीय—प्रकाशित को अप्रकाशित करना। बोध और क्रिया के साथ तमोगुणजात जड़ता या आवरण भाव भी अस्मिता (मैं-पन बोध

का लक्ष्य आश्रयस्थल) के साथ नित्य ही संलग्न रहेगा। जब वह क्रिया के द्वारा उद्रिक्त होता है तब प्रकाशित होता है और प्रकाशित भाव उसमें अनुभूत होता है। यह अनात्मभाव का स्थितिहेतु एवं आश्रयकेन्द्रस्वरूप उभयसम्बद्ध भाव है। यही आत्मसंलग्न स्थितिशील भाव रूप हृदय है, अनात्मा में आत्मख्याति इसमें ही प्रतिष्ठित है। अनात्मा में आत्मख्याति की प्रतिष्ठा इसमें होने के कारण विषय-ज्ञान की दृष्टि में हृदय सर्वमुख्य तत्त्व है और इसीलिए बुद्धि-तत्त्व या अहंकार-तत्त्व की अपेक्षा इन्द्रिय या इन्द्रियाधीश मन या इन्द्रियोद्रेककारक वैषयिक क्रिया के साथ हृदय का साक्षात् सम्बन्ध है।[1] इसी दृष्टि से पतंजलि को कहना पड़ा—हृदये चित्तसंवित् (यो० सू० ३।३४)—चित्तसम्बन्धी संवित् हृदय में संयम करने से होता है, बुद्धि-तत्त्व या अहंकार-तत्त्व में संयम करने पर नहीं। प्रत्येक धीर व्यक्ति को इस युक्ति की परीक्षा करनी चाहिए और सोचना चाहिए कि विभूति-उत्पत्ति के लिये भी सुदृढ़ युक्तिप्रणाली है, जिसको यथारुचि तर्क के बल पर काटा नहीं जा सकता, क्योंकि योगमत प्रयोगों के द्वारा सुसिद्ध है।

(६) इस 'हृदय' से मन या चित्त और वृत्ति भी साक्षात् रूप से संबद्ध है, यह पूर्वोक्त पर्यवेक्षण से सिद्ध होता है। जभी बाह्य करण (=ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय) का कोई भी व्यापार होता है, तभी वह व्यापार बुद्ध होता है या बोध रूप में उसका परिणाम होता है। यह बुद्ध भाव अन्तःकरण की धृतिवृत्ति के द्वारा विधृत होता है, क्योंकि धारण करना ही स्थितिवृत्ति का एकमात्र कार्य है। उस सर्वधारक (करण और विषयों को धारक) स्थितिवृत्ति के परिणामभूत तामस अस्मिता (जिसको हृदय कहा गया है) का बाह्यार्पित-विषय-धारण रूप जो परिणाम होता है, वह चैत्तिक धृतिवृत्ति है। इस धृतिवृत्ति के ही पाँच ज्ञान-वृत्ति और पाँच चेष्टावृत्ति-रूप भेद उत्पन्न होते हैं (द्र० सांख्यतत्त्वालोक २६-२७ प्रकरण)। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि वृत्तियों के साथ हृदय का मूल-भूत सम्बन्ध है।

इसी प्रकार इन्द्रियाधीश संकल्पक मन के साथ इस तामस अस्मिता रूप हृदय का सीधा सम्बन्ध है। यह तामस अस्मिता जब विषयव्यापारवती होती है, तब वह अभिव्यक्ततर एवं अभिमानप्रयोग में दक्षतायुक्त होती है। यह व्यक्ततर रूप ही 'मन' है। इस प्रकार यह इन्द्रियाधीश संकल्पक मन हृदय से ही प्रजात होता है; वह हृदय का ही प्रस्फुट रूपान्तर है। इस प्रसंग में यह भी ज्ञातव्य है कि

---

१. इस प्रकरण में हृदयादि का जो स्वरूपविचार किया गया है, वह कापिला-श्रमीय पातञ्जल योगदर्शन के आधार पर है।

अविषयीभूत[1] बाह्यसम्पर्क से अध्यात्मभूत ग्रहणरूप इन्द्रियों को उत्पत्ति होती है। वैषयिक-क्रिया-ग्रहणोपयोगी अस्मिताव्यूह ही इन्द्रिय है और यही कारण है कि चित्तरोध से ही इन्द्रियों का रोध होता है, बाह्य प्रयत्नों से इन्द्रियों का प्रकृत रोध नहीं हो सकता। इन्द्रियचालित बाह्यक्रिया अन्तःकरण के तामसिक अंश (=हृदय) के द्वारा विधृत होती है और इसी अंश से उपयुक्त उद्रेक पाकर प्रकाशित भी होती है। इस व्यापार के कारण आवरित स्वभाव हृदय का एक बाह्येन्द्रिय-नियन्त्रणकारक संकल्पात्मक रूप भी स्वतः बनता है, जो हृदय में ही प्रतिष्ठित रहता है, पर यह हृदय से स्थूल है। यही इन्द्रियाधीश मन है। इन्द्रियों का नियमन, इन्द्रियवाहित क्रिया का धारण इत्यादि इस 'मन' के कार्य हैं।

(७) यह मन 'संकल्पक मन' है। जैसे बुद्धि का स्वलक्षण अध्यवसाय और अहंकार का अभिमान है, उसी प्रकार मन का स्वलक्षण 'संकल्प' है। संकल्प का अर्थ है--चित्त में अनुभूत (चाहे वह कल्पित हो या स्मृत हो) जो क्रिया है, उसमें अभिमान का प्रयोग, जैसे 'मैं' जाऊँगा, इस वृत्ति में अनागत गमन क्रिया का अनुभवपूर्वक अपने को तद्युक्त रूप बनाना ही संकल्प है।[2]

---

१. अन्तःकरण का सम्बन्ध रूपादि विषयों के साथ होने पर चक्षु आदि करण अभिव्यक्त होते हैं। छान्दोग्य उप० में कहा गया है--"अथ यो वेदेदं शृणवानीति स आत्मा श्रवणाय श्रोत्रम्"। (यह अस्मितारूप आत्मा है, क्योंकि यही चित्तेन्द्रियरूप में परिणत होता है)। यतः बाह्यकरण की अभिव्यक्ति के बाद विषय गृहीत होता है, अतः जिस आत्मभाव से आदि में अस्मिता का संयोग होकर इन्द्रियों को अभिव्यक्ति हुई थी, वह अविषयी-भूत बाह्य पदार्थ है। इतिहासपुराण एवं सांख्य के अनुसार वह विराट् पुरुष का भूतादिनामक अभिमान है। इस तत्त्व को जान लेने के बाद प्रश्न उठता ही नहीं कि सांख्य सेश्वर है या निरीश्वर। ईश्वर का प्रकृत स्वरूप सांख्यविद्या के द्वारा ही जाना जा सकता है, अन्य शास्त्रों में ईश्वर की अज्ञतापूर्ण प्रशंसा ही मिलती है, उनका तात्त्विक विश्लेषण नहीं।

२. अध्यवसाय, संकल्प आदि शब्दों का जो प्रचलित अर्थ है, वह वस्तुतः मोक्ष-दर्शन में अप्रयोज्य है। अज्ञ जन 'वैषयिक ज्ञान का निश्चय'=बुद्धि कहते हैं। यह भ्रान्त धारणा है। यह महत्तत्त्व का लक्षण कदापि नहीं हो सकता, यह तो साधारण चित्त का ही व्यापारविशेष है। जो चित्त संशय करता है, वही निश्चय भी करता है। अधिकृत विषय का अवसाय (=प्राकाश्य पर्यवसान) ही अध्यवसाय है; लौकिक 'निश्चय' की कोई बात वहाँ नहीं है।

चूँकि 'हृदय' से यह 'मन' अभिव्यक्त होता है और बाह्यतः विषयक्रिया का प्राथमिक धारण 'मन' ही करता है, इसलिये सादृश्य से 'हृदय' को भी कहीं-कहीं 'मन' शब्द से कहा गया है।[1] कभी-कभी तो सांख्य-योग विद्या के ग्रन्थों में केवल 'मन' का ही उल्लेख रहता है, 'हृदय' का नहीं, पर इससे यह नहीं समझना चाहिए कि 'हृदय' उस विद्या में अस्वीकृत है। हमारा स्पष्ट मत यह है कि पौरुष उपदर्शन के कारण त्रिगुण का जो भी विकार सत्कार्यवाद की दृष्टि से न्यायतः या उपलब्धितः सिद्ध होता है, वह सांख्य-योग-संमत है, चाहे किसी ग्रन्थ में किसी विकार का उल्लेख हो या न हो। योगानुशीलन से कितने ही ऐसे अवान्तर प्रमेयों की उपलब्धि होती है, जिनका उल्लेख ग्रन्थों में कहीं भी नहीं मिलता। ग्रन्थरचना एक निश्चित दृष्टिकोण से, निश्चित परिधि में स्व-संस्कारानुरूप की जाती है, अतः यह संभव नहीं कि अवान्तर सब बातें (चाहे वे आवश्यक ही क्यों न हों) ग्रन्थों में आ जायें। मूल प्रमेयों (द्रष्टा और दृश्य) के अतिरिक्त अन्य सब विषय अपूर्ण रूप से ही कहे जाते हैं, युक्तियों के बल पर, उपलब्धि के अनुसार उन अनुक्त पदार्थों का ज्ञान करना चाहिए।

(८) मन और हृदय का स्वरूप (पूर्वोक्त युक्तियों के आधार पर) स्पष्ट हो जाने के बाद उपर्युक्त वैदिक और पौराणिक वचनों की संगति बैठ जाती है और इन वचनों के लिये 'अर्थवाद' 'अनिर्वचनीय' आदि कहने की आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि वे मत युक्ति-परीक्षण से सिद्ध होते हैं। हृदय-मन के

भोक्ता (पुरुष) का भी निश्चित अर्थ है, उसको न जानकर अज्ञ लोग सांख्यविद्या पर दोष देते हैं।

१. कोई अत्यन्त प्राचीन शास्त्र जब नाना संप्रदायों में विकीर्ण हो जाता है, तब शब्दों के एतादृश भ्रमजनक संकीर्ण प्रयोग उत्पन्न हो जाते हैं। व्याकरण में एक ही 'आख्यात' शब्द 'तिङ् विभक्ति' 'तिङन्त शब्द' 'धातु'— इन तीन अर्थों में प्रयुक्त होता है। 'गुण' शब्द को पाणिनि ने पारिभाषिक-अपारिभाषिक के रूप में विभिन्न सूत्रों में व्यवहृत किया है। नाना आचार्यों के द्वारा प्रोक्त होने के कारण, विभिन्न सम्प्रदायों में पल्लवित होने के कारण तथा कालान्तर में शब्दव्यवहार में कुछ-न-कुछ परिवर्तन हो जाने के कारण, ऐसे भ्रामक व्यवहार उत्पन्न हो जाते हैं। सांख्य, योग, इतिहास, पुराण, वेद आदि प्राचीनतम विद्या के ग्रन्थों में शब्दों का ऐसा भ्रामक प्रयोग इसी कारण से हुआ है। लक्षण और विवक्षा को देखकर शब्दार्थ का निश्चय करना चाहिए।

आश्रय-आश्रितभाव को लक्ष्य कर 'मनो हृदये श्रितम्' इत्यादि वैदिक वचन कहे गए हैं। हृदय का स्थूल व्यक्त भाव ही मन है, इस तथ्य को लक्ष्यकर 'हृत् प्रतिष्ठ' आदि वैदिक वचन उपपन्न होते हैं। चूंकि हृदय मन से सूक्ष्म है और मन में आगत विषय ही हृदय में प्रविष्ट होता है और विषय के संस्कार वहीं विधृत रहते हैं, अतः 'हृदीन्द्रियाणि मनसा संनिवेश्य' या 'मनो हृदि निरुध्य' आदि मन-निरोध परक वचन संगत होते हैं, क्योंकि मन यदि इन्द्रियों को संरुद्ध करेगा तो हृदयरोध पूर्वक ही कर सकेगा और तत्त्वतः इन्द्रियरोध भी हृदय में ही होता है, बाह्य उपायों से तत्त्वतः इन्द्रियरोध नहीं होता। पतञ्जलि के प्रत्याहार-लक्षण (योग सूत्र २।५४) से यह तथ्य ज्ञात होता है। हृदय स्थितिशील तमः का कार्य है, अतः तामस रोध के साथ हृदय का ही संबन्ध होगा, बुद्धि या अहंकार का नहीं। कारण में कार्य का उपचार कर ही "यदेतद् हृदयं मनश्चैतत्" आदि वाक्य कहे गए हैं।

(९) अब हम केवल हृदय-संबन्धी कुछ वचनों पर विचार करेंगे। शरीर के साथ हृदय का निकट संबन्ध बहुधा भाषित हुआ है—"प्रतिष्ठितोऽन्ने हृदयं सन्निधाय" (मुण्डक उप० २।२।७)। यहाँ हृदय को ब्रह्मपुर भी कहा गया है—दिव्ये ब्रह्मपुरे ह्येष व्योम्नि आत्मा प्रतिष्ठितः।

हृदय-शरीर-संबन्ध के विषय में जो वचन मिलते हैं, उनकी उपपत्ति के लिये निम्नोक्त तथ्य द्रष्टव्य हैं—हृदय वस्तुतः कालव्यापी अन्तःकरण-द्रव्य है, इसकी दैशिक व्याप्ति (लम्बाई-चौड़ाई-मोटाई) नहीं है. पर हिरण्यगर्भ के सर्वभावाधिष्ठातृत्वरूप संस्कार के व्यक्त होने पर जब ब्रह्माण्ड की अभिव्यक्ति होती है, तब जीवों का शरीरधारण-संस्कार भी व्यक्त होता है (जो जीव पूर्व प्रलय-काल में संरुद्धकरण होकर मोहनिद्रावत् अवस्था में थे, जिनका चित्त चरितार्थ नहीं हुआ था, अतः जो जीव संसरणशील ही हैं) और प्रत्येक (आब्रह्मस्तम्ब) जीव अपने संस्कारानुसार स्थूल-सूक्ष्म शरीर का धारण करता हुआ यथायोग्य पुरुषार्थों की सिद्धि करता रहता है। चूंकि अन्तःकरण के द्वारा ही शरीर का व्यूहन होता है, अस्मिता ही शरीर को चलाती है, अतः शरीर में अन्तःकरण उपहित रहता है और अन्तःकरण का प्रभाव शरीर पर एवं शरीर का प्रभाव अन्तःकरण पर पड़ता रहता है। जीव का सर्वाधिक तामस भाव शरीर है, क्योंकि शरीर का उपादानभूत भूत-तन्मात्र भूतादिनामक तामस अभिमान का विकार है, यह इतिहास-पुराण में स्पष्टतया कहा गया है (भूतादिस्तु विकुर्वाणः

शब्दमात्रं ससर्जह....इत्यादि पुराणवचन द्र०)।[1] हृदय भी तामस है, इस प्रकार शरीरके साथ हृदय का जितना अधिक संबन्ध है (गुणत्रय की दृष्टि में) उतना बुद्धि-अहंकार के साथ नहीं। इस दृष्टि से ही "प्रतिष्ठितोऽन्ने (=शरीरे) हृदयं संनिधाय" वाक्य संगत होता है।

यह भी जानना चाहिए कि जैसे त्रिविध अन्तःकरणकार्य (ज्ञान-चेष्टा-धृति) को देखकर अन्तःकरण के तीन भाग कल्पित किए जाते हैं, उसी प्रकार शरीरोपहित अन्तःकरण के तीन शरीराधिष्ठानभूत अंशविशेष भी माने जाते हैं। अन्तःकरण कालव्यापी द्रव्य है, परन्तु देशव्यापी शरीर में उपहित रहने के कारण शरीर के विशिष्ट अवयवों में उसका विशिष्ट अनुभव यौगिक पद्धति से प्राप्त होता है। जैसे ज्ञानात्मा का अधिष्ठानभूत शरीरांश है—मस्तिष्क का पश्चात् भाग, उसी प्रकार तामस हृदय का अधिष्ठान भी वक्षान्तर्गत स्थानविशेष है। यह वह स्थान है, जहाँ सुख-सौमनस्यादि भाव अच्छी तरह से प्रतिफलित होते हैं। यह स्थान हृदय का बाह्य अधिष्ठान है, यह वास्तव अनुभूतिगम्य भी है। इस स्थान को भी 'हृदय' या 'हृदयपद्म' कहा जाता है। बाह्य दृष्टि में यह आत्मा और हृदय का सन्धिस्थल है, अनात्मा से आत्मबोध को उपसंहृत करने के लिये लिये स्थूल हृदय का अवलम्बन कर साधन करना पड़ता है, ऐसा औपनिषद दर्शन है। जैसे आध्यात्मिक चक्षु आदि इन्द्रियों (जो वस्तुतः अस्मिता का व्यूह विशेष है) का बाह्य अधिष्ठान (चक्षुगोलक आदि) माना जाता है, उसी प्रकार आध्यात्मिक हृदय का भी बाह्य अधिष्ठान है। पूर्वाचार्यों ने इसको पुण्डरीकाकार-मांसखण्डविशेष[2] माना है।

(१०) यह प्रसिद्ध है कि वक्षःस्थल में आत्मबोध प्रशस्त रूप से उदित रहता है (अन्यत्र समान्य रूप से रहता है)। जीवनधारणभूत श्वासयन्त्रादि भी

---

१. विष्णुपुराण १।२।३७ से आरम्भ कर कतिपय श्लोक। मार्कण्डेय-वायु-ब्रह्माण्ड-कूर्म-लिङ्ग आदि पुराणों के सर्गप्रकरण में ये श्लोक मिलते हैं। शान्तिपर्वस्थ सृष्टिप्रकरण में भी यह तथ्य भाषित हुआ है। भूतादि अहंकार-विशेष है, अहंकार सदैव पुरुषप्रतिष्ठित रहेगा। यह अहंकार सर्वभावा-धिष्ठातृत्व-शक्तिसंपन्न (अर्थात् ईश्वरतासंपन्न) होगा, यह भी सिद्ध होता है।

२. हृदि पुण्डरीकाकारमांसपरिच्छिन्ने.... (प्रश्नोपनिषद् का शांकरभाष्य ३।६)। हृदयमिति पुण्डरीकाकारो मांसपिण्डः प्राणायतनः अनेकनाडीसुषिर ऊर्ध्वना-लोऽधोमुखः (तै० उप० १।६ शांकरभाष्य)।

एतत्स्थानसंबद्ध ही हैं। हृदयपुण्डरीक की ध्यानविधि भी इसी स्थल में प्रयोज्य है। अस्मिता में पहुँचने के लिये हृदयध्यान प्रशस्त माना गया। वक्षस्थ अति-प्रकाशशील सूक्ष्मतम बोधमय अंश को हृदय मानकर यह ध्यान किया जाता है, जिसमें अस्मितामात्रा विशोकावृत्ति का उदय साधक के हृदय में होता है (योगसूत्र १।३६)। यह भी ज्ञातव्य है कि संस्काराधार तामस हृदय का बाह्य शारीरिक अधिष्ठान मर्मस्थान भी है। यह स्थूल अस्मिता है। इस अस्मिता का अधिष्ठान वक्ष से मस्तक पर्यन्त सूक्ष्म बोधवाहक अंश है, और इसी दृष्टि से आत्मा का अधिष्ठान मस्तक है, ऐसा प्रवाद वैदिक ग्रन्थों में भी है।[1] वस्तुतः उपलब्धि का तारतम्य है और तदनुसार ही आत्मा का स्थान 'हृदय' 'मस्तक' 'ब्रह्मरन्ध्र' 'मस्तक का पश्चाद्भाग' इत्यादि प्रतिभात होते हैं। स्वरूपतः आत्मा देश-कालातीत है, अतः साधनागत उपलब्धि के अनुसार विभिन्न दैशिक स्थान अनुभव में आ सकते हैं और प्रत्येक मत उस स्थिति में सत्य है। शरीर के विशिष्ट स्थलों में विशिष्ट आत्मानुभूति होती है, वह भी सत्य है। कायव्यूह में संयमकारी कोई योगी ही इस कार्य-कारण परम्परा को जान सकते हैं कि आत्मा की विशिष्ट उपलब्धि हाथ या पैर में न होकर उपर्युक्त स्थानों में ही किसी न किसी रूप में क्यों होती है।

इस प्रकार षट्चक्र की दृष्टि में जो हृत्पद्मरूप हृदय है, वह भी बाह्य आश्रय के साथ आन्तर भाव का मिश्रण पूर्वक ही कहा गया है। एक ऐसी भी स्थिति है, जहाँ हृदय और मष्तिष्क एक हो जाता है और इन्हीं कारणों से श्रुतियों के वाक्य परस्पर असंलग्न जान पड़ते हैं (असाधक लोगों की आपात दृष्टि में), पर वस्तुतः उनमें कोई विरोध नहीं है। अध्यात्मविद्या के अध्येता को ऐसा मानकर श्रुति का अध्ययन करना होगा।

आत्मोपलब्धिस्थान होने के कारण "अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः" (कठ० २।३।१७) इत्यादि वचन कहे गए हैं। हृदयादि शब्द भी विभिन्न तात्पर्यों से कहे गए हैं, विवक्षा और प्रक्रिया को देखकर शब्दार्थ का निर्णय करना चाहिए। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि यतः शरीरात्मा

---

१. द्र० वेदवाणी, वर्ष ६, अङ्क १ में पं० युधिष्ठिर मीमांसक जी का लेख—'वेद प्रतिपादित आत्मा का शरीर में निवास स्थान'। वस्तुतः आयुर्वेद, योगविद्या, सांख्य, हठयोग आदि शास्त्रों की सहायता से अध्यात्मदृष्टि के अनुसार विचार करने से ही वेदमन्त्रों का प्रकृत तात्पर्य कुछ कुछ ज्ञात हो सकता है।

(प्रत्यगात्मा) की उपलब्धि हृदयाश्रित होकर ही करनी पड़ती है, और हृदय भी शरीर-प्रतिष्ठ है, अतः 'अन्ने हृदयं निधाय प्रतिष्ठितः' आदि श्रौत मत उपपन्न होते हैं। आत्मा शब्द का अर्थ अनेक स्थलों पर महदात्मा (=महत् तत्त्व) है, अतः हृदय में परमानन्दमय महदात्मध्यान विहित हुआ है। हृदय ही इस ध्यान के लिये प्रशस्त है, क्योंकि हृदय में ही सुखबोध प्रतिफलित होता है।

कठउप० २।३।९ में जो "हृदा मनीषा मनसाऽभिक्लृप्तो य एतद् विदुर मृतास्ते भवन्ति" कहा गया है, वह भी सहेतुक है। मननशक्ति (मन) जब हृदयस्तर तक पहुँच कर मनन करती है (अभिक्लृप्तः) तभी आत्मसत्ता का अध्यवसाय होता है, अन्यथा वह यथार्थतः निश्चय नहीं कर सकता। मन का स्थान हृदय है (देहस्य मध्ये हृदयं स्थानं तत् मनसः स्मृतम्—हरिवंश १।४०।५३), अतः मन जब बाह्य उपरंजन का परित्याग कर अन्तर्मुख होगा, तब मननशक्ति हृदय तक उद्भासित करेगी और हृदय में उपहित आत्मा की सत्ता का बोध कराएगी। इसी दृष्टि से पौरुषसत्ता-निश्चयकारक मनन के विवरण में महाभारत के शान्ति-पर्व में बहुशः 'हृदा मनीषा मनसा' इत्यादि वाक्य कहे गए हैं। इस स्थिति में ही प्रकृत मनन होता है जिसमें संशय का लेश भी नहीं रहता।

हृदय-मन-प्राण-बुद्धि-शरीर आदि के कार्य अन्योन्य-सहायक हैं, अतः विवक्षा-भेद से या विशिष्ट प्रक्रिया को लक्ष्यकर हृदयादि के विषय में एक ही सत्य को अनेक रूप से कहा गया है। किसी-न-किसी सादृश्य को लेकर आरोप करने की शैली वेदादिशास्त्रों में प्रसिद्ध है (बहुभक्तिवादीनि हि ब्राह्मणानि), अतः पूर्वोक्त तथ्यों का अवधारणपूर्वक हृदय-मन-आदि-सम्बद्ध वचनों की व्याख्या करनी चाहिए।

: २९ :

हरिवंशपुराणोक्त चन्द्रविज्ञान

चन्द्र के विषय में आजकल सर्वत्र आलोचना हो रही है। चन्द्र का पश्चात् भाग—जो आज तक अप्रत्यक्ष था—अब प्रत्यक्ष हो गया है। हमारे पूर्वाचार्य यह जानते थे कि चन्द्र का पश्चात् भाग अप्रत्यक्ष है। न्यायमंजरी (आह्निक २) में जयन्त भट्ट ने अप्रत्यक्ष पदार्थ के उदाहरण में चन्द्रमा के पश्चात् भाग का उदाहरण दिया है—"न च कालस्य नास्तिता युक्ता पृथिव्यधोभागचन्द्रमः परभागवत्"।

चन्द्र के विषय में अनेक तथ्य हमारे पूर्वाचार्यों को ज्ञात थे। चन्द्र की गति, चन्द्ररश्मि की प्रकृति, चन्द्र-समुद्र-सम्बन्ध, चन्द्रकलावृद्धि, चन्द्र से विभिन्न पार्थिव पदार्थों का सम्बन्ध आदि-आदि अनेक विषयों पर पूर्वाचार्यों के ग्रन्थों में अनेक बातें मिल जाती हैं[1]। इन बातों का अध्ययन तथा परीक्षण अत्यन्त आवश्यक है। ज्योतिष के ग्रन्थों में जो विवरण है, उससे यहाँ कुछ प्रयोजन नहीं है। ज्योतिष के अतिरिक्त इतिहास-पुराणों में एवं वैदिक वाङ्मय में चन्द्रविद्या सम्बन्धी विवरण मिल जाता है।

इतिहास-पुराण में चन्द्रसम्बन्धी जो विपुल तथ्य है उसका प्रमाणीकरण करना सहज कार्य नहीं है। पाठकों की सुविधा के लिये हम यहाँ केवल हरिवंश (जो महाभारत का परिशिष्ट है) से चन्द्रविवरण का संकलन कर पाठकों का ध्यान इस ओर आकृष्ट करना चाहते हैं।

(क) हरिवंश में चन्द्र के कुछ विशिष्ट नाम एक स्थान पर संकलित हुए हैं। इन नामों में चन्द्रसम्बन्धी अनेक गुण ध्वनित हुए हैं। श्लोक ये हैं—

श्वेतभानुः हिमतनुः ज्योतिषामधिपः शशी।
अब्दकृत् कालयोगात्मा ईड्यो यज्ञरसोऽव्ययः॥
ओषधीशः क्रियायोनिः अम्भोनिधिरनुष्णभाक्।
शीतांशुरमृताधारः चपलः श्वेतवाहनः॥
(१।४६।७-८)

---

१. पुराणों के भुवनकोशप्रकरण के अन्त में जहाँ ग्रहादि का विवरण रहता है, वहाँ चन्द्रसम्बन्धी विशद विवेचन मिलता है।

ध्यान देना चाहिए कि यहाँ चन्द्र को समस्त ज्योतिष्कों का अधिपति एवं ओषधियों का स्वामी कहा गया है। इस पर अभी विचार किया जाएगा। अन्यान्य विशेषणों का स्थूल अर्थ यद्यपि स्पष्ट है, तथापि उस पर जो वक्तव्य है, वह यथास्थान कहा जाएगा।

(ख) इसी अध्याय में चन्द्र को 'ज्योतिषां चेश्वरेश्वरः' कहा गया है। (१।४६।३) अर्थात् सभी ज्योतिष्कों में जो श्रेष्ठ है, चन्द्र उसका भी ईश्वर (= अधिपति = अधिक शक्तियुक्त) है। हम जानते हैं कि सूर्य सब ज्योतिष्कों में श्रेष्ठ हैं, अतः चन्द्र के लिये ऐसा कहना क्यों संगत है, ऐसा प्रश्न हो सकता है। हरिवंश के टीकाकार नीलकण्ठ ने इस रहस्य का स्पष्टीकरण किया है। उनका कहना है कि सूर्य ही ज्योतिष्कों का ईश्वर है और चन्द्र सूर्य का भी ईश्वर है। यह कैसे सम्भव है, इसके लिये वे हेतु देते हैं कि जिस प्रकार पार्थिव दारु अग्नि का वर्धक है, उसी प्रकार चान्द्र जल सब आकाशीय ज्योतिर्मय पदार्थों (जिनका ईंधन अप् अर्थात् जल है) का वर्धक है, अतः चन्द्र को सूर्य का भी ईश्वर कहा गया है। तात्पर्य यह है कि सूर्य-तेज की वृद्धि के लिये चान्द्र जल ही अपेक्षित है, अतः चन्द्र एक प्रकार से सूर्य का भी स्वामी होता है। इस विषय में नीलकण्ठ ने एक श्रुतिवाक्य भी उद्धृत किया है—'चान्द्रमसा वाव सर्वाणि ज्योतींषि महीयन्ते' (तै० उप० १। ।२)।

नीलकण्ठ का यह मत वैज्ञानिक परीक्षण से संगत होता है या नहीं, इस पर अधिकारी विद्वान् को ध्यान देना चाहिए।

(ग) चन्द्र को अनेक पदार्थों का अधिपति माना गया है। हरिवंश० का श्लोक है—

द्विजानां वीरुधां चैव नक्षत्रग्रहयोस्तथा।
यज्ञानां तपसां चैव सोमं राज्येऽभ्यषेचयत् ॥
(१।४।२)

चन्द्र द्विज, लता, नक्षत्र, ग्रह, यज्ञ और तपों का अधिपति है। यह श्लोक प्रायः प्रत्येक पुराण में मिलता है। यहाँ यज्ञ का अर्थ 'यज्ञाधिष्ठात्री देवता' है, यह नीलकण्ठ ने कहा है। अन्यत्र इसी पुराण में कहा गया है—

ततस्तस्मै ददौ राज्यं ब्रह्मा ब्रह्मविदांवरः।
बीजौषधीनां विप्राणामपां च जनमेजय ॥
(१।२५।२०)।

इस प्रकार हम देखते हैं कि चन्द्र को ओषधि, लता, बीज, वृक्ष आदि का अधिपति कहा गया है। वृक्षादि की अपेक्षा ओषधि से चन्द्र का घनिष्ठ संबंध

माना जाता है। सोम (= चन्द्र) का जो तेज पृथिवी में पतित होता है, उसी से ओषधि की उत्पत्ति हुई है, यह भी इसी पुराण में स्पष्टतः कहा गया है—

तस्य यच् च्यावितं तेजः पृथिवीमन्वपद्यत ।
ओषध्यस्ताः समुद्भूताः तेजसा प्रज्वलन्त्युत ।।
(१।२५।१६) ।

यहाँ जो वृक्ष-ओषधि के अधिपति के[1] रूप में चन्द्र को माना गया है, इस तथ्य को कथा के रूप में भी पुराणों में चित्रित किया गया है। यह मारिषा की कथा है, जो हरिवंश में मिल जाती है। कथा यह है कि जब प्रचेताओं ने क्रुद्ध होकर वृक्षों का नाश करना शुरू कर दिया, तब वृक्षराज सोम आकर प्रचेताओं से कहा कि यह मारिषा नामक वृक्षों की कन्या है, जिसे आप लोग विवाह करें। मारिषागर्भ से दक्ष उत्पन्न हुए। यह कथा यद्यपि सामान्य दृष्टि से अर्थहीन प्रतीत होती है, पर इसका गम्भीर रहस्य है, जिसका सम्बन्ध चन्द्रविज्ञान से है। हरिवंशटीकाकार नीलकण्ठ ने इस रहस्य को खोल दिया है। उनका कथन इस प्रकार है—"वृक्षान् शोषयता वायुना तेषाम् सारांशो यथा स्वकारणे सौर-तेजसि प्रक्षिप्तः, एवं पार्थिवः सारांशः अम्मये सोमे प्रक्षिप्तः। एवं कन्यारूपं वार्क्षं रेतः सोमस्य गर्भे धृतमिति युक्तम्" (हरिवंश० १।२।४१) अर्थात् वृक्षरस-शोषणकारी वायु उस रस के जलमय सारांश को कारणभूत चन्द्र में निक्षिप्त करता है। इस प्रकार वृक्षरस को वृक्षकन्या की तरह कहा गया है। इस दृष्टि से वृक्षकन्या मारिषा को सोमगर्भ में स्थित भी कहा जा सकता है।

यहाँ नीलकण्ठ ने एक श्रुति वाक्य उद्धृत किया है, यथा—"वृष्टिर्वै वृष्ट्वा चन्द्रमसमनुप्रविशति इति श्रुतेरपि ओषधिसाररूपेण वृष्टेश्चन्द्रप्रवेशो गम्यते"; वृष्टि, ओषधि और चन्द्र का परस्पर गूढ़ सम्बन्ध है यह इससे सिद्ध होता है।

(घ) अब हम चन्द्रकलंक-सम्बन्धी विवरण की ओर आते हैं। हरिवंश० में कहा गया है—"लोकच्छायामयं लक्ष्म तवाङ्के शशसंज्ञितम्" (१।४६।५) चन्द्रकलंक वस्तुतः क्या है, यह यहाँ कहा गया है। नीलकंठ ने इसकी व्याख्या में कहा है कि लोकच्छाया का अर्थ भूमिप्रतिबिम्ब है। जैसे दर्पण में नयनरश्मि

---

१. चन्द्र ओषधियों का अधिपति है, परोक्षण से भी यह मत सिद्ध होता है। E. B. Nash, M. D. लिखते हैं कि चन्द्रोदय के बाद ओषधविशेष का प्रयोग अधिकतर फलदायी होता है। इस विषय का सप्रमाण विवेचन श्री सोमचन्द्र चट्टोपाध्याय महोदय ने The Economic Botany of India ग्रन्थ में किया है (पृ० १०-११)।

टकराती है और लौटकर ग्रीवास्थ मुख को दर्पणस्थ की तरह देखती है, उसी प्रकार नयनरश्मि चन्द्रमण्डल से टकराकर लौटती है और अत्यन्त दूरत्व के कारण अस्पष्ट रूप से देखती है। यह 'अस्पष्ट रूप से देखना' ही चंद्रकलंक है (१।४६।५ टीका)। यह मत परीक्षण से परीक्षणीय है।

हरिवंश० में अन्यत्र भी चन्द्रकलंक की बात आई है। श्लोक है—"तमृक्ष-योगानुगतं शिशिरांशुं द्विजेश्वरम्, जगच्छायाङ्कितततनुम्" (१।४४।२५)। नीलकण्ठ ने कहा है—"द्वेधाभूते रविरश्मिभिः अम्भयं शशिमण्डलं भास्यते। तत्र अधोमुखा रश्मयः पृथिवीं प्राप्य तत्रस्थेन महामण्यादितेजसा प्रतिस्रोतः प्रवर्तिताः चन्द्रमंडलमुत्प्लुत्य गच्छन्ति ते पार्थिवेन नीलिम्ना अनुरञ्जिता नीलमेव चन्द्रमंडलम् अवभासयन्ति, ततश्चन्द्रस्य जगच्छायाङ्कितततनुत्वं युक्तम्।" यह प्रकृत वैज्ञानिक दर्शन है या नहीं, इस पर अधिकारी विद्वान् को विचार करना चाहिये।

यहीं चन्द्र के लिए 'नैशस्य तमसः क्षयम्' (१।४४।२५) कहा गया है। चन्द्र भास्वर प्रकाशवाला कैसे होता है, इसका विचार भी नीलकण्ठ ने किया है।

(ङ) इसी प्रसंग में चन्द्र को जगत् का प्रथम अंश (जगतः प्रथमं भागम्) कहा गया है (१।४४।२७)। नीलकण्ठ कहते हैं कि जगत् अग्नि-सोमात्मक है और प्रथम जो अन्नात्मक भाग है, वह सौम्य (=सोमरूप) है। इसी दृष्टि में चन्द्र को केवल 'रस' भी कहा जाता है।

इन विषयों के स्पष्टीकरण के लिये वैदिक दृष्टि के अनुसार बहुत कुछ वक्तव्य है, जिसके लिये स्वतन्त्र निबन्ध अपेक्षित है।

(च) चन्द्र को हरिवंश० में जलनिधि (या अपांनिधि) कहा गया है। नीलकण्ठ ने इसकी उपपत्ति इस प्रकार की है—"मणियोग से चन्द्र जल का क्षरण करता है, जैसे सूर्य मणियोग से अग्नि का क्षरण करता है। अतः जैसे सूर्य को तेज का आश्रय कहा जाता है, उसी प्रकार चन्द्र को जल का निधि (आश्रय) कहा जाता है (१।२५।१९ टीका)।

(छ) चन्द्रसंयम सम्बन्धी एक योग विभूति का उल्लेख कर इस विवेचन की समाप्ति की जा रही है। हरिवंश० में कहा गया है—

सर्वं त्रिभुवनं राजन् लोकधर्मश्च शाश्वतः।
दृश्यते नारसिंहेऽस्मिन् यथेन्दौ विमलं जगत्। (३।४३।१४)।

नीलकण्ठ ने कहा है कि चन्द्रमण्डल में संयमपूर्वक चक्षुधारण करने से पूर्ण जगत् का दर्शन हो जाता है। चूँकि योग से इसका सम्बन्ध है, अतः इस विषय पर हम कुछ भी कहने के अधिकारी नहीं हैं। योगसूत्र (३।२७) में 'चन्द्रे ताराव्यूहज्ञानम्' कहा गया है।

: ३० :

इतिहासपुराण में हिमालयसम्बन्धी विशिष्ट उल्लेख

इतिहासपुराण तथा अन्यान्य शास्त्रों में हिमालय के विषय में कुछ ऐसी बातें मिलती हैं, जिनका अर्थ चाहे कितना ही साधारण प्रतीत हो, पर उन बातों के पीछे कुछ रहस्य अवश्य है, ऐसा अनुमित होता है। आज हम भले ही 'देवतात्मा' रूप हिमालय के विशेषण का प्रकृत तात्पर्य न समझ पाते हों, पर जिन लोगों ने प्राचीनकाल में हिमालय को 'देवतात्मा' 'देवरचित' आदि कहा था, वे निश्चयेन इन शब्दों के प्रकृत तात्पर्य को जानते थे। काल बीत जाने के बाद विशिष्टार्थक शब्दों का विवक्षित अर्थ अज्ञात हो जाता है और तब काल्पनिक व्याख्याएँ की जाती हैं, यह भाषाविज्ञान का एक प्रमाणित तथ्य है। हिमालय के विषय में भी ऐसी ही बात हुई है। यह भी ज्ञातव्य है, वर्णन की शैली युग-युग में विभिन्न-सी होती है। महाभारत की टीका में नीलकण्ठ ने कहा है कि पर्वतों के जो परिमाण दिए रहते हैं (पुराणादि में), प्रकृत परिमाण उनसे कई गुणा कम होता है (भीष्म० गत भुवनकोश व्याख्या)। फिर यह भी सोचना चाहिए कि जिस दृष्टि से उस समय के विद्वानों के द्वारा हिमालय आदि के परिमाण कहे गए हैं, वह दृष्टि भी हम लोगों को ज्ञात नहीं है। यही कारण है कि इतिहासपुराण में वर्णित हिमालयसम्बन्धी तथ्य बहुत कुछ अतिरंजित या अवास्तव जान पड़ते हैं। इतना होने पर भी हमें इन उल्लेखों के रहस्यों पर ध्यान देना चाहिए और जो सार सत्य निकले, उसका उपयोग कर अपने को समृद्ध बनाना चाहिए। इसी दृष्टि से प्रणोदित होकर यह प्रकरण लिखा जा रहा है।

हिमालय का तीर्थरूप—हिमालय को पुराणों में तीर्थ कहा गया है (कूर्म० १।३५।१३) तथा कहीं-कहीं उसको एक पुण्यस्थान भी माना गया है (वही १।३१।४६)। मत्स्य० में हिमालय को एक दिव्य पर्वत कहा गया है (१६९।५), और वायु० कहता है कि पूरा हिमालय पुण्यमय है (७७।११७)।

हिमालय का आधारकाष्ठ रूप—महाभारत के कर्णपर्व में लिखा है कि त्रिपुरदाह के समय हिमवान् और विन्ध्य रुद्र के रथ में आधारकाष्ठ बने थे (३४।२२)। आज यह वाक्य अर्थहीन जान पड़ता है पर इस वचन का

गूढ़ रहस्य है, यह विवेचकों को जानना चाहिए। त्रिपुरदाह कोई मानवीय इतिहास की घटना नहीं है, यह निश्चित ही कोई आधिदैविक (या आध्यात्मिक) घटना है। यदि त्रिपुरदाहरूप आधिदैविक घटना का प्रकृत स्वरूप ज्ञात हो जाय तो 'रुद्ररथ' का स्वरूप भी ज्ञात होगा और तब 'हिमालय रथ का आधार काष्ठ कैसे बना' इसका स्पष्टीकरण भी हो जाएगा। प्रसंगतः हम कह देना चाहते हैं कि हरिवंश की टीका (३।१३३ अ०) में नीलकण्ठ ने त्रिपुरदाह का आध्यात्मिक स्वरूप दिखाया है। अतः यह मानना संगत है कि इसकी कोई आधिदैविक व्याख्या भी हो सकती है। आधिदैविक व्याख्या से हिमालय पर्वत की प्राचीनता और उसकी व्याप्ति भी स्पष्ट हो जाएगी, ऐसी आशा है। संभवतः यह कोई पार्थिव उथल-पुथल मचानेवाली घटना है, जिसके साथ हिमालय और विन्ध्य का संयोग था।

रत्नों का स्थान हिमालय—महाभारत के अश्वमेध पर्व में कहा गया है कि मरुत्तराजा ने जो यज्ञ किया था, उस यज्ञ के स्वर्णादि-धन का बहुत बड़ा अंश हिमालय में ब्राह्मणों ने छोड़ दिया था (३।२०-२१)। अश्व० ३-१० अध्याय तक मरुत्तयज्ञकथा वर्णित हुई है। इस कथा से पता चलता है कि प्रचुर स्वर्ण का संग्रह मरुत्त राजा ने किया था, और उस अपिरिमित स्वर्ण का एक बहुत बड़ा भाग हिमालय में कहीं रखा गया था। यद्यपि इस कथा से यह पता नहीं चलता कि हिमालय के किस अंश में यह स्वर्णराशि रखी गई थी, तब भी यह प्रसिद्धि है कि आधुनिक तिब्बत के अंशविशेष में यह स्वर्णराशि है। अनुसन्धान करने पर इस स्थान से प्रचुर स्वर्ण आज भी मिल सकता है।

हिमालय में 'कुबेर भवन' है ऐसा पुराणों में बारम्बार कहा गया है। कुबेर यक्षों का अधिपति है और यक्षों का सम्बन्ध रत्नों से है, यह इतिहासपुराण में प्रसिद्ध है। इन उल्लेखों से यह सिद्ध होता है कि हिमालय के स्थानविशेष में रत्नों की प्रचुरता है। तिब्बतस्थ 'ल्हासा' को 'स्वर्णमय नगर' कहने की परम्परा है, अंग्रेजों ने भी ऐसा कहा है, अतः तिब्बत में स्वर्ण आदि रत्नों की सत्ता है, ऐसा अनुमित होता है।

गुह्यक जाति की रत्नप्रियता प्रसिद्ध है। वस्तुतः यक्षों में जो निधिप्रिय होते हैं, वे गुह्यक कहलाते हैं—"निधिं रक्षन्ति ये यक्षा : ते स्यु र्गुह्यकसंज्ञकाः (व्याडिकोश; यह कोष लुप्त है, पर यह वचन त्रिकाण्डचिन्तामणि पृ० १३ में उद्धृत है)। कैलास को 'कुबेर वसति' कहा जाता है, अतः यह स्थान निश्चित ही रत्नप्रचुर होगा। यदि प्रचलित तिब्बत प्राचीन यक्षस्थान सिद्ध हो जाय, तो

हमारा अनुमान सत्य निकलेगा। स्फटिकादि-रत्नों के प्रसंग में हिमालयस्थ स्थानविशेषों का उल्लेख पुराणों में मिलता है (जैसा आगे दिखाया जाएगा), अतः 'रत्नमय हिमालय' का अनुसन्धान हमें करना चाहिए। धनाध्यक्ष यक्षराट् कुबेर के रत्नादि का वर्णन वायु० ४१ अ० में द्रष्टव्य है।

पुराणों में बहुधा यह कहा गया है कि आदि राजा पृथु को हिमालय ने अक्षय धन अर्पित किया था। (पृथु की कथा वेद में भी है)। शान्ति० ५९।११८ में भी ऐसा ही कहा गया है। पृथु की घटना अत्यन्त प्राचीन काल की है और यह अनुमित होता है कि हिमालय में रत्नों की प्रचुरता को देख कर ही यह कल्पना की गई थी। हिमालय की रत्नमयता बहुत प्रसिद्ध है, जो हिमालय के विभिन्न विशेषणों से ज्ञात होती है। कालिदास को भी यह तथ्य ज्ञात था—तभी उन्होंने कहा—"भास्वन्ति रत्नानि महौषधीश्च पृथूपदिष्टां दुदुहु र्धरित्रीम्" (कुमारसम्भव के आरम्भ में)।

हिमालयगत रत्नसम्बन्धी कथा—रत्नों के विषय में आख्यात्मक निर्देश भी मिलता है। महाभारत में एक कथा आई है कि भृगु ने हिमालय को शाप दिया था अब तुम रत्नों के आगार नहीं रहोगे (शान्ति० ३४२।६२)। महाभारत कार कहते हैं कि आज भी महर्षि भृगु का यह वचन हिमवान् पर ज्यों-का-त्यों लागू हो रहा है—"अद्यप्रभृति एतदवस्थितमृषिवचनं तदेवंविधं माहात्म्यं ब्राह्मणानाम्" (३ २।६३)। विचारकों को यह वाक्य बहुत सावधानी से देखना चाहिए। क्या इसका यह तात्पर्य है कि पहले हिमालय में रत्न बहुत सुलभ थे और बाद में किसी प्राकृतिक कारण से रत्नों का मिलना दुरूह हो गया, जिस स्थिति को लक्ष्य कर पुराणकारों ने अपनी धारणा के अनुसार उपर्युक्त कथा की कल्पना की। यह घटना पार्वती-स्वयंवर से सम्बन्ध रखती है, अतः इसका प्रकृत तात्पर्य अन्वेष्य है। हम पुनः यह कह देना चाहते हैं कि शिव, पार्वती आदि से संबद्ध ये घटनाएँ स्थूल ऐतिहासिक विषय नहीं हैं, बल्कि कहीं आधिभौतिक और कहीं आध्यात्मिक तथ्य की ज्ञापक हैं। यह कथा किसी आधिभौतिक घटना को लक्ष्य करती है, ऐसा प्रतीत होता है।

हिमालयस्थ विष—कुछ लोग 'हालाहल विष' को अभारतीय समझते हैं। हम अभी इस पर विचार नहीं करते, पर यह सूचना देना आवश्यक समझते हैं कि श्रीधर स्वामी ने विष्णुपुराण की टीका में कहीं से एक श्लोक उद्धृत किया है (१।१५।१५४ श्लोक की टीका में), जिसमें हिमालयगत 'हलाहला' नदी के तट में इस विष की उत्पत्ति कही गयी है—

हलाहला नाम नदी हिमवत्यतिभोषणा ।
विषं तत्तीर-संभूतं हालाहलमिहोच्यते ॥

विष भी अनेक रोगों को दवा होता है, यह सभी जानते हैं। साँप के विष से एक ऐसी दवा बनती है जो मरणासन्न प्रसूति स्त्री को दी जाती है। इसके आविष्कार से हमारे विषशास्त्र (Toxicology 'अगदतन्त्र') की उन्नति होगी, ऐसी आशा है। अनेक आयुर्वेदज्ञ ऋषि हिमालय में रहते थे; यह तथ्य भी सिद्ध करता है कि हिमालय औषधियों का आकर स्थान है; पुराणों में भी हिमालय को बहुधा 'ओषधिप्रस्थ' कहा गया है। गङ्गा का मूलस्थान भी हिमालयगत कोई 'भेषजपूर्ण स्थान' है, ऐसा वृद्धों से हमने सुना है; अधिक सामग्री मिलने पर इस विषय में विशद विचार किया जा सकेगा।

हिमालयस्थ पशु आदि—मार्कण्डेय पुराण में कहा गया है—"हिमवान् वाहनं सिंहं रत्नानि विविधानि च" (८२।२८) अर्थात् हिमालय पर्वत ने देवी को विविध रत्न और वाहन सिंह दिया। यह वाक्य भी सिद्ध करता है कि हिमालय में सिंह और रत्नों की प्रचुरता है।

हिमालयस्थ रत्नों (स्वर्णादि धातु और मणि मरकत आदि रत्न) की प्रचुरता के विषय में पुराणों के निर्देश बहुत ही स्पष्ट हैं। हिमालयस्थ पशु और वृक्षादि की सूचियाँ भी पुराणों में यत्र-तत्र मिल जाती हैं। पुराणगत हिमालयवर्णन के कुछ स्थलों के निर्देश यहाँ किए जा रहे हैं, जिनसे अनुसन्धित्सु पाठक उन स्थलों को देख कर हिमालयसंबन्धी अपने ज्ञान को विशद कर सकते हैं।

मत्स्यपुराण—११७ अ०–११९ अ०;
वायुपुराण—३६–४२ अ० में स्थान-स्थान पर;
विष्णुपुराण—२।२–३ अ० में स्थान-स्थान पर;
ब्रह्माण्डपुराण—१।१५–१८ अ० में स्थान-स्थान पर;
लिङ्गपुराण—१।४७–५२ अ० में स्थान-स्थान पर;
ब्रह्मपुराण—१८–२० अ० में स्वल्प विवरण;
भागवतपुराण—५।१६–१९ अ० में स्थान-स्थान पर;
मार्कण्डेयपुराण—५५–५६ अ० में स्वल्प वर्णन;
कूर्मपुराण—१।४५–४८ अ० में स्थान-स्थान पर;
महाभारत-वनपर्व—१०८।३-११; १७८ अ० (हिमालयस्थ नाना स्थान)

उपर्युक्त स्थलों के अतिरिक्त अन्यान्य स्थलों में भी हिमालयसम्बन्धी सूचनाएँ मिल जाती हैं। स्कन्दपुराण, देवीभागवत, शिवपुराण तथा कुछ

अन्य उपपुराणों में भी हिमालय-परक विशिष्ट सामग्री है, विशेषज्ञों को जिसका अध्ययन करना चाहिए। यह सामग्री इतनी अधिक हैं कि केवल स्कन्दपुराणगत विवरण के आधार पर एक छोटा-सा ग्रन्थ बन सकता है।

हिमालय का मानदण्डरूप—हिमालय को 'पृथिवी का मानदण्ड' कहा गया है। यह वर्णन कोई कल्पनामात्र नहीं है, बल्कि प्राकृतिक इतिहास से इसका समर्थन होता है। श्री गुरुपद हालदार जी ने लिखा है—"भूतत्त्ववित् पण्डित कहते हैं कि विश्व के प्रधान-प्रधान पर्वतसंस्थान हिमालय के शाखाविशेष ही हैं। इस पर्वतमाला की एक शाखा ककेसस् है, और दूसरी शाखा करपेथियन-आल्पस्-पिरनिज होकर उसकी पूर्व दिशा में स्थित अतलान्तिक महासागर में पहुँच गई है। इसकी एक अन्य शाखा अलटाई, इयाब्लोनाई होकर उसकी पश्चिम दिशा में स्थित प्रशान्त महासागर में प्रविष्ट हुई है। भूतत्त्व के विद्वान् हिमालय के शिवालय पर्वतस्तर (ग्रन्थकार हालदारजी ने इसको मेनकागिरि-श्रेणी कहा है) को देख कर पृथिवी का वयस निश्चित करते हैं (सनत्सुजात ग्रन्थ की व्याख्या का परिशिष्ट, पृ० ३११, बँगला ग्रन्थ)।

अब पुराणकारों का पर्यवेक्षण देखिए। वायु० कहता है—(हिमवान् पर्वत को लक्ष्यकर)—

अर्णवादर्णवं यावत् पूर्वपश्चायतेऽचले (४१।२८)

अर्थात् हिमालय एक अर्णव से दूसरा अर्णव तक पूर्व-पश्चिम में स्थित है। हिमालयसम्बन्धी कितना असाधारण पर्यवेक्षण है! इस प्रसंग में अन्य पुराणों में हिमालय को 'समुद्रान्तःप्रविष्ट' कहा गया है; इस पर भी विद्वानों का ध्यान आकृष्ट होना चाहिए। हिमालय और कैलास के विषय में मार्कण्डेय० का यह वचन बहुत ही सारवान् है—

कैलासो हिमवांश्चैव दक्षिणेन महाचलौ।
पूर्वपश्चायतावेतावर्णवान्तर्व्यवस्थितौ ॥ (५४।२४)

हिमालय की प्राचीनता—हिमालय की स्थिति बहुत ही गम्भीर और प्राचीन है। सम्भवतः इसी तथ्य को लक्ष्य कर गीता में "स्थावराणां हिमालयः" (१०।२५) कहा गया है। शिखरियों (=शिखरयुक्तों) में मेरु श्रेष्ठ है—गीता के इस द्वितीय वचन से निश्चित ही यह ज्ञात होता है कि स्थिति की दृढ़ता और अन्तर्व्यवस्थान की दृष्टि में हिमालय सर्वश्रेष्ठ है। यदि ऐसा कोई भेद न माना जाय, तो गीता का यह भेदपूर्वक कथन का निरर्थक ही होगा।[1]

---

१. हिमालय को पर्वतों के ईश के रूप में अभिषिक्त करने का कारण (मत्स्य० ८।६) भी यही प्रतीत होता है।

हिमालय का आकार—हिमालय के आकार के विषय में पुराणों में निश्चित कथन मिलता है। कूर्म० कहता है—"योजनानां सहस्राणि साशीतिस्त्वायतो गिरिः" (२।३७।४७) अर्थात् पर्वत का विस्तार १०८० योजन है। अन्यान्य पुराणों में भी ऐसी बात लिखी है। विष्णु० की टीका में श्रीधर स्वामी ने कहा है—"हिमवत्-शृङ्गिणौ च एकाशीतियोजनसहस्रप्रमाणौ" (२।२।११)। स्वामी ने यह भी बताया है कि यह प्रमाण यथार्थ नहीं है, आसन्न (Approximate) है, और इस विषय में उन्होंने वराहपुराण का साक्ष्य उद्धृत किया है (द्वीपस्य मण्डलीभावाद् ह्रासवृद्धी प्रकीर्तिते)।

हिमालय सीमाकारक पर्वत—भौगोलिक दृष्टि से हिमालय को एक वर्षपर्वत माना गया है (विष्णु० २।२।१०), पर कहीं-कहीं इसको 'मर्यादा-पर्वत' भी कहा गया है, जैसा श्रीधर स्वामी ने विष्णु० की टीका में कहा है—"भारतं वर्षमारभ्य मेरोर्दक्षिणोत्तरतः स्थितानां षण्णां वर्षाणां मर्यादापर्वतानाह हिमवान् इति" (२।२।१०)। यह मर्यादापर्वत क्यों कहलाता है, इसके लिये स्वामिपाद ने युक्ति दी है—"एतेषां हिमवदादिमर्यादयावस्थितानां भारतादीनाम्" (२।२।१४ विष्णु० टीका) अर्थात् भारतादि देश की मर्यादा (सीमानिर्णय) हिमालय आदि से निश्चित होती है, इसलिये यह मर्यादा-पर्वत है। स्वामी ने वर्षपर्वत कहने का हेतु भी कहा है—"वर्षाणां व्यवच्छेदकाः पर्वताः"—यतः विभिन्न वर्षों को पृथक् करनेवाले ये पर्वत हैं, अतः ये वर्षपर्वत कहलाते हैं। सीमा की दृष्टि से 'मर्यादापर्वत' और व्यवच्छेदक होने के कारण 'वर्षपर्वत'—इस प्रकार एक ही पर्वत के दो विशेषण हो जाते हैं। स्वामी ने स्पष्टतया हिमालय को 'मर्यादागिरि' कहा है (२।२।३७ टीका)।

हिमालय के विशिष्ट विशेषण—हिमालय के वर्णन में अनेक सार्थक विशेषण पुराणों में मिलते हैं, यथा—'नानाधातुविभूषित' (कूर्म० २।३७।४६), अनेक प्रस्रवणों से युक्त (मार्कण्डेय० ६१।६१), बर्फ से ढँका हुआ (मार्क० ६१।५५) इत्यादि। मत्स्यपुराण (अ० ३११७) में हिमालय के जो सार्थक विशेषण दिए गए हैं, हम उनमें से कुछ यहाँ उद्धृत कर रहे हैं—

(१) मेघोत्तरीयक (मेघ जिसका उत्तरीय वस्त्र की तरह है); (२) शिला-विकट-संकट; (३) तपस्विशरण; (४) आकाशचुम्बी और पाण्डुर शिखरों से युक्त; (५) चन्दनलिप्तअंग; (६) तमसावृत; (७) भयंकर दरीमुखों से युक्त; (८) रत्नवान्; (९) अदीनजनसेवित; (१०) प्रपातनिर्झरयुक्त; (११) हिमसंरुद्धकन्दर; (१२) देवचरित।

हिमालयप्रस्थ—पुराणों में 'हिमालयप्रस्थ' शब्द का बहुशः प्रयोग मिलता है (वामन० ८२।२०) और कहीं-कहीं हिमभूभृत्प्रस्थ शब्द भी प्रयुक्त हुआ है (मत्स्य० १५४।२१९) । हिमालय को 'ओषधिप्रस्थ' भी कहा गया है (वामन० ५२।१५) । प्रस्थ = पर्वत की समभूमि (प्रतिष्ठतेऽस्मिन् समभूभागत्वात्—अमरकोषोद्घाटन २।३।४) ।

हिमवत्प्रस्थ की तरह 'हिमवत्पृष्ठ' शब्द का भी प्रयोग है (हिमवत्पृष्ठं सिद्धसेवितम्–कूर्म० १।१४।२५) । लिंगपुराण में भी यह शब्द है (१।२४।६९) । अट्टहास गिरि हिमवत् पृष्ठ पर है (लिंग० १।२४।९६) । हिमवत् पृष्ठ में नन्दादेवी का अधिष्ठान है, यह मत्स्य० में कहा गया है (१३।३०) । दक्ष ने अपना यज्ञ हिमवत्पृष्ठ में किया था, यह वायु० कहता है (३०।९४) । वामन० में हिमवत्पृष्ठ को 'समशिलातल' कहा गया है (६०।८) ।

हिमालय के शिखर—हिमवान् का शृंग या शिखर पुराणों में बहुधा वर्णित है। शैलराजपुरी किसी शृंग पर है, यह वामन० में कहा गया है (५२।१५) । लिंग० में भृगुतुंग तीर्थ को शृंगस्थ कहा गया है (१।२४।४८-४९) । राजा पुरूरवाः ने यहीं पर सिद्धिलाभ किया था, यह मत्स्य० में उक्त हुआ है (२४।११) । शैलजा का यह तपस्यास्थान है (मत्स्य० १५४।३०१-३०२) । हिमालय का शिखर टंकाच्छन्न है, यह वामन में कहा गया है (५४।११) । वामन० में हिमाद्रिशिखर को ओषधिप्रस्थ कहा गया है (५२।१५) ।

हिमालयस्थ विशिष्ट स्थान—हिमालय में ऐसे अनेक विशिष्ट स्थान हैं जो किसी-न-किसी ऋषि, अवतार आदि के स्थान हैं, ऐसा पुराणों में सर्वत्र दिखाया गया है। यहाँ 'नरनारायणस्थान' है (वामन० २।४३) । सुषुम्णा नाम की पुष्करिणी यहाँ है (कूर्म० १।३७।४७) । प्रसिद्ध देवदारुवन (महादेव-लीलास्थल) यहाँ विद्यमान है (लिंग० १।३१।२७-२८) । लिंग० में कितने ही व्यासों का उल्लेख है, जिनके स्थान इस पर्वत में कहीं-न-कहीं हैं (१।२४ अ०) । गंगाद्वार (कनखल) भी यहीं है (लिंग० १।१००।६-७) । दक्ष यज्ञ यहीं हुआ था। इस प्रकार अनेक विशिष्ट स्थानों को धारण कर यह पर्वत स्थित है।

हिमालय के द्रोणियों का उल्लेख भी पुराणों में आता है, जो "एतेषां शैलमुख्यानामन्तरेषु यथाक्रमम्। स्थाल्योऽह्यन्तरद्रोण्यश्च'—इस वाक्य से जाना जाता है (वायु० ३६।३३) । स्कन्द० में हिमवद्द्रोणी शब्द आया है (केदार० २१।२) ।

द्रोणी की तरह 'कुक्षि' शब्द भी इस प्रसंग में आता है। शरवण हिमवत्-कुक्षि में है, यह वायु० में कहा गया है (७२।३२)।

कुक्षि की तरह हिमालय के सानुओं का उल्लेख भी मिलता है। मार्क० में 'अतिमनोज्ञानि सानूनि हिमभूभृतः' (६१।२०) कह कर हिमवत्-सानुओं की चारुता कहीं गई है। उसी प्रकार हिमालयीय उपवनों का उल्लेख मिलता है (मत्स्य० १५४।२७३)। हिमालयपर्वत के अभ्याश देशों का उल्लेख भी वायु० में है (८८।१८७)। (अभ्याश = पर्श्वस्थ)।

हिमालय मेरु के दक्षिण में है, (विष्णु० २।२।१०; वायु० ३६।२४-२५) तथा यह पूर्व-पश्चिमदिग्व्यापी है (वायु० ३५।९)--यह सभी पुराणों का मत है।

पुराणों में हिमालय के अनेक नाम दिए गए हैं, यथा—हिमवत् (= हिमवान्), हिमाचल, तुहिनाचल, तुहिनगिरि, हिमसाह्वय (वामन० ४।१८) हिमाह्वय आदि। हिम या तुहिन से इस पर्वत का अच्छेद्य संबन्ध है, यह स्पष्ट है।

: ३१ :

पुराणोक्त भौगोलिक शब्द और उनके अर्थ

भौगोलिक शब्दों के प्रयोग में पुराणों में बहुत सावधानी रखी गई है। जान पड़ता है कि प्राचीन काल में ऐसे शब्दों के निश्चित पारिभाषिक अर्थ थे और बाद में इन सूक्ष्म अर्थों का सांकर्य हो गया है। प्रचलित कोशों में जिन शब्दों को समार्थक मानकर पढ़ा गया है, पुराणों में वे शब्द अपने पारिभाषिक अर्थों के अनुसार प्रायेण प्रयुक्त हुए हैं। हम विशेषार्थ का दर्शन न कर उन स्थलों में पुनरुक्ति दोष की कल्पना कर सकते हैं, जो हमारी ही अज्ञता होगी। इस प्रकरण में ऐसे कुछ स्थलों का उपन्यास किया जा रहा है, कोशानुसारी जहाँ कोषीय दृष्टि से समार्थक शब्दों का एकत्र प्रयोग किया गया है, ऐसा प्रतीत होता है, पर भूगोल-विद्या के अनुसार वे शब्द वस्तुतः समार्थक नहीं हैं।

यहाँ यह भी जानना चाहिए कि कोशों में भी कहीं-कहीं अर्थ-भेद दिखाए गए हैं, पर व्यवहार में प्रायेण उन शब्दों को समार्थक मानकर प्रयोग किया जाता है।[1]

पर्वत-गिरि-शैलादि—पर्वत से सम्बन्धित शब्दों के अर्थों में जो भेदपूर्वक प्रयोग किए गए हैं, उनका उल्लेख पहले किया जा रहा है। भूगोल-विद्या में पर्वत मुख्य हैं, क्योंकि पर्वतों के कारण ही पृथ्वी स्थिर है—ऐसा पुराणकारों ने कहा है—"यैर्धृतत्वान् न चलति सप्तद्वीपवती मही" (वायु० ३५।११)। पुराण में पृथ्वी की कल्पना पद्मरूप से की गई हैं और पर्वत को पद्म का सारभूत

---

१. अमरकोशटीका में क्षीरस्वामी ने कोशकार-संगृहीत शब्दार्थ के विषय में मूल्यवान् सूचना दी है, यथा—"पदस्वरतालावधानात्मकं····गीतं, प्रावेशिक्यादिध्रुवारूपं गानमिति भरताद्युक्तो विशेषो नाश्रितः" (१।५।२८); पीडा, कष्ट आदि शब्दों के अर्थों में भी विशेष है, पर सर्वत्र कोशों में भेदपूर्वक अर्थनिर्देश नहीं किया गया है। वनौषधिवर्गगत पर्यायशब्द-व्याख्या में एक स्थान पर स्वामी कहते हैं—"दुर्गाद्यास्तु अवान्तरभेदं न मन्यन्ते" (२।४।१६)।

अंश की तरह माना गया है, (मत्स्य० पद्मोद्भव प्रक०)। पृथ्वी के सात द्वीपों का वर्षों में जो विभाग पुराणों में किया गया है, उन वर्षों का व्यंजक पर्वत ही है, जैसा कि पुराणों में ही कहा गया है—"पर्वता वर्षान्तव्यञ्जकाः" (मार्क० ५९।६७ तथा विष्णु० २।४।२५)।

पुराणों में ऐसे वर्णन प्रायः मिलते हैं, जहाँ गिरि, पर्वत, शैल, अचल आदि शब्द एक वाक्य में हो प्रयुक्त हुए हैं। ऐसे प्रयोग स्पष्टतया प्रमाणित करते हैं कि इनमें कुछ-न-कुछ भेद अवश्य किया गया था। कुछ उदाहरण लीजिए—

वायु० कहता है कि पृथ्वी अनेक गिरि और पर्वतों से पूर्ण है तथा शैलों से सुशोभित है (४१।७७)। विष्णु० के एक वाक्य में 'केसराचल' और 'केसर पर्वत' का उल्लेख है (२।२।२६-२७)। वायु० में कहा गया है कि पृथ्वी में एक सौ आठ महाशैल तथा आठ वर-पर्वत हैं (४२।८१)। पुराणों का यह भेदपूर्वक व्यवहार प्रमाणित करता है कि पर्वत, शैल, गिरि आदि में कुछ-न-कुछ विलक्षणता अवश्य रही होगी।

केवल इतना ही नहीं, इससे भी स्पष्टतर उल्लेख इन सबों के भेद के विषय में मिलते हैं, यथा—

विष्णु० में एक वाक्य में शैल और क्षुद्रशैल का पृथक् उल्लेख है (२।४।११-१२), जो इन दोनों के भेद का ज्ञापक है। तथैव वायु० में शैल से पृथक् गण्डशैल का उल्लेख है (४२।५६)। मार्क० ५९।२५ में अनुपर्वत और कूर्म० १।१।११० में अनुगिरि शब्द हैं।

वायु० में पर्वतों को लक्ष्य कर किसी को 'पर्वत' और किसी को 'गिरि' कहा गया है—"इत्येते पर्वतवरा अन्ये च गिरयस्तथा" (३६।२०)। यह स्थल स्पष्ट ही इन दोनों में भेद का प्रतिपादन करता है (लिंग० १।४९।१३ भी द्र०)।

वायु० एक वाक्य में, शैल, महाशैल और वर पर्वत का उल्लेख करता है (४२।८१)। उसी प्रकार इसमें स्वल्पोपजीवी ह्रस्व-पर्वतों का भी उल्लेख है (११४।१९)। विष्णु० में क्षुद्रशैल का उल्लेख हैं (२।४।१२ ; मार्कण्डेय० ५९।५ में क्षुद्रपर्वत)। अवस्थिति को लक्ष्यकर 'परस्पर निरन्तर पर्वत' वाक्य मार्क० ५४।२२ में उक्त हुआ है।

पुराणों में तीन प्रकार के प्रसिद्ध पर्वत माने गए हैं—'मर्यादापर्वत' 'कुल-पर्वत' तथा 'वर्षपर्वत'। पौराणिक वर्णनों से पता चलता है कि इन तीनों में स्पष्ट भेद था। इस प्रकार के उल्लेख पुराणों में प्रायः आते हैं। उपर्युक्त प्रयोगों से सूचित होता है कि पर्वत, गिरि, अचल शिलोच्चय, क्षुद्रशैल, ह्रस्वपर्वत, गण्डशैल,

महाशैल, मर्यादापर्वत, कुलपर्वत, वर्षपर्वत, अनुपर्वत आदि के विशिष्ट लक्षण थे (भौगोलिक शास्त्र की दृष्टि में)। इन भेदों के ज्ञान के विना पुराणीय वर्णनों का यथार्थ रहस्य ज्ञात नहीं हो सकता। प्रचलित कोशग्रन्थ इसमें अल्प ही सहायक होते हैं।[1]

गुहा-कन्दरादि—दरी-कन्दर, गुहा-गह्वर आदि शब्द समार्थक माने जाते हैं, पर पुराणों में एक वाक्य में ही इन सबों का उल्लेख है, जो इनके अर्थों में भेद की सूचना देता है। निम्नोक्त उदाहरणों को देखिए—

स्कन्दपुराणीय अरुणाचल० में 'गुहा-गह्वरान्ता मुनयः' कहा गया है (२।५४); यहाँ गुहा और गह्वर एकत्र पठित हैं।

वामन० में कन्दर, गह्वर, गुहा का एकत्र प्रयोग है (५।५२)। वायु० (४१।२७) में गुहा और दरी का एक स्थान में प्रयोग है। तथैव कन्दर-दरी-गुहा भी एकत्र है (वायु० ४५।२२-२३)। वायु० (३२।८) में 'दरी-अलंकृत' और 'कन्दरोदरशोभित' एकत्र विशेषणरूप में पठित हैं। वायु० ७७।११९-२० में कन्दर-गुहादि शब्द एकत्र पठित हैं।

इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि इन शब्दों के अर्थों में विशेष है। कोषों में भी कहीं-कहीं इनके भेद दिखाए गए हैं।

नदी और नद—साधारणतया इन दो शब्दों को समानार्थक समझा जाता है, पर पुराणों में कितने ही ऐसे स्थल हैं, जहाँ इन दोनों का एक वाक्य में उल्लेख है, जिससे सूचित होता है कि इनमें कुछ-न-कुछ भेद अवश्य रहा होगा। यहाँ कुछ उदाहरण उपन्यस्त हो रहे हैं—

नदीभिश्च नदै र्युता (लिंग० १।४८।१४);
नदी-नद·····(लिंग० १।४८।३४; १।५१।३१);
नाना-नद-नदी-शैला धरा (वायु० ५०।३)।
नदा नद्यः सरांसि च (मत्स्य० १२२।३५)
नदीनदतटाकानां तीरेषु (लिंग० १।५१।३१)

क्या इन उदाहरणों से यह सूचित नहीं होता कि इन दोनों में भौगोलिक शास्त्र की दृष्टि में कुछ भेद अवश्य था ?

नदी की तरह 'क्षुद्रनदी' शब्द भी आया है। (लिंग० १।५२।१२; कूर्म० १।४९।८)। उसी प्रकार 'उपनदी' (वायु० ३४।२; मत्स्य० ११४।३४) और

---

१. अमरकोश में गिरि-शिलोच्चय-पर्वत को समार्थक माना गया है (२।३।१), पर पुराणों में इन तीनों के पृथक्-पृथक् लक्षण दिए गए हैं।

'महानदी' शब्द भी मिलते हैं (वायु० ४२।२०)। पुराणों में नदी की संख्या भी दी हुई है। स्कन्दपुराण में कहा गया है—"सहस्रविंशतिश्चैव षट्शतानि तथैव च" (कुमारिका० ११।५०)। पर यह गणना किस पद्धति से की गई है तथा कहाँ तक प्रामाणिक है, यह विचारणीय है।

नदीसम्बन्धी पुराणीय विवरणों में यह निर्देश भी मिलता है कि दो नामवाली नदियों में प्रत्येक नाम का अधिकार-क्षेत्र कहाँ से कहाँ तक है। स्कन्दपुराण में गंगा और मन्दाकिनी का पार्थक्य माना गया है (अरुणाचल० १५।७ ; १५।१७)। उसी प्रकार यमुना और कालिन्दी का पार्थक्य भी मिलता है (पद्म आदि० २९।४६-४७ इस प्रसंग में विचार्य है)।

समुद्र-अर्णव आदि—पौराणिक विवरणों से यह भी पता चलता है कि समुद्र, सागर, अर्णव, उदधि आदि भी सर्वथा समान नहीं हैं। सागर की विभिन्न अवस्थाओं को लक्ष्य कर ये नाम रखे गए हैं, भूसृष्टि-विद्या के ज्ञान के विना जिनके स्वरूप की उपपत्ति करना कठिन है। पुराण में एक स्थल पर सागर का परिमाण भी दिया गया है—"स एव सागरो देवी योजनायुतविस्तृतः, अष्टाशीति-सहस्रं वै योजनानां प्रकीर्तितम्" (प्रभास माहात्म्य० १।११५।६)। इस परिमाण की यथार्थता पर अधिकारी विद्वान् को विचार करना चाहिए।

इस प्रकार समुद्र और सिन्धु में भी भेद माना गया था, ऐसा ज्ञात होता है। मत्स्य० कहता है, 'समुद्रादिव सिन्धवः' (५।७; द्र० लिंग० १।६३।७)। नदी के अर्थ में सिन्धु का प्रयोग भी पुराणों में है।

वन-काननादि—पुराणकारों ने वन और कानन में कुछ भेद किया होगा, क्योंकि इन दोनों का एकत्र पाठ मिलता है। वायु० में पृथ्वी के विशेषण में 'सशैल-वन-कानना' कहा गया है (४१।८०), जहाँ वन और कानन एकत्र हैं। अमरकोश में ये दो समार्थक हैं।

कुञ्ज और निकुञ्ज—एक वाक्य में इन दोनों का प्रयोग पुराण में मिलता है। एक पर्वत-विशेष के विशेषण में एक स्थल पर 'निकुञ्जशोभित' तथा 'कुञ्जशोभित' विशेषण आए हैं (वायु० ३५।४-६), अतः इन दोनों में कुछ भेद था, यह ज्ञात होता है। अमरकोश में ये दो समार्थक हैं।

द्वीप, वर्ष आदि—द्वीप, वर्ष आदि से सम्बन्धित शब्दों के अर्थों में भी कुछ भेद किया गया था, यह निम्नोक्त उदाहरणों से स्पष्ट होता है। वायु० ४१।८६ में पृथ्वी के विशेषणभूत शब्दों में 'द्वीप' और 'महाद्वीप' शब्द आए हैं।

पुराणों में क्षुद्रद्वीप आदि शब्द की तरह द्वीपपर्व शब्द भी आया है (वायु० ४८।१२)। उपद्वीप शब्द का प्रयोग देवी भाग० में है (८।११।३०-३२)। अनुद्वीप शब्द लिंग० में है (४९।१)। वायु० ४८।१० में अन्तरद्वीप शब्द है।

द्वीपसंबद्ध ये विभिन्न शब्द निःसंशयरूप से प्रमाणित करते हैं कि प्राचीन आचार्यों ने भूगोल-विद्या पर सूक्ष्मेक्षिका से विचार किया था, अन्यथा शब्द-प्रयोग में इतनी विचित्रता नहीं होती।

भूमि-विभाग के लिये पुराणों में जो वर्ष-शब्द है, उसका लक्षण वायु० ४९।१२५-१२६ में मिलता है। वर्ष के स्थान पर 'खण्ड' आदि कुछ अन्य शब्द भी प्रयुक्त हुए हैं। निश्चित ही ये भूगोलविद्या के पारिभाषिक शब्द हैं। असम्भव नहीं कि वर्ष और खण्ड में भी कोई भेद माना गया हो।

देश-जनपद-राष्ट्र-विषय आदि—पुराणों में ऐसे अनेक स्थल हैं, जहाँ प्रशासनिक शब्दों का एकत्र प्रयोग मिलता है। प्रायः कोशों में इन शब्दों को पर्यायों की तरह पढ़ा गया है, पर पौराणिक प्रयोगों से इनके अर्थवैशिष्ट्य का ज्ञान हो जाता है। पुराण में इन पदार्थों के लक्षण नहीं मिलते, पर इनमें कुछ भेद था, यह प्रतीत होता है।

पृथ्वी के विवरण में वायु० में यह वाक्य है—"नानाजनपदाकीर्णा नानाधिष्ठानपत्तना" (५०।२), यहाँ अधिष्ठानादि शब्द अपने विशिष्ट अर्थों में प्रयुक्त हुए हैं, यह स्पष्ट है।

पुराणों में राष्ट्र, विषय आदि शब्द कभी-कभी एक ही पदार्थ के लिये आते हैं। उत्कल के लिये 'उत्कल राष्ट्र' या 'उत्कला' (पुरी) प्रयोग पुराणसम्मत है। गान्धार देश के लिये 'गान्धार विषय' शब्द मुख्य रूप से आता है। 'कोशला राज्य' और 'कोशलराष्ट्र' शब्द एक ही देश के लिये प्रयुक्त हैं। ऐसे स्थलों में शब्दप्रयोग में जो भिन्नता है, वह सकारण है, यह जानना चाहिये। हमें यह भी देखना होगा कि किसी काल में किसी शब्द का प्रयोग नियत था या नहीं। इससे ऐतिहासिक कालक्रम पर भी पर्याप्त प्रकाश पढ़ने की आशा है। पुराणों को देखने से यह ज्ञात होता है कि कभी-कभी किसी देश के साथ कोई शब्द नियत भी रहता था, जैसे पाञ्चाल देश के लिये 'पाञ्चाल विषय' शब्द मुख्यतया प्रयुक्त हुआ है। कभी-कभी एक नगर के नाम के लिये उसके पर्यायों का भी प्रयोग मिलता है, जैसे 'हस्तिनापुर' के लिये 'नागसाह्वय'।

इन्द्रप्रस्थ के लिये शक्रपुर शब्द भी व्यवहृत हुआ है (उद्योग० ३०।४७ ज्ञानदीपिका)।[1]

तीर्थ-क्षेत्र आदि—कहीं-कहीं तीर्थ और क्षेत्र का भेदपूर्वक निर्देश मिलता है—"नयामि सर्वतीर्थेषु क्षेत्रेषु च"(नागर० १३२।३३)। तथैव वामन० १२।४८ में कहा गया है–"क्षेत्रेषु यद्वत् कुरुजाङ्गलं वरं तीर्थेषु यद्वत् प्रवरं पृथूदकम्"। इन वचनों से निश्चयेन ज्ञात होता है कि तीर्थ और क्षेत्र में भेद था।

उपर्युक्त शब्दों के अर्थ—अब हम इन शब्दों के अर्थों के विषय में सामान्यतया कुछ पुराणवचनों का निर्देश करने जा रहे हैं। पर्वतादि के जो लक्षण पुराणादि में कहे गए हैं, उनके विवक्षित तात्पर्य का निर्धारण करना दुरूह है, अतः अर्थों की समीक्षा करना सम्भव नहीं होगा। भूगोलविद्या के अधिकारी विद्वान् यदि इस ओर ध्यान दें तो इन वचनों का बहुत दूर तक स्पष्टीकरण हो सकता है। पर्वत, नदी, तीर्थ आदि के विशिष्ट लक्षण हैं, इसे दिखाना मात्र इस प्रकरण का अभिप्राय है।

पर्वतसंबन्धी शब्द—वायु० में पर्वत आदि के लक्षण इस प्रकार कहे गए हैं—

स्कन्नाचलत्वादचलाः पर्वभिः पर्वताः स्मृताः।
गिरयोऽद्भिर्निगीर्णत्वात् शयनाच्च शिलोच्चयाः॥

(८।११।१२)। वायु० ४८।१३२ में "अपर्वाणस्तु गिरयः पर्वभिः पर्वताः स्मृताः" कहा गया है।

यहाँ अचल, पर्वत, गिरि तथा शिलोच्चय के शास्त्रीय अर्थ कहे गये हैं। लिंग० में "तदाचलत्वादचलाः····गिरयो हि निगीर्णत्वात्" (१।७०।१३५) पाठ है; मत्स्य० में 'पर्वबन्धाच्च पर्वताः' है (१२३।२५)। अन्य पुराण में भी ऐसे पाठ मिलते हैं (इस प्रकरण में पुराणों के मुद्रित पाठ यथावत् रखे गए हैं)।

अचलों की उत्पत्ति कैसे हुई, इस पर वैज्ञानिक विवेचन लिंग० में मिलता है (७०।१३२-१३४)। यह विवरण पारिभाषिक-शब्द-बहुल है, अतः अधिकारी

---

१. भूमिविभाग से सम्बन्धित 'प्रदेश', 'विषय' आदि अनेक शब्द इतिहास-पुराण में हैं, जिनके लक्षण पुराणों में नहीं मिलते। कुछ शब्द इस प्रकार हैं—विषय (विष्णु० ४।१८।१-२, वायु० ८६।२४, अग्नि० २७२।११-१२, विष्णु० ४।१४।१); जनपद (वायु० ९९।३३, ५०।२); पत्तन (वायु० ५०।२); देश (मत्स्य० १२।२८); राष्ट्र (वायु० ८५।१९); पुरी (वायु० ८६।२४, मत्स्य० १२।१६-१७); मण्डल (मत्स्य० १३।४०)।

विद्वानों की इसकी व्याख्या करनी चाहिए। मार्कण्डेय आदि पुराणों में भी ऐसे पाठ मिलते हैं।

पर्वतों के अवान्तर भेदों के लक्षण ये हैं—

वर्षपर्वत—प्रत्येकवर्ष का व्यंजक पर्वत वर्ष पर्वत कहलाता है (विष्णु० २।४।२५)।

कुलपर्वत—श्रीधर स्वामी ने 'कुलाचलाः मुख्याः पर्वताः' कहा है (विष्णु० २।२।५४)।

मर्यादापर्वत—श्रीधर स्वामी के अनुसार यह भी वर्षपर्वत ही है। विष्णु० (२।२।१०) में हिमवान् आदि पर्वतों को वर्षपर्वत कहा गया है और इसकी व्याख्या में स्वामी कहते हैं—

'षण्णां वर्षाणां मर्यादापर्वतानाह हिमवानिति। वर्षाणां व्यवच्छेदकाः पर्वताः'।

देवी भाग० में मर्यादापर्वत के लिए 'मर्यादां व्यञ्जयन्ति ते' कहा गया है (८।५।१०)।

क्षुद्रपर्वत—मार्कण्डेय० में इसको 'कुलाचलों की प्रसूति' माना गया है (पञ्चैते तु कुलाचलाः, तेषां प्रसूतिरन्ये ये बहवः क्षुद्रपर्वताः—५।९।४)। 'प्रसूति' का ठीक तात्पर्य क्या है, यह विचार्य है।

द्रोणी—"शिलानामन्तरे द्रोण्यः" (विष्णु० २।२।४५)। श्रीधर कहते हैं—"द्रोण्यो दरीविशेषाः"।

विष्कम्भपर्वत—विष्णु० (२।२।१६) तथा मार्कण्डेय० (५४।१९) में इसका उल्लेख है। विष्णु-टीकाकार स्वामी ने कहा है—"विष्कम्भा दाढर्थार्थमीश्वरेण रचिताः, अन्यथा मूलभागादूर्ध्वभागस्य द्विगुणविस्ताराद् गौरवेण भङ्गप्रसङ्गः" (विष्णु० २।२।१६)।

नदीनदकुल्यादिशब्द—पुराणकारों ने जल-प्रवाह के चार स्थूल भेद किए हैं—कुल्या (अल्प जलाशय, नाला), क्षुद्रनदी, नदी और महानदी। लम्बाई के परिमाण के अनुसार इनके भेद किए गए थे। स्कन्दपुराणान्तर्गत रेवाखण्ड में परिमाणज्ञापक एक श्लोक इस प्रकार है—

षड्योजनवहा कुल्या नद्योऽल्पा द्वादशैव च।
चतुर्विंशतिगा नद्यो महानद्यस्ततोऽधिकाः॥

अर्थात् ६, १२, २४ और उससे अधिक योजनपरिमाण यथाक्रम 'कुल्या' 'अल्पनदी,' 'नदी' और 'महानदी' के हैं। महानदियों की एक सूची ब्रह्मपुराण में मिलती है, जिसमें १२ महानदियों की गणना है—गोदावरी, भीमरथी, तुंगभद्रा, वेणिका, तापी, पयोष्णी, भागीरथी, नर्मदा, यमुना, सरस्वती, विशोका और वितस्ता।

इस विषय में आचार्य एकायन का मत तीर्थप्रकाश में उद्धृत है, यथा—

कुल्याः षड्योजनं यान्ति द्वादश क्षुद्रसंज्ञिताः।
प्रवहन्ति नदीसंज्ञा श्चतुर्विंशतियोजनम्।
प्रवहन्त्यस्ततोऽप्यूर्ध्वं महानद्यः प्रकीर्तिताः॥

यह मत पूर्व मत से पूर्णतः मिलता है। पुराणों का यह मत काल्पनिक नहीं है, क्योंकि यह देखा जाता है कि नदियों के निर्देश में 'महानदी,' 'क्षुद्रनदी' आदि शब्दों का पृथक्-पृथक् व्यवहार है।

नदी-सम्बन्धी अन्य पदार्थों के लक्षण इस प्रकार हैं—

नदीतीर—'सार्धहस्तशतं यावद् गर्भतस्तीरमुच्यते' (ब्रह्माण्ड पुराण)।

अर्थात् नदी-गर्भ से डेढ़ सौ हाथ पर्यन्त स्थान 'तीर' कहलाता है।

नदीगर्भ—'भाद्रकृष्णचतुर्दश्यां यावदाक्रमते जलम्।
तावद् गर्भं विजानीयात् तदन्यत् तीरमुच्यते।' (ब्रह्माण्ड पुराण)

अर्थात् भाद्रकृष्णचतुर्दशी में जल जहाँ तक प्रवाहित रहता है, वह नदी का गर्भ माना जाता है, उसके अतिरिक्त तीर कहलाता है।

नदीक्षेत्र—'तीराद् गव्यूतिमात्रं तु परितः क्षेत्रमुच्यते।' (ब्रह्माण्ड पुराण)

अर्थात् तीर से गव्यूति (दो क्रोश) परिमाणस्थान नदी-क्षेत्र कहलाता है। भट्टोजि ने इस वाक्य का यह अर्थ किया है—

'तटयोः प्रत्येकं क्रोशद्वयाख्यं गङ्गायां क्षेत्रम्' (त्रिस्थलीसेतु पृ० ३९)।

क्षेत्रसीमा—एकयोजनविस्तीर्णा क्षेत्रसीमा तटद्वयात् (भविष्य पुराण)।

अर्थात् दोनों तटों से एक-एक योजन विस्तीर्ण स्थान क्षेत्र सीमा कहलाता है।[1]

गर्त—छन्दोगपरिशिष्ट में इसका लक्षण इस प्रकार मिलता है—

धनुः सहस्राण्यष्टौ च गतिर्यासां न विद्यते।
न ता नदीशब्दवहा गर्तास्ते परिकल्पिताः॥

---

१. पूर्वोक्त सब श्लोक गंगा से सम्बन्धित हैं, पर हम समझते हैं कि अन्य नदियों पर भी ये मत लागू हो सकते हैं। इस विषय पर पर्याप्त सामग्री मिलने पर ही कुछ निर्णय किया जा सकेगा।

अर्थात् जिनकी गति आठ सहस्र धनुः पर्यन्त नहीं होती, वे नदी नहीं, बल्कि गर्त कहलाते हैं गर्त = अकृत्रिमक्षेत्रविशेष (त्रिस्थलीसेतु पृ० १७)।

स्वल्प नदी—मत्स्य पुराण के अनुसार इसका लक्षण है—

यावन्नोदेति भगवान् दक्षिणाशाविभूषणः।
तावद् रजोवहा नद्यः करतोयाः प्रकीर्त्तिताः॥

यहाँ 'करतोया' का अर्थ स्वल्पतोया है (द्र० त्रिस्थलीसेतु, पृ० १६)। नदियों का यह रजस्वलाभाव धर्मशास्त्र में भी स्वीकृत है। इस विषय में व्याघ्रपाद का मत यह है—

सिंहकर्कटयोर्मध्ये सर्वा नद्यो रजस्वलाः।
तासु स्थानं न कुर्वीत वर्जयित्वा समुद्रगाः॥

समुद्रादि-सम्बन्धी शब्द—पुराणों में समुद्र, अर्णव आदि पदार्थों के कुछ लक्षण मिलते हैं, जिनसे समुद्र को विभिन्न अवस्थाओं पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। वैज्ञानिक दृष्टि से इन पर विचार अपेक्षित है।

उदधि—मत्स्य० में इसका लक्षण है—"दधनाच्चोदधिः स्मृतः" (१२३।३५)। अन्यत्र "उदकस्थाधानं यस्मात् तस्मादुदधिरुच्यते" (वायु० ४८।१३२) कहा गया है।

समुद्र—"अपां चैव समुद्रेकात् समुद्र इति संज्ञितः" (मत्स्य० १२३।२८; वायु० ४९।१२४)। समुद्रेक का अर्थ स्पष्टीकरणीय है।

द्वीप—'द्विरापत्वात् स्मृतो द्वीपः' (मत्स्य० १२३।३५; वायु० ४९।१३२) यह प्रायः सभी पुराणों में कहा गया है। जिसकी दोनों ओर जल है, वह द्वीप है, पर यह व्याख्या संदिग्ध है, क्योंकि द्वीप को 'मण्डलाकार' कहा गया है (द्वीपस्य मण्डलीभावात्–मत्स्य०, वायु० आदि)। इस समस्या के समाधान के लिये विद्वानों को चेष्टा करनी चाहिए।

उपद्वीप—देवीभागवत में इसका उल्लेख है। उदाहरण से लक्षण स्पष्ट हो जाएगा, ऐसा समझकर सम्बद्ध श्लोक यहाँ उद्धृत किए जा रहे हैं—

जम्बूद्वीपस्य चाष्टौ हि उपद्वीपाः स्मृताः परे।
हयमार्गान् विशोधद्भिः सागरैः परिकल्पिताः॥
स्वर्णप्रस्थश्चन्द्रशुक्र मावर्तनरमाणकौ।
मन्दरोपाख्यहरिणः पाञ्चजन्यस्थतथैव च।
सिंहलश्चैव लङ्केति उपद्वीपाष्टकं स्मृतम्।

(८।११।३०-३२)

यहाँ उपद्वीप के लिये 'अन्य महान् द्वीप से सम्बद्ध होना', और 'सागरस्थ'—ये दो परिचायक विशेषण द्रष्टव्य हैं।

पुण्यस्थान सम्बन्धी शब्द—तीर्थ, क्षेत्र आदि शब्द इस विभाग में आते हैं। इनके यादृश लक्षण पुराणों में मिलते हैं, वे यहाँ यथावत् संकलित किए जा रहे हैं। पुण्यस्थान पाँच प्रकार के माने गए हैं—

'श्मशानमूषरं पीठं क्षेत्रं च वनमेव च'

(अवन्ती क्षेत्र० १।४१)

श्मशान—इसका लक्षण प्रसिद्ध है।

ऊषर—'मृताः पुन र्न जायन्ते तेनेदमूषरं स्मृतम्' (वही १।३१), अर्थात् जहाँ मरने पर जन्म नहीं होता, वह पुण्यस्थान ऊषर कहलाता है।

पीठ—यस्मात् स्थानं च मातृणां पीठं तेनैव कथ्यते (वही १।३०), अर्थात् देवियों के स्थान पीठ कहलाते हैं।

क्षेत्र—क्षीयते पातकं यत्र तेनेदं क्षेत्रमुच्यते (वही १।३०), अर्थात् जहाँ पाप का क्षय होता हो, वह क्षेत्र है।

तीर्थ—'सद्भिः समाश्रितो भूमिभाग स्तीर्थस्तयोच्यते' (कुमारिका० ११।११)। इस ग्रन्थ में तीर्थसम्बन्धी जो प्रकरण है, उसमें तीर्थसंबद्ध विवरण द्रष्टव्य है।

गर्भगृह—तीर्थ के अन्तर्गत वह महत्त्वपूर्ण स्थान, जहाँ लिंग का अधिष्ठान है। इस पर विशिष्ट विचार स्कन्दपुराण में द्रष्टव्य है (प्रभास क्षेत्र० ४।१२-१७)।

: ३२ :

इतिहास पुराण में ग्राम

इतिहास-पुराण में ग्राम संबन्धी मूल्यवान् सामग्री प्राप्त होती है। शान्तिपूर्ण जीवनयापन के लिये ग्रामवास सहायक है, पूर्वाचार्यों की ऐसी मान्यता थी। इसी दृष्टि से महाभारत में 'एवं ग्रामे मुनिश्चरेत्' कहा गया है। यहाँ ग्रामसंबन्धी एक सामान्य विवरण उपनिबद्ध हो रहा है।

पुराणों में तीन पुण्यमय ग्रामों का उल्लेख मिलता है (सात महान् पुरियों की तरह)। इस विषय में यह श्लोक प्रसिद्ध है—

सप्त पुर्यस्त्रयो ग्रामा नवारण्या नवोषराः।
चतुर्दशानि गुह्यानि मुक्तिद्वाराणि भूतले॥
(अवन्ती क्षेत्र० ४५।१३)

ये तीन ग्राम कौन-कौन हैं, ऐसा प्रश्न हो सकता है। इस पुराण में ही अन्यत्र इसका विवरण मिलता है। नागर० में कालग्राम, शालग्राम और नन्दि-ग्राम—इन तीनों को 'ग्रामत्रय' कहा गया है (१८९।१७-१८)।

इसके अतिरिक्त अन्य कुछ विशिष्ट ग्रामों का उल्लेख भी मिलता है, यथा 'कलापग्राम'। यह हिमालय के पास है। यहाँ अनेक महर्षि और राजर्षियों ने तप किया था, यह कहा गया है। पुराणों में शम्भलग्राम का उल्लेख भी मिलता है, जहाँ कल्कि का अवतार होगा (भाग० १२।२।१७-१८)।

पुराणों में ग्रामादि के कुछ लक्षण भी कहे गए हैं। ग्राम, पत्तन, घोष, इत्यादि शब्दों का एकत्र प्रयोग पुराणों में मिलता है, जिससे सिद्ध होता है कि इन शब्दों का निश्चित अर्थ है। वायु० ९४।४० तथा ९५।१० में ऐसा प्रयोग उपलब्ध होता है।

भागवत की व्याख्या में श्रीधरस्वामी ने ग्राम का लक्षण दिया है—"ग्रामाः हट्टादिशून्याः" (४।१८।३१)। यहाँ उन्होंने पुर, पत्तन, खेट, खर्वट का भी लक्षण दिया है[1]। ग्राम का एक सुन्दर लक्षण मार्कण्डेय० में मिलता है, यथा—

---

१. पुरः हट्टादिमत्यः। ता एव महत्यः पत्तनानि।
घोषान् आभीराणां निवासान्। व्रजान् गवां निवासान्।
खेटाः कर्षकग्रामाः। खर्वटाः पर्वतप्रान्तग्रामाः।

तथा शुद्रजलप्राया सुसमृद्धकृषीवला ।
क्षेत्रोपभोगभूमध्ये वसतिर्ग्रामसंज्ञिता ॥ (४९।४७)

इस लक्षण से यह पता चलता है, कि ग्राम में शुद्ध जनता, उत्कृट कृषि की व्यवस्था, उर्वर क्षेत्र (खेत) आदि होते हैं। कितनी उदात्त स्थिति है ! मार्कण्डेय पुराण में इसी स्थान पर पुर, खेट और खर्वट का भी निर्देश किया गया है, जिन पर विचार यथास्थान द्रष्टव्य है।

पुराण में ग्राम को इकाई (यूनिट) मानकर देशविभागसम्बन्धी विचार भी किया गया है। इस विषय का प्रमाण सह्याद्रिखण्ड में मिलता है, जहाँ ग्राम-संख्या के अनुसार देश, मण्डल आदि का लक्षण दिया गया है। श्लोक इस प्रकार है—

शतग्रामो भवेद्देशो देशश्चत्वारि मण्डलम् ।
शतमण्डलं भवेत् खण्डं....(उत्तरार्ध, ४ अ०; श्लोक का पाठ ईषत् भ्रष्ट है।)

यहाँ देश, मण्डल और खण्ड के मूल में ग्राम की सत्ता मानी गयी है।

ग्रामों के नामकरण के विषय में स्कन्दपुराण में एक असाधारण तथ्य मिलता है। ब्रह्मखण्ड में कहा गया है—

यस्मिन् ग्रामे निवासी यो यत्संज्ञश्च वणिग् भवेत् ।
तस्य ग्रामस्य तन्नाम ह्यभवत् पृथिवीपते ॥

(२३।४७)। अर्थात् जिस ग्राम में जो वणिक् रहता है, उस ग्राम का नाम उस वणिक् के नाम के अनुसार पड़ जाता है। हम ऐसे कुछ ग्रामों को जानते हैं, जहाँ यह नियम चरितार्थ होता है। विद्वानों को इस नियम पर विचार करना चाहिए।[1] इस उल्लेख से समाज में वैश्यजाति की प्रतिष्ठा का अनुमान लगाया जा सकता है।

---

१. इस श्लोक के विषय में कुछ वक्तव्य है। 'यत्संज्ञश्च वणिक्' का तात्पर्य विचार्य है। क्या यहाँ संज्ञा का अर्थ 'व्यक्तिनाम' ही है? ऐसा मानने पर यह भी मानना होगा कि अनेक वणिकों में जो प्रसिद्धतम होता था, बाद में उसके नाम के अनुसार ग्राम का नाम पड़ जाता था। इसका यह अर्थ भी हो सकता है कि ग्रामवासी वणिक् (=ग्रामस्थ वैश्यगण) की जो संज्ञा (अर्थात् कुलज्ञापक उपाधि) है, तदनुसार बाद में ग्राम का नाम पड़ जाता था। बिरादरी और कुलों के नाम के अनुसार स्थानों का नामकरण इस देश में सर्वत्र दृष्ट होता है।

पुराणों में मानव समाज की उस अवस्था का प्रसंग भी आया है, जब समाज में ग्राम, पुर, दुर्ग आदि की सुष्ठु व्यवस्था नहीं थी (न पुरग्रामदुर्गाणि तदासन्)। यह भी कहा गया है कि वैवस्वतमन्वन्तर में ग्राम आदि की व्यवस्था हुई थी। पुराण का यह विवरण आधुनिक गवेषणा से भी सत्य ठहरता है, पर जिस काल में ऐसी अवस्था थी, उसकी सत्ता पौराणिक गणना के अनुसार बहुत ही प्राचीन सिद्ध होती है, जो शायद वैज्ञानिकों को मान्य न होगा। हम चाहते हैं कि इस पर ऊहापोह पूर्वक विचार हो। पाठकों के ज्ञानार्थ हम यहाँ ब्रह्म० ४।९१–९३ से प्रासंगिक श्लोकों को उद्धृत कर रहे हैं—

न हि पूर्वविसर्गे वै विषमे पृथिवीतले।
संविभागः पुराणां वा ग्रामाणां वाऽभवत् तदा॥
न शस्यानि न गोरक्ष्यं न कृषि र्न वणिक्पथः।
वैवस्वतेऽन्तरे तस्मिन् साम्प्रतं समुपस्थिते॥
वैन्यात् प्रभृति भो विप्राः सर्वस्यैतस्य सम्भवः।

ऐसा उल्लेख मत्स्य० १०।३२ और विष्णु० १।१३।८२–८३ में भी है।

ग्राम एवं तदनुरूप जनवसतियों का विवरण पुराणों में बहुत्र मिलता है। मार्क० में कहा गया है—

पुरं च खेटकं चैव तद्वद् द्रोणीमुखं द्विजाः।
शाखानगरकं चापि तथा खर्वटकं त्रयी॥
ग्रामसंघोषविन्यासं तेषु चावसथान् पृथक्। (४९।४२–४३)।

खर्वट और ग्राम के लक्षण ये हैं—

एकतो यत्र तु ग्रामो नगरं चैकतः स्थितम्।
मिश्रं तु खर्वटं नाम नदीगिरिसमाश्रयम्॥
विप्राश्च विप्रभृत्याश्च यत्र चैव वसन्ति ते।
स तु ग्राम इति प्रोक्तः शूद्राणां वास एव च॥

(भृगुकृत ये श्लोक विष्णु० की श्रीधरी टीका १।६।१८ में उद्धृत हैं; यहाँ नगर का लक्षण भी दिया गया है)।

पुराणों में ग्राम्य ओषधियों (आरण्य ओषधि के साथ) के नाम दिए गए हैं (विष्णु० १।६।२१–२६; मार्क० ४९।६६–७२)। ग्राम्य का अर्थ है—कृषि-साध्य (विष्णु० १।६।२२ की श्रीधरी टीका)।

पुराणों में ग्राम की सीमा का नाश करने वाले को पापी कहा गया है (प्रभासक्षेत्र० ३२७।७६। इस निर्देश का तात्पर्य स्पष्ट है।

अब ग्रामसंबन्धी महाभारतोक्त कुछ विशिष्ट स्थलों का संकलन किया जा रहा है ।

सभापर्वान्तर्गत नारदप्रश्नाध्याय (५ अ०) की टीका में नीलकंठ ने ग्राम का लक्षण दिया है—'शूद्रजनबहुल जनपद', पर यह बात सर्वथा संगत नहीं जान पड़ती क्योंकि इस अध्याय में जिस प्रकार के श्लोक मिलते हैं उनसे यही पता चलता है कि ग्राम 'कृषि प्रधान जनपद' ही होता था । कृषि वैश्यकर्म है ।

इसी अध्याय में नारद के प्रश्न में जो कुछ कहा गया, उससे यह भी ज्ञात होता है कि ग्रामों की उन्नति करना राजाओं का एक आवश्यक कर्त्तव्य माना जाता था । नारद का मनोभाव स्पष्ट है कि 'ग्राम की उन्नति से ही नगर की उन्नति होती है ।' उनके उपदेश में 'कृषकों को सन्तुष्ट रखना' (५।७७), 'कृषि के लिये तालाब आदि बनाना' (५।७८), 'किसान के द्वारा सुरक्षित बीज का रक्षण' (५।७९) इत्यादि बातें आई हैं, जिनसे उपर्युक्त बात प्रमाणित होती है ।

इसी अध्याय में यह भी उपदेश दिया गया है कि 'प्रांतों को ग्राम की तरह देखना चाहिए ।' आरण्यक व्यक्ति ग्राम के बाहर छोटी-छोटी पल्ली का निर्माण कर निवास करते थे । इन वासस्थानों को प्रांत कहा जाता है । श्लोक इस प्रकार है—

कच्चिन् नगर-गुप्त्यर्थं ग्रामा नगरवत्कृताः ।
ग्रामवच्च कृताः प्रान्ताः ते च सर्वे त्वदर्पणाः ॥
(सभा० ५।८२)

तात्पर्य है कि नगरों की रक्षा के लिये गाँवों को भी शूरवीर से सुरक्षित करना चाहिए । सीमावर्ती गाँवों को भी अन्य गाँवों की तरह सुविधा देनी चाहिए तथा ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए कि प्रांत, ग्राम और नगर से कर के रूप में धन यथावत् आ जाय ।

महाभारत में स्थानों की जो विभाजन-रीति कही गई है वह इस प्रकार मालूम पड़ती है । जनपद को कुछ ग्रामों में विभक्त किया जाता था । प्रत्येक गाँव के एक-एक प्रतिनिधि निर्वाचित होते थे । उन अधिपतियों (अनेक ग्रामों के) के परिचालक के रूप में एक विशिष्ट अधिकारी नियुक्त होते थे ।

महाभारत में 'गणमुख्य' शब्द है (शांति० १०७।२३) । सम्मानार्ह व्यक्ति गणमुख्य होते थे ऐसा इस श्लोक में कहा गया है । इस व्यक्ति का निर्वाचन आधुनिक रीति (वोटिंग) से नहीं होता था पर चरित्र और विद्या के उत्कर्ष के कारण प्रधिनिधित्व का अधिकार मिलता था । महाभारत में 'गणमुख्यता' को

लेकर किसी प्रतिद्वन्दिता का उल्लेख नहीं मिलता। इसी से पता चलता है कि उस समय गाँव के निवासी कितने शिक्षित और सभ्य होते थे कि अपने प्रतिनिधि के निर्वाचन में कोई विवाद उत्पन्न नहीं होता था। ग्रामप्रतिनिधि ही गणमुख्य हैं।

इन गणमुख्यों के विषय में कुछ विशिष्ट बातें महाभारत में मिलती हैं (शांति० १०७।२३-२७)। यहाँ के निम्नोक्त श्लोक द्रष्टव्य हैं :—

लोकयात्रा समायत्ता भूयसी तेषु पार्थिव।
गणमुख्यैस्तु संभूय कार्यं गणहितं मिथः॥ इत्यादि

यहाँ के श्लोकों से पता चलता है कि गुणमुख्यों को राजसभा में सम्मान मिलता था और राजशासन में भी उनका हाथ था। राजा गणमुख्यों से भी परामर्श करते थे और गणमुख्यों में विवाद उत्पन्न होने से राजा ही उस विवाद का समाधान करते थे।

ऐसा पता चलता है कि गणमुख्य से अतिरिक्त ग्रामशासक के रूप में एक 'ग्रामाधिपति' का भी नियोग होता था। शांति० में इस विषय में यह श्लोक आया है :—

ग्रामस्याधिपतिः कार्यो दशग्राम्यस्तथापरः।
द्विगुणायाः शतस्यैवं सहस्रस्य च कारयेत्॥
(८७।३)

इस श्लोक का तात्पर्य यह है कि पहले प्रत्येक गाँव के एक 'अधिपति' का नियोग होता था। ऐसे दश 'अधिपति' (दस गाँवों के) की परिचालना के लिये एक 'अधिपति' का नियोग किया जाता था। उसी प्रकार बीस गाँव के लिये एक 'अधिपति' के नियोग का नियम है। इस प्रकार शतगाँव और सहस्र गाँव के अधिपति का नियोग किया जाता था।

इन अधिपतियों का विशिष्ट कार्य क्या है, इस विषय में यह कहा गया है—

ग्रामे यान् ग्रामदोषांश्च ग्रामिकः प्रतिभावयेत्।
तान् ब्रूयाद् दशपायासौ स तु विंशतिपाय वै॥
(शांति० ८७।४)

तात्पर्य यह है कि गाँव में यदि कोई दोष (चौर्य आदि) उत्पन्न हो जाय तो ग्रामिक 'ग्रामाधिपति' स्वयं उसका समाधान करेगा। यदि उनसे न हो तो दशग्रामाधिपति को वे सूचना देंगे और वे यदि असमर्थ हो जायँ तो विंशति-ग्रामाधिपति को सूचना देनी पड़ेगी। ८७।५वें श्लोक में यह भी कहा गया है

कि अन्ततोगत्वा यह विषय राजा के पास विचारार्थ जाएगा, पर किसी भी परिस्थिति में 'सूचना को क्रमिकता' को भंग नहीं किया जा सकता।

इन ग्रामशासकों की वृत्ति किस रूप से चलती थी, इस विषय में यह श्लोक मिलता है—

यानि ग्राम्यानि भोज्यानि ग्रामिकस्तानुपाश्रियात्।
दशपस्तेन भर्तव्यस्तेनापि द्विगुणाधिपः॥
(शांति० ८७।६)

तात्पर्य यह है कि ग्राम में जो वस्तु उत्पन्न होती थी, उसका कुछ अंश ग्रामवासी ग्रामाधिप को देते थे। यह अंश 'राजा का अंश' समझा जाता था। इस प्रकार ग्रामाधिप दशग्रामाधिप की वृत्ति की व्यवस्था करते थे और वे पुनः विंशतिग्रामाधिप की व्यवस्था करते थे।

एक अन्य व्यवस्था की बात भी इसी प्रसंग में आई है यथा—ग्रामं ग्राम-शताध्यक्षो भोक्तुर्महसि सत्कृतः·····इत्यादि (शांति० ८७।७-९)। इन श्लोकों का तात्पर्य यह है कि जो ग्राम वृहत् होते थे, उन ग्रामों में उत्पन्न शस्य का राजग्राह्य अंश शतग्रामाध्यक्ष स्वयं ले लेते थे। इसके साथ यह भी कहा गया है कि जिसकी शक्ति ग्राममुख्यों में सबसे अधिक होती थी, वह (अर्थात् सहस्र ग्रामाधिप) ग्रामीण प्रजामंडली से निकलकर शाखानगर की स्थापना करते थे और शाखा-नगर का राजांश स्वयं ग्रहण करते थे। इस प्रकार महाभारत में ग्राम शासन पद्धति वर्णित है। यह एक उच्चस्तरीय पंचायती पद्धति है, इसमें संशय नहीं।

A.C.C
२६३६

: ३३ :

पुराणवर्णित नदी और नदी-संगम

पुराणकारों ने नदी के विशेषण में 'शिवा' 'पुण्या' 'शिवजला' इत्यादि शब्दों का प्रयोग किया है, जो नदीसम्बन्धी उनकी उदात्त भावना का ज्ञापक है। भौतिक दृष्टि से नदी की महत्ता का ज्ञान तब होता है, जब हम देखते हैं कि पुराणों में 'प्रत्येक वर्ष (अर्थात् प्रत्येक द्वीप का एक निश्चित भाग) में कितनी नदियाँ हैं,' इसके लिये प्रश्न किया गया है (तेषु नद्यश्च काः स्मृताः— द्र० पुराणीय भुवनकोशों का आदिम अंश) और इस प्रश्न का निश्चयात्मक उत्तर भी दिया गया है। वस्तुतः देश की नदियों की संख्या का निश्चय करना एक मान्य परिपाटी थी—यह पुराण के अध्ययन से स्पष्ट रूप से ज्ञात होता है। स्कन्द० में नदियों की एक संख्या दी हुई है "सहस्रविंशतिश्चैव षट्शतानि तथैव च" (कुमारिका ११।५०)। पुराणों में नदी की असाधारण प्रशंसा की गई है, और उनको 'विश्वस्य मातरः' माना गया है (भुवन कोशों के भारतीय नदियों की गणना के आरम्भ में) यह ज्ञातव्य है।

नदियों की उत्पत्ति—इस विषय में पुराण का प्रसिद्ध मत यह है कि नदी पर्वत से उद्भूत होती है, जैसा कि वायु० में कहा गया है—"स्रवन्ते पावना नद्यः पर्वतेभ्यो विनिःसृताः"।

सरोवर से भी नदी उत्पन्न होती है, जैसा कि लिंग० में कहा गया है— "नद्यो बहुजलाः सरोवरेभ्यः संभूताः" (१।५२।१)। मत्स्य० में भी यह मत समर्थित हुआ है क्योंकि यहाँ कहा गया है कि अच्छोदसर से अच्छोदिका नदी उत्पन्न हुई है (१२१।७)।

नदियों की उत्पत्ति के विषय में अनेक विशिष्ट शब्द व्यवहृत हुए हैं। हो सकता है कि इन शब्दों के अर्थों में कुछ-न-कुछ विलक्षणता रही हो, पर आज हमें उसका ज्ञान नहीं है। उत्पत्ति संबन्धी कुछ शब्द ये हैं—(१) हिमवत्-पादनिःसृत (२) पारियात्राश्रय (३) ऋक्षवत्-पादज (४) विन्ध्यपादप्रसूत (५) सह्यपादनिःसृत और (६) शुक्तिमत्पादसंजात (भारतवर्षगत नदियों के विषय में)। यहाँ हिमवत्, पारियात्र आदि पर्वत हैं। निःसृत, प्रसूत आदि शब्दों में यदि कोई भेद हो, तो वह अज्ञात है। यह भी जानना चाहिए कि

पर्वतों के नामों के साथ 'पाद' शब्द के व्यवहार का भौगोलिक कारण है, उसी प्रकार 'पार्श्वनिःसृत' 'आश्रित' आदि शब्दों की भी सार्थकता हैं। जैसे पर्वत से नदी प्रवाहित होती है, वैसे 'गिरिप्रस्थ' या 'पर्वत प्रस्थ' से भी नदी की उत्पत्ति मानी गई है, जैसा कि वायुपुराण में जाम्बूवती नदी के विषय में कहा गया है (३५।२९)।

पर्वत और नदी का पारस्परिक सम्बन्ध—विभिन्न नदियों और पर्वतों के नाम लेकर पुराणों में उनका जो परस्पर संघर्ष दिखाया गया है, वह पुराणकारों के प्रयक्षदर्शित्व का ज्ञापक है। मार्कण्डेयपुराण में त्रिपथगामिनी गंगा के साथ मेरु आदि पर्वतों के संघर्ष के विषय में कहा गया है—

मेरुकूटतटान्तेभ्यो निपतन्ती विवर्तिता।
विकीर्यमाण-सलिला निरालम्बा पपात सा॥
मन्दराद्येषु पादेषु प्रविभक्तोदका समम्।
चतुर्ष्वपि पपाताम्बुविभिन्नाङ्घ्रिशिलोच्चया॥
(५६।३-५)

इस सार्थक विवरण में नदीपर्वत-संघर्ष की छह अवस्थाएँ (गंगा से सम्बन्धित) वर्णित हुई हैं, यथा—(क) गंगा मेरुकूट के तटान्त से पतित होती है; (ख) वह विवर्तित होती है; (ग) उसका जल विकीर्यमाण होता है; (घ) गिरने के समय वह अवलम्बनहीन हो जाती है; (ङ) मन्दरादि-पर्वतों के पाद में उसका जल प्रविभक्त होता है; (च) जलस्रोत के कारण शिलोच्चय उद्भिन्न हो जाते हैं। जल-प्रवाहसम्बन्धी यह विवरण कितना मार्मिक है, यह सहज ही समझ में आ सकता है।

नदी और पर्वत के पारस्परिक संबन्धज्ञान के लिये वायु० अत्यधिक सहायक है। इसके कुछ वचन यहाँ उद्धृत किए जा रहे हैं। पर्वत के कूटों में नदी परिश्रुत होती है, इसका स्पष्ट उल्लेख है (पूर्वे कूटे परिश्रुताः—४१।४९)। पर्वत के तलों में नदी का पानी विक्षोभित हो जाता है—"क्रीडिता ह्यन्तरतले या सा विक्षोभितोदका" (४२।५)। पर्वत से नदी निवर्त्तित हो जाती है और पर्वत से नदी का विभाग भी होता है, यह भी वायु० में स्पष्ट वर्णित है; "मेरुकूटतटान्तेभ्य उत्कृष्टेभ्यो निवर्तिता, विकीर्यमाणसलिला चतुर्धा संसृतोदका' (४२।१०)। नदी पर्वतों का विदारण करती है—"एवं शैल-सहस्राणि दारयन्ती महानदी" (४२।२०), नदी कभी-कभी पर्वत-सानु-गामिनी भी होती है (४२।४५) और कभी-कभी कूट तट से भ्रष्ट भी होती है (४२।४४)। पर्वतों के कूटों से नदी का पानी संशित हो जाता है; वायु० में इसका स्पष्ट उल्लेख है—"सुपक्ष

कूट तटगा तस्माच्च संशितोदका" (४२।४९)। वायु० में यह भी कहा गया है कि पर्वतों की कुक्षियों में पानी विघूर्णित होता रहता है और इससे उसमें तरंग उत्पन्न हो जाते हैं—"तस्य कुक्षिष्वनेकासु भ्रान्ततोया तरङ्गिणी" (४२।५५)। गण्डशैल से नदी का वेग आहत हो जाता है, "व्याहन्यमानसंवेगा गण्डशैलेष्वनेकशः" (४२।५६), पर्वत-कन्दराओं से नदी विभ्रष्ट होती है (४२।७६)—इत्यादि नदी-सम्बन्धी तथ्य वायु० में वर्णित हैं।

अब हम इस विषय पर मत्स्य० के विशिष्ट वाक्य उद्धृत कर रहे हैं। "अम्बुविभिन्नाङ्घ्रिशिलोच्चया" (५६।५)–यह नदी-विशेषण यहाँ मिलता है। अर्थ पहले बताया गया है। पर्वतों के शिखरों पर भी नदियाँ गिरती हैं (अद्रीणां शिखरेषु निपत्य सा—५६।१५), इत्यादि वर्णन इस पुराण में हैं। अन्य पुराणों में एतद्नुरूप वर्णन प्रायेण मिलता है।

नदीशोभा—पुराणों में स्थान-स्थान पर नदीशोभा का वर्णन मिलता है। कुछ मुख्य उदाहरण यहाँ प्रस्तुत किए जा रहे हैं—

नदी पद्मों से अलंकृत रहती हैं, यह प्रायः सभी पुराणों में कहा गया है—"नदी नानाविधैः पद्मैरनेकैः समलंकृताः" (कूर्म० १।४८।६)। कूर्म० में तो स्वर्ण-पद्म की बात भी कही गई है (४८।७), जिसका तात्पर्य चिन्तनीय है। नीलोत्पल भी नदी में होते हैं, जैसा कि कूर्म० में कहा गया है—"नद्यो विमलपानीयाः चित्रनीलोत्पला कराः" (१।४८।३८)। वायु० में ऐसे पद्मों के सुन्दर विशेषण भी दिए गए हैं, यथा—

"जाम्बूनदमयैः पद्मैः गन्धस्पर्शगुणान्वितैः।
नीलवैदूर्यपत्रैश्च गन्धोपेतैर्महोत्पलैः।
तथा कुसुमखण्डैश्च महापद्मैरलंकृताः॥"
(४१।१५-१६)।

नदी पुष्पों से सुशोभित होती है, जैसा कि वायु० में कहा गया है—"नानापुष्पोत्कटोत्कटा" (४१।१४)।

जैसे पुष्पादि से नदी शोभित होती है, वैसे अन्य प्रकार की जलधाराओं से भी नदी की शोभा बढ़ती है। वायु० में यह तथ्य स्पष्टतः वर्णित है—"अनेकाभिः स्रवन्तोभिराप्यायितजला" (४२।५४)। जल-प्रपातों से भी नदी शोभित होती है—"चित्रैः प्रपातविविधैः नैकविस्फारितोदकाः" (४२।२५)। प्रपातों के कारण नदी विस्फारित होती है। प्रपातों की तरह निर्झरों से भी नदी शोभित तथा विशाल होती है, जो "नैकनिर्झरवप्राढ्या" (वायु० ४२।६५) इस विशेषण से विज्ञात होता है। हंस और पुष्पविशेष से सम्बन्धित विशेषण

भी हैं। मत्स्य० के 'सितहंसावलिच्छना' तथा 'काशचामरराजिता' ये दो विशेषण द्रष्टव्य हैं (अ० ११६)।

नदी का प्रवाह—वायु० में नदी को 'प्रस्यन्दवाहिनी' कहा गया है (३५।२९)। तात्पर्य स्पष्ट है। पवन से नदी का पानी इतस्ततः धावित होता है यह 'पवनेनेरितोदका' विशेषण से स्पष्ट है (वायु० ४२।५९)।

वायु० में नदी के लिये 'विपुलोदका' तथा 'सुवर्णमणिसोपाना' (४१।१४) विशेषण भी दिए गए हैं। इनमें द्वितीय विशेषण हमारे देश के वैभव का ज्ञापक है। नदी पानी से भी विभिद्यमान होती है, यह वायु० के 'विभिद्यमाना सलिलैः" विशेषण से स्पष्ट ज्ञात होता है (४२।९)।

पुराणों में यह भी कहा गया है कि नदीस्रोत का रोध कुञ्जादि के द्वारा होता है। सीता नदी निकुञ्ज से निरुद्ध हो गई है—'सा निकुञ्जनिरुद्धा' (वायु० ४२।१७) वाक्य इस प्रसंग में द्रष्टव्य है।

नदी की गति को वक्रता के विषय में पुराणों में कहीं-कहीं कुछ स्पष्ट वचन मिल जाते हैं। वायु० में कहा गया है—"अनेकाभोगवक्राङ्गी' (४२।४९)।

लिंग० में विभिन्न दिशाओं में बहने वाली नदियों के लिये 'प्राङ्मुखा' (पूर्व की ओर चलनेवाली), दक्षिणास्या (दक्षिण की ओर बहनेवाली), उत्तर प्रभवाः तथा पश्चिमाग्रा शब्द प्रयुक्त हुए हैं (५२।२)।

नदी के प्रवाहों के विषय में वायु० में तीन विशेषण आए हैं—क्षीरवाहिनी, मधुमौरेय-वाहिनी तथा घृतवाहिनी (४५।२७)। मधुवाहिनी विशेषण भी मिलता है (वायु० ३५।२९)। अतीत काल में भारत की समृद्धि कितनी थी—यह इन विशेषणों से विज्ञात होता है। मत्स्य० में नदी के स्रोत के लिये दो सुन्दर विशेषण प्रयुक्त हुए हैं—'मध्येन शक्रचापाभा' तथा 'तपनीयाभा' (११६।२-३)। शक्रचाप=इन्द्रधनु; तपनीय=स्वर्ण मत्स्य० ११६।५ कहा गया है कि स्रोत में कभी ह्रास और कभी वृद्धि होती है। इस पुराण में नदी स्वरूप पर एक रोचक वर्णन दिया गया है, यथा—

तुहिनगिरिभवां महौघवेगां तुहिनगभस्तिसमानशीतलोदाम्।
तुहिनसदृशहैमवर्णपुञ्जम् (मत्स्य० ११५।१९)।

यहाँ नदी की उत्पत्ति, नदी के वेग का स्वरूप, नदी के जल का स्पर्श, नदी के जल का वर्ण आदि का स्पष्ट चित्र खींचा गया है।

नदी के प्रवाह के लिये वामन० में कुछ मननीय वचन मिलते हैं, यथा—"एतासामुदकं पुण्यं प्रावृट्काले प्रकीर्त्तितम्, रजस्वलात्वमेतेषां विद्यते न कदाचन"

(३४।९)। वर्षाकाल में नदी का जल पुण्यमय हो जाता है और नदियों में रजस्वलात्व (=धूलियुक्तता) नहीं होता। वस्तुतः ऋतु के अनुसार प्रवाह के स्वरूप की दृष्टि से नदियों के दो भेद पुराणों में किए गए हैं—"प्रावृट्कालवहा नद्यः सदाकालवहास्तथा" (वामन०) अर्थात् कुछ नदियों में केवल वर्षाकाल में प्रवाह रहता है, और कुछ में सब ऋतुओं में प्रवाह रहता है।

नदी की समाप्ति समुद्र में होती है—यह पुराण-प्रसिद्ध मत है। इस दृष्टि से ही नदी के लिये 'समुद्रगा' शब्द पुराणों में प्रयुक्त हुआ है।

नदी को समुद्र की महिषी के रूप में कल्पना कर एक असाधारण काव्यमय वर्णन मत्स्यपुराणकार (११६।८–१२) ने किया है।[1] इस विवरण का सारांश यह है कि आवर्त नदीरूपिणी नारी की नाभि है, द्वीप उसका जघन है, नलिनी रज नेत्रों की ज्योति है, उत्फुल्ल कमल उसका मुख है, हिमवर्ण फेन उसके वस्त्र हैं, चक्रवाक उसका अधर है, वलाकापंक्ति उसके दाँत हैं, गतिशील मत्स्य उसकी भ्रू है, हंस उसके नूपुर हैं इत्यादि; इस विवरण की शब्दावली रोचक तथा हृदयावर्जक है। साहित्यरसिकों को इसका मनन करना चाहिए।

पुराण-वर्णित नदी-संगम—पौराणिक भूगोल का एक महत्त्वपूर्ण विषय है—नदियों का संगम। न केवल भौगोलिक दृष्टि में, अपितु सांस्कृतिक दृष्टि में भी संगमों की महत्ता है। अनेक तीर्थ-आश्रम आदि संगमों में ही प्रतिष्ठित हैं। इतिहास-पुराण में इन संगमों का असाधारण माहात्म्य भी वर्णित हुआ है। इस

---

१. अग्र्यां समुद्रमहिषीं महर्षिगणसेविताम्।
सर्वलोकस्य चोत्सुक्यकारिणीं सुमनोहराम्॥
हितां सर्वस्य लोकस्य नाकमार्गप्रदायिकाम्।
गोकुलाकुलतीरान्तां रम्यां शैवालवर्जिताम्॥
हंससारससंघुष्टां जलजैरुपशोभिताम्।
आवर्तनाभिगम्भीरां द्वीपोरुजघनस्थलीम्॥
नीलनीरजनेत्राभामुत्फुल्लकमलाननाम्।
हिमाभफेनवसनां चक्रवाकाधरां शुभाम्॥
वलाकापङ्क्तिदशनां चलन्मत्स्यावलिभ्रुवम्।
स्वजलोद्भूतमःतङ्गरम्यकुम्भपयोधराम्।
हंसनूपुरसंघुष्टां मृणालवलयावलीम्॥

प्रकरण में संगम के विषय में एक संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है।

संगम पर्याय—संगम के कुछ सार्थक पर्याय शब्द पुराणों में मिलते हैं, यथा—'संग' (तुरासंग इत्यादि), संभेद (गंगासागरसंभेद—प्रभासक्षेत्र० ३।९६; ३।९२)।

'व्यतिकर' शब्द भी इस अर्थ में प्रयुक्त होता है 'नदीद्वयव्यतिकरे' (स्कन्द० २।१।३४।२९)। तथैव 'संगति' (अयोध्या० ५।१९), सन्धि (अर्णवसन्धि) और 'समागम' शब्द भी मिलते हैं, ('अमासोमसमागस')।

वेणी शब्द नदीद्वय-संयोग के लिये आया है। पद्म० में "पश्चिमाभिमुखी गङ्गा कालिन्द्या सह संगता" कह कर उसी संगम को बाद में वेणी[1] भी कहा गया है।

संगम-लक्षण—सामान्यतया यह समझा जाता है कि दो नदियों के संयोग होने पर ही 'संगम' होता है, पर यह नियम सार्वत्रिक नहीं है, क्योंकि नदी-त्रयसंयोग का एक उदाहरण स्कन्द० में मिलता है (कार्त्तिकमास० ४।२४–२४)।

संगमनामकरण—पुराणों में कहीं-कहीं संगम-नामों का कारण भी कहा गया है। नर्मदा के साथ कुब्जा का जो संगम पद्म० में कथित हुआ है (पद्म० २।९२।३२), उसका कारण अन्यत्र में कहा गया है। उसी प्रकार ब्रह्मपुराण में जिस वृद्धा संगम का उल्लेख है (१०७।१), उस नाम का कारण इसी स्थल में कहा गया है। ऐसी घटनाओं में कितनी सत्यता है, यह कहना कठिन है। यह भी निश्चित है कि कहीं-कहीं अवश्य ही काल्पनिक हेतु कहे गए होंगे।

संगमों के नामकरण में दूसरा विचार्य विषय है—दोनों नदियों में कौन प्राचीनतर है, इसका पता लगाना। संगमगत नदीनामों के क्रम को देखकर इसका निर्णय नहीं हो सकता, क्योंकि संगमनामों में नामों का क्रम-व्यत्पास मिलता है। जैसे सरस्वती-अरुण-संगम कहा गया है, उसी प्रकार अरुणा-सरस्वती-संगम शब्द भी प्रयुक्त हुआ है। 'गंगा-यमुना-संगम' को 'यमुना-गंगा-संगम' भी एकाधिक पुराणों में कहा गया है।

---

१. हमारी दृष्टि में प्रयाग की त्रिवेणी का अर्थ है—गङ्गा, यमुना और इन दोनों की संमिलित धारा रूप तृतीय नदी। प्रयाग में कभी सरस्वती बहती थी, यह इतिहास-पुराण से या वेद से सिद्ध नहीं होता।

यह भी देखा जाता है कि कहीं-कहीं संगमनाम में एक नदी-नाम का ही प्रयोग किया गया है, अन्य नदी नाम का नहीं। शायद कथित नदी की अत्यन्त प्रसिद्धि थी, जिसके कारण दूसरा नाम अव्यवहार्य रह जाता था। अन्य कारण भी हो सकते हैं, जिनका अन्वेषण आवश्यक है। निम्नोक्त उदाहरणों को देखिए—

कालिकासंगम (अग्नि० १२०।९), कपिलासंगम (मत्स्य० १८६।४०), कावेरीसंगम (अग्नि० ११३।३, यह संगम नर्मदा के साथ है), एरण्डीसंगम (मत्स्य० में नर्मदामाहात्म्य में यह शब्द आया है), परुष्णीसंगम (मत्स्य० २२।३३), फेनासंगम (ब्रह्म० १२९।१), प्रवरासंगम (ब्रह्माण्ड० १०६।१), सौमित्रीसंगम (मत्स्य० २२।५३), वरदासंगम (वन० ८५।३५), वेणीसंगम (वन० ८५।३४), विदर्भासंगम (ब्रह्म० १२१।१) इत्यादि।

तीर्थ-नदी-संगम—संगम-नाम में सभी नाम नदियों के ही हों, यह आवश्यक नहीं। नदीनाम तथा तीर्थनाम को मिलाकर भी संगमनाम बनता था, यथा—'वाराणसी-जाह्नवी-संगम'। यहाँ वाराणसी तीर्थ है, नदी नहीं। पुराणों में नर्मदा और गोदावरी के माहात्म्य का जहाँ वर्णन है, वहाँ कुछ ऐसे संगमनाम भी मिलते हैं, जिनमें एक नाम तीर्थ का और दूसरा नदी का है।

सागरसंगम—नदी और सागर के नाम से भी संगमनाम बनते हैं। 'सिन्धु-सागर-संगम' नाम प्रसिद्ध है, जहाँ सिन्धु नदी का नाम है और सागर= पश्चिमोदधि है (वायु० ७७।५६, वन० ८२।६८)। संगमस्थल में केवल सागर-नाम का उल्लेख भी मिलता है, जैसे 'पश्चिमोदधि-सन्धि' या 'अर्णव सन्धि'। गंगासागरसंगम तो प्रसिद्ध ही है (प्रभास क्षेत्र० ३।९२)।

संगमसूची—अन्त में भारतवर्ष के कुछ प्रसिद्ध संगमों की सूची दी जा रही है—

अमासोमसमागम (वायु०)
इक्षुनदीसंगम
इरावतीनड्वला संगम (वामन० ७९।५१)
ऐरण्डीसंगम (नर्मदा के साथ)
कपिलासंगम
कालिकासंगम
कावेरीसंगम (अग्नि० ११३।३)
कुब्जासंगम (पद्म० २।९२।३२)
कौशिकी-कोका-संगम (वामन० १४०।७५)

कौशिकीदृषद्वतीसंगम (वामन० ३४।१८)
कौशिक्यरुणसंगम (वन० ८४।१५६)
कृष्णवेण्यासंगम (पद्म० ६।१०८।२७)
गङ्गागोमतीसंगम (अग्नि० १०९।१९)
पयोष्णीसंगम (मत्स्य० २२।३३)
परुष्णीसंगम (ब्रह्म० १४४।१)
प्रवरासंगम (ब्रह्माण्ड० १०६।१)
फेनासंगम (ब्रह्म० १२९।१)
यमुनासंगम (वराह० १७४ अ०)
वरदासंगम (वन० ८५।३५)
वेणासंगम (वन० ८५।३४)
शोणज्योतिरथासंगम (वन० ८५।८)

: ३४ :

पुराणों में पर्वत-चित्रण

पुराणों में पर्वत के विषय में विपुल सामग्री उपलब्ध होती है। पुराणकार यह जानते थे कि यह पृथिवी पर्वतों से पूर्ण है—"पूर्णा वसुमती सर्वा गिरिभिर्नैक-पर्वतैः" (वायु० ४१।७७)। पर्वत की उत्पत्ति, नाश, स्थिति तथा पर्वत सम्बन्धी अन्यान्य वैज्ञानिक विवरण भी स्थान-स्थान पर मिलते हैं। इसके साथ पर्वतों का नामकरण, पर्वत तथा नदी एवम् जनपदों का सम्बन्ध आदि व्यावहारिक विषयों में भी अनेक तथ्य पुराणों में सुरक्षित हैं। पुराणोक्त इन तथ्यों का एक संक्षिप्त संकलन यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

पर्वत की धातुमयता—यह पुराणों को मान्य धारणा है। मत्स्य० में "सर्वधातुपिनद्धैः (११३।१) विशेषण है। वायु० में भी यह तथ्य स्वीकृत है, जो "नानाधातुविचित्रैश्च" (४१।७७) आदि वाक्यों से प्रमाणित होता है। धातु के नाना प्रकारों का उल्लेख भी है जैसे 'रुक्मधातुमय' (वायु० ४७।१७) आदि। पर्वत को इसीलिये 'सर्वधातुनिबन्ध' कहा जाता है। धातु-संबन्धी विशिष्ट उल्लेख भी मिलता है—'शुद्धहिंगुलकप्रख्यैः काञ्चनैर्धातुमण्डितैः' (वायु० ३५।१४)। पर्वत का सानुदेश धातुओं से मण्डित रहता है, यह सूचना वायु०में दी गई है (३५।५)। पर्वततट का 'धातुशतार्चित एवं रत्नचित्र सानुसे अलंकृत' (वायु० ३९।५) विशेषण भी महत्वपूर्ण है। पुराणों इत्यादि में 'चित्रधातु-विभूषित', 'अनेकधातु कलिल' तथा 'सर्वधातु विभूषित', 'नैकधातुशतचित्र' विशेषण प्रायेण मिलते हैं।

पर्वत और ओषधि—पर्वत की धातुमयता के साथ ओषधिमयत्व के विषय में भी सारवान् उल्लेख मिलते हैं। मत्स्य० कहता है, "पर्वतो दिव्यौषधिसमन्वितः" (११३।४१); वायु० भी पर्वत को 'सर्वौषधिसमन्वित' कहता है (४९।७)। अन्यत्र वायु० में 'मुख्यसत्वौषधि' रूप विशेषण दिया गया है (४७।७)। सत्वौषधिका अर्थ विवेच्य है। हिमालय के लिए 'ओषधिप्रस्थ' शब्द वामन० में प्रयुक्त हुआ है (५२।१५)। कुमारिका० में भी यह शब्द है (१९।८१)।

पर्वत के वर्ण—पर्वतों के वर्णों के विषय में कुछ विचारणीय विशेषणों के प्रयोग मिलते हैं। वायु० में कहा गया है—"तरुणादित्यवर्णाभो हैरण्यो निषधः स्मृतः" (३४।१४)। शिलाओं के वर्ण के अनुसार का पर्वत का वर्ण होता है, इस

विषय में वायु० में एक सुन्दर वाक्य है–"पर्वतो मेरुसन्निभः शातकुम्भमयैः शुभ्रैः शिलाजालैः समावृतः" (४०।१८)। यह शुभ्र शिलाजाल कैसे उत्पन्न हुआ, यह विचारणीय है। बाद में (श्लोक २३) हरितालगिरिकी तरह अतिशुभ्र गिरिका भी उल्लेख किया गया है––"शङ्खगिरि र्नाम धौतशङ्खदलप्रभः" (वायु० ४८।३२)। इस पुराण में अन्यत्र अरुणप्रभ पर्वत आदि शब्दों के प्रयोग हैं। कभी-कभी पर्वत को 'धुत्तूरपुष्पसंकाश' कहा गया है (लिंग० १।४८।४)। लिंग० (१।४९।२०) में पर्वतवर्ण के विषय में विशद विवरण दिया गया है। 'मेघसदृश श्यामवर्ण' पर्वत का उल्लेख वायु० में है (४७।१८)। पर्वत की शुभ्रता के विषय में वामन० में 'कुन्देन्दु सदृशप्रभः' कहा गया है (४१।२२)। वायु० में भी 'कुन्द-सान्निभ कूटतट' का उल्लेख है (४१।२)।

पर्वतवर्णविवरण की सर्वाधिक रोचकता मेरुपर्वत के विवरण में उपलब्ध होती है। सभी पुराण कहते हैं कि वह चतुर्वर्णवाला है (लिंग० १।४८।८; मत्स्य० अ० ३४ इत्यादि)।

पर्वत और शिला—पर्वत शिलामय है, अतः मत्स्य० में पर्वत के विशेषण में 'शिलाजालसमुद्भव' (११३।९) कहा गया है। पर्वत में मनःशिला होते हैं, वायु० में इसका भी निर्देश है (३५।१२)। वस्तुतः 'शिलाजालसमुद्भव' होने के कारण ही पर्वत को 'शैल' कहा गया है। इस दृष्टि से ही पर्वत के विशेषण में 'शिला-विकट-संकट' (मत्स्य० ११०।६) शब्द प्रयुक्त होता है। पर्वत का एक नाम 'शिलोच्चय' है (लिंग० १।७०।१३५) जिसका लक्षण पुराणकारों ने दिया है (वायु० ४१।१३३)। पर्वत के शिलाओं के लिये 'समशिला' (वामन० ६०।८), पद्मवर्णशिला (वामन० ५२।५), शिलापट्ट (वामन० ६४।२१), गिरिकल्पा शिला (वामन० ९१।५२) आदि शब्द व्यवहृत हुए हैं।

पर्वतों का रत्नमयत्व—शिलामयत्व के साथ रत्नमयत्व का प्रयोग भी मिलता है। मत्स्य० का 'सर्वरत्नविभूषिताः' (११३।४५) प्रयोग इसका प्रमुख उदाहरण है। विष्णु० में भी 'पर्वता रत्नयोनयः (२।४।२५) कहा गया है। 'मणिरत्नमय' विशेषण वायु० (३४।६५) में मिलता है। पर्वत को वायु० में 'नानारत्नप्रभास' कहा ही गया है (४१।७४)। वस्तुतः 'सुवर्णपर्वत' रजतपर्वत' 'मणिपर्वत' आदि जो पद पुराणों में कहे गए हैं, वे केवल यही सूचित करते हैं कि उन पर्वतों में सुवर्ण आदि रत्न मिलते हैं। पर्वत प्रवाल से भी अलंकृत होते हैं (वायु० ३५।१५)।

पर्वत और वृक्षवन––पर्वत के साथ वृक्ष, वन इत्यादि का निकट सम्बन्ध हैं। इस विषय में लिंग० का विवरण देखिए––

शाखाशतसहस्राढ्ये सर्वद्रुमविभूषिते ।
चम्पाकाशोकपुंनागवकुलासनमण्डिते ॥
पारिजातकसम्पूर्णे नानापक्षिगणान्विते ।

(१।८१।२–३)। पर्वतस्थ वृक्षों का रुचिर विवरण मत्स्य० (भुवनकोश) में भी मिलता है। पर्वतों के तट कुसूमों से रहते हैं, उनके सानुदेश पुष्प-मालाओं से ढके रहते हैं—इत्यादि विवरण सर्वत्र मिलता है (वायु० ३६ अ०) वायु० में 'कुसुमोत्कीर्णनिकुञ्ज-विभूषित' शब्द का व्यवहार है (३९।६)।

वृक्षों के साथ पर्वतीय कुञ्ज और काननों का उल्लेख भी है (वायु० ४५।२२)। कुञ्ज की तरह निकुञ्ज का भी उल्लेख है (वही ३९।६)। पर्वत की द्रोणियों में सुरम्य वन होते हैं, जैसा कि विष्णु० में स्पष्ट कहा गया है—'शिलानामन्तरे द्रोण्यः सिद्धचारणसेविताः, सुरम्यानि तथा तासु काननानि पुराणि च" (२।२।४५)।

वृक्षों के प्रसंग में 'गिरिकेतु' शब्द आलोच्य है। गिरि का ध्वज-भूत वृक्ष को गिरिकेतु कहा जाता है–यह श्रीधर स्वामी ने विष्णु० २।२।१८ टीका में कहा है। स्कन्द० में भी 'गिरिकेतु' उल्लिखित है (कुमारिका० ३०।३६)। इन केतुओं का विस्तार कितना होता था इसका एक निदर्शन दिया जा रहा है–'एकादशशतायामाः पादपाः गिरिकेतवः' (विष्णु० २।२।१८)। यह परिमाण यदि योजनात्मक हो तो वृक्षों का अतिविशालत्व भी सिद्ध होता है। केतुपादसुशोभित पर्वत मार्क० ५४।२० में उल्लिखित है।

पर्वत के शृङ्ग आदि—पर्वत के साथ उसका शृंग भी वर्णित हुआ है। कहीं-कहीं शिखर का वर्ण भी कहा गया है, यथा—'पाण्डुर शृंङ्ग' (मत्स्य० ११७।१); हिमालय शृङ्ग के वर्णन में इसका उल्लेख है।

पर्वत का कूट और कूटतट पुराणों में वर्णित है। वायु० कहता है—"तटे निषधकूटस्य श्लक्ष्णचारुशिलातले' (४१।५१); इससे कूटतट की शिलारूपता पर भी पर्याप्त प्रकाश पड़ता है।

पर्वतों के साथ उनकी द्रोणियों का वर्णन भी किया गया है। द्रोणी का स्वरूप पहले कहा गया है—"शिलानामन्तरे द्रोण्यः"। उन द्रोणियों में कानन तथा पुर होते हैं, यह भी कहा गया है। वायु० में द्रोणी के विषय में कहा गया है–"द्रोण्यो विहंगसंघुष्टाः नानासत्त्वनिषेविताः" (३७।१)। द्रोणी के साथ 'अन्तरद्रोणी' शब्द भी द्रष्टव्य है, जिसके विषय में वायु० कहता है—"एतेषां शैलमुख्यानामन्तरेषु यथाक्रमम्, स्थाल्यो ह्यन्तरद्रोण्यश्च" (३६।३३); इससे द्रोणी का अवस्थान स्पष्ट हो

जाता है। इस विषय में लिंग० ४९।५८ और मार्क० ५५।१४-१५ भी द्रष्टव्य हैं।

पर्वतस्थ वस्तुओं को लेकर अनेक विशेषण दिए गए हैं। पर्वत में नदी, कन्दर, गुहा, सानु आदि होते हैं, और इन वस्तुओं को लेकर अनेक सुन्दर विशेषण प्रयुक्त हुए हैं। कुछ उदाहरण यहाँ प्रस्तुत किए जा रहे हैं—

मत्स्य० में पर्वतों को 'सानुमान्:' कहा गया है (१२२।६) और वायु० में सानु के विशेषण में भाषित हुआ है—"नदी-कन्दर-शैलाढ्यै रनेकैश्चित्रसानुभिः" (४१।७७)। स्कन्दपुराण के अरुणाचल० में यह भी कहा गया है कि अरुणाचल पर्वत के सानु में मेघ विद्यमान रहते हैं (२।५१)। वामन० में भी शैलसानु का उल्लेख है (५२।६)। सानु पर्वत के तटदेश में होते हैं—यह वायु० में उल्लिखित है (४१।२७)। सानु=पर्वत का समभूमि।

पर्वत के कन्दर आदि—पुराणों में मन्दर पर्वत के विशेषण में 'चारुकन्दर' शब्द प्रायेण आया है। पता नहीं इस पर्वत का यह यथार्थ वैशिष्ट्य है, या अनुप्रास के लिये ऐसा प्रयोग किया गया है। वायु० पर्वत को 'कन्दराढ्य' कहता है (४१।७७)। वायु० यह भी कहता है कि पर्वतों की कुक्षि में अनेक कन्दर और सानु होते हैं (पर्वतकुक्षिषु नैक-कन्दर-सानुषु–४२।३३)। वायु० ४२।४२ में पर्वत के विशेषण में 'विपुलोदरकन्दर' का प्रयोग भी हुआ है। कन्दर के साथ दरी भी उल्लिखित हुई है (कृत्रिम या अकृत्रिम पर्वतविवर को दरी कहते हैं)। वायु० वप्रदरी का निर्देश करता है (३९।५५) तथा पर्वत को दरी-अलंकृत, कन्दरोदरशोभित एवं गहनसंकटशोभित भी कहता है (३९।८)। विशाल हिम से रुद्ध कन्दर का उल्लेख भी पुराणों में हैं—'हिमानीरुद्धकन्दर' (कुमारिका० ५।६०)। कुमारिका० में (१३।३९–४१) कन्दर का एक रोचक विवरण मिलता है। कन्दर की तरह पर्वत–कुक्षियों का उल्लेख भी मिलता है। इसका एक अतिविशद वर्णन वायु० में है, यथा—"केचित् सन्ति महाघोराः श्यामाः पर्वतकुक्षयः। सूर्यांशुजालैरस्पृष्टाः नित्यं शीताः दुरासदाः" (३८।७७)। यह विवरण कितना सत्य है—यह पर्वतारोही व्यक्ति जानते ही हैं।

पर्वत और निर्झर-नदी आदि—वायु० में पर्वत के विशेषण में 'नैक-निर्झरकन्दर' कहा गया है (३९।२८)। लिंग० में कहा गया है "विमलस्वादु पानीये नैकप्रस्रवणैर्युते, निर्झरैः कुसुमाकीर्णैरनेकैश्च विभूषिते, पुष्पोडूपवहाभिश्च स्रवन्तीभिरलंकृते" (१।८१।५–६)। यहाँ विशेषण के साथ पर्वतस्थ निर्झरों का उल्लेख द्रष्टव्य है। पर्वत के विशेषण में 'सम्पातविषम' शब्द प्रयुक्त हुआ है (वायु० ३४।२७), जिससे पर्वतों की धारामयता ज्ञात होती है।

पर्वत से नदियाँ प्रवाहित होती हैं (वस्तुतः पर्वत के विना नदी असंभव है)।

जितनी नदियाँ हैं, वे सब पर्वतनिःसृत हैं—ऐसा पुराणीयभुवनकोशों के अध्ययन से स्पष्ट विदित होता है। नदी से पर्वत 'आढ्य' (पूर्ण या शोभित) रहते हैं, यह वायु० (४१।७७) से जाना जाता है।

पर्वतसम्बन्धी रूपकालंकार—पर्वत को पुरुष मानकर एक अत्यन्त रोचक वर्णन मत्स्यपुराणकार ने किया है। यहाँ पाठकों के अवलोकनार्थ पुराण के श्लोकों को उद्धृत किया जा रहा है—

देवदारुवनैर्नीलैः कृताधोवसनं शुभम्।
मेघोत्तरीयकं शैलं ददृशे स नराधिपः॥
श्वेतमेघकृतोष्णीषं चन्द्रार्कमुकुटं क्वचित्।
हिमानुलिप्तसर्वाङ्गं क्वचिद् धातुविमिश्रितम्॥
चन्दनेनानुलिप्ताङ्गं दत्तपञ्चाङ्गुलं यथा।
शीतप्रदं निदाघेऽपि शिलविकटसंकटम्॥

(११७।४–६)। किसी पुरुष के जैसे अधोवसन, उत्तरीयक, उष्णीष, मुकुट आदि होते हैं, वैसे पर्वतरूपी पुरुष के अधोवसन (देवदारुवन), उत्तरीयक (मेघ) आदि दिखाए गए हैं। साहित्यरसिकों को इस स्थल का अध्ययन करना चाहिए। यह हिमालय का वर्णन है (११७।१)।

पर्वतों के आकार—पर्वतों के आकार के लिये जो विशेषण प्रयुक्त हुए हैं, उनका प्रासंगिक निर्देश किया जा रहा है—

ऋज्वायत (=सीधा आयत) पर्वतों का उल्लेख वायु० में है (४९।५)। कौन पर्वत किस दिशा में आयत रहते हैं, पुराणों में इसका भी उल्लेख मिलता है, जैसा कि कैलास और गन्धमादन के लिये कहा गया है—"गन्धमादनकैलासौ पूर्वपश्चायतावुभौ" (विष्णु० २।२।४०)। जम्बूद्वीप के वर्षपर्वतों के विवरण में 'प्रागायताः ....अवगाढा उभयतः' रूप विशेषण दिया गया है (वायु० ३४।१३)। वायु० में मेरु पर्वत के आकार के विषय में 'प्लक्षाकृति-प्रमाणश्च चतुरस्रः समुच्छ्रितः' (३४।१५) कहा गया है, जो पर्वतीय आकार के विषय में एक असाधारण तथ्य है (प्लक्ष = पाकर वृक्ष)।

पर्वत और तीर्थ-देवायतन आदि—पुराणों में कहीं-कहीं 'पार्वतीय तीर्थ' का उल्लेख मिलता है (पार्वतीयानि तीर्थानि–केदार० ३१।८८) मत्स्य० में धर्मनामक प्रजापति से पर्वतोत्पत्ति का सम्बन्धसूचक एक वाक्य मिलता है—"पर्वतादिमहादुर्ग-शरीराणि नराधिप, अरुन्धत्याः प्रसूतानि धर्माद् वैवस्वतोऽन्तरे" (२०३।२)। इस वाक्य का विवक्षित अर्थ क्या है, इस पर विद्वानों को विचार करना चाहिए।

पर्वत को पुराणों में 'देवायतन' कहा गया है। वायु० में 'देवपर्वत' शब्द का प्रयोग है (३६।१९–२०)। इसी अध्याय में कहा गया है—"इत्येते देवचरिताः ह्युत्कृष्टाः पर्वतोत्तमाः' (३६।२५)। लिंग० में भी यह मत दीख पड़ता है—"इत्येते देवचरिता उत्कटाः पर्वतोत्तमाः" (४९।४८)। लिंग० में और भी स्पष्ट रूप से कहा गया है—"सर्वदेवनिकेतनः क्रीडाभूमिश्च देवानामनेकाश्चर्यसंयुतः" (४८।४)। ध्यान देना चाहिए कि यहाँ का देव शब्द कोई 'सूक्ष्म प्राणी' का वाचक नहीं है, प्रत्युत मर्त्य जीवविशेष का वाचक है।

पर्वतों की महिमा यह भी है कि उनसे पृथिवी का विधारण होता है[1]। लिंग० में स्पष्टतः कहा गया है कि मेरुपादों के कारण पृथिवी इतस्ततः चलती नहीं है (४९।२६)। वामन० में यह मत स्पष्टतया प्रतिपादित हुआ है—"यै र्धृतत्वान्न चलति सप्तद्वीपवती मही" (३५।११)। पर्वत चूँकि भूमि पर सुदृढरूप से स्थित रहते हैं, इसलिये उनको 'स्थितिमतां वरः' कहा गया है (लिंग० १।४८।१)।

पुराणों में पर्वत तथा कन्दरादि को पवित्र माना गया है। यहाँ तक कि पर्वत में श्राद्ध करने की विधि भी मिलती है। इस विषय में वायु० का वाक्य स्मर्तव्य है—"शैलसानुषु तुङ्गेषु कन्दरेषु गुहासु च, उपह्वरनितम्बेषु कुर्यात् श्राद्धम्" (७७।११९)। पर्वतों पर भारतीय प्रजाओं की यह दृष्टि श्लाघनीय है।

पर्वतवासियों में अपेक्षाकृत अधिक ऋद्धि होती है, ऐसा पुराणों में कहा गया है—"एवमेव तु विज्ञेया ऋद्धिः पर्वतवासिनाम्" (वायु० ४७।६२)। पुराणों में यह भी कहा गया है कि अतिप्राचीन काल में जब मनुष्यों में शारीरिक दौर्बल्य और मानसिक अवसाद (आजकल के शक्तिहीन प्रजाओं की तरह) नहीं थे, तब मनुष्य पर्वत और समुद्र में रहते थे। वह अवस्था सुखशान्तिमय थी और वर्तमान काल की तरह कलहमय तथा निरन्तर-क्रियायुक्त नहीं थी। इस तथ्य को लक्ष्य कर मार्कण्डेय० कहता है—"पर्वतोदधिसेविन्यो ह्यनिकेतास्तु सर्वशः, ते वै निकामचारिण्यो नित्यं मुदितमानसाः" (४९।१५)। शारीरिक और मानसिक स्वस्थता के लिये पर्वतों की उपयोगिता आज भी सिद्ध है।

---

१. यह पृथिवी चिरकाल से इसी रूप चली नहीं आ रही है। 'कठिन' अवस्था के पहले पृथिवी की अनेक प्रकार की अवस्थाएँ हो चुकी हैं। पृथ्वी की किस अवस्था में यह मत संगत होता है, इस पर वैज्ञानिक दृष्टि से विचार करना चाहिए।

: ३५ :

महामति पर्जिटर के दो भ्रान्त मत

[१]

श्री पर्जिटर ने अपने Ancient Indian Historical Tradition नामक ग्रन्थ में लिखा है कि सायण के मत में इतिहास का अर्थ है—सृष्टि की प्रागवस्था से संबद्ध कल्पित विवरण, जैसे—पहले इस विश्व में केवल जल था और कुछ नहीं था, इत्यादि।[1]

पर यह वस्तुतः अनवेक्षणजनित भ्रान्त मत है। इतिहास का यह अर्थ सायण के ज्ञात ग्रन्थों में कहीं नहीं है। सायण के निम्नोक्त वाक्यों पर ध्यान दें।

(१) तैत्तिरीय आरण्यक के भाष्य में सायण लिखते हैं—

इतिहासः महाभारतादयः। पुराणानि ब्रह्माण्डादीनि। यद्वा 'देवासुरा संयत्ता आसन्' इत्यादय इतिहासाः। 'आत्मा वा इदम् एक एवाग्र आसीत् नान्यत् किञ्चनमिषद्' इत्यादीनि सृष्ट्यादिप्रतिपादकानि पुराणानि। (२।९ भाष्य)

(२) ऋग्वेदभाष्यभूमिका में सायण ने कहा है—

विप्रपरिव्राजकन्यायेन ब्राह्मणाद्यवान्तरभेदानामेव इतिहासादीनां पृथगभिधानात्। 'देवासुराः संयत्ता आसन्' इत्यादय इतिहासाः। 'इदं वा अग्रे नैव किञ्चनासीद्' इत्यादिकं जगतः प्रागवस्थामुपक्रम्य सर्गप्रतिपादकं वाक्यजातं पुराणाम् (पृ० ३७ चौखम्बा संस्क०)। इस सन्दर्भ में उद्धृत दोनों वाक्य यथाक्रम तै० सं०।५।३।११।१ तथा तै० ब्रा० २।२।९।१ के हैं।

(३) ऐतरेयब्राह्मणभाष्य के उपक्रम (पृ० ४) में भी सायण ने ऐसा ही कहा है।

सायण ने उपर्युक्त सन्दर्भों में इतिहास (और पुराण) का जो लक्षण दिया है, वह आचार्य शंकर को भी अनुमत है (द्र० बृहदारण्यक भाष्य २।४।१०)। पर्जिटर

---

1. Itihasas according to Sayana are cosmological myths or accounts, such as—In the beginning this Universe was nothing but water etc. (P. 34. Foote-Note 4). यहाँ पर्जिटर ने Water (जल) शब्द का प्रयोग किया है, जो सर्वथा अलीक है। यह 'अप्' है, जिसको हम 'कारणसलिल' कह सकते हैं (द्र० मनु १।८)।

के कथन से ऐसा जान पड़ता है कि सायण ने इतिहास का जो अर्थ किया है, वह उनके द्वारा उद्भावित है, अतः उन्होंने 'according to सायण' लिखा है, पर हम देखते हैं कि सायण से प्राचीन शंकर भी वैसा ही अर्थ करते हैं।

[२]

इस ग्रन्थ के २७ वें अध्याय में वैदिक शाखा पर श्री पर्जिटर ने विचार किया है। पर्याप्तश्रमपूर्वक यह विवरण प्रस्तुत किया गया है, इसमें संशय नहीं।

इस अध्याय में एक ऐसा स्थल है, जहाँ श्री पर्जिटर ने पर्याप्त ध्यान नहीं दिया, ऐसा प्रतीत होता है। सामसंहिताओं के विवरण में पर्जिटर लिखते हैं कि सामशाखा-प्रवक्ता हिरण्यनाभ ने ५०० संहिताओं का प्रवचन किया और अपने प्राच्य सामग नामक शिष्यों को पढ़ाया। विष्णुपुराण में साम की पञ्चदश संहिताओं का उल्लेख है, यद्यपि अन्य पुराणों में पञ्चशत संख्या ही कही गई है (पृ० ३२४)।[1]

हमने इस विषय पर विचार किया तो देखा कि वस्तुतः विष्णुपुराण में "उदीच्यसामगाः शिष्याः तेभ्यः पञ्चदश स्मृताः" (३।६।४)—पाठ विद्यमान है (श्रीधरी टीका सह जीवानन्द का संस्करण)। श्रीधरी टीका में भी पञ्चदश पाठ ही मुद्रित हुआ है।

पूर्वापर विचारने से पता चलता है कि विष्णुपुराण का यह पाठ संगत नहीं है और 'पञ्चशतम्' पाठ ही होना चाहिए (पञ्चदश के स्थान पर), यह भी तर्क से तथा पुराणान्त-संवाद से निर्णीत होता है। पर्जिटर ने विष्णुपुराण के पाठ का निर्देश तो कर दिया, पर उस पाठ की असमीचीनता या मुद्रण-प्रमाद-जन्यता पर कुछ भी विचार नहीं किया।

अनुसंधान से पता चलता है कि विष्णुपुराण का प्रकृत पाठ भी "पञ्च-शतम्" ही था, "पञ्चदश" नहीं और जीवानन्द संस्करण में मुद्रण-प्रमाद हो हुआ है। इसका प्रमाण यह है कि श्रीधर स्वामी ने विष्णुपुराण के इन श्लोकों को भागवत की टीका में उद्धृत किया है, ("यथैवोक्तं वैष्णवे" कहकर)। यहाँ 'पञ्चशतम्' पाठ ही मिलता है। इससे यह सिद्ध होता है कि पर्जिटर ने विष्णुपुराणीय 'पञ्चदश' पाठ को प्रकृत पाठ मानकर 'विष्णुपुराण के अनुसार

---

१. हिरण्यनाभ made 500 संहिताs also (15, विष्णुपुराण) and taught them to his disciples, who were called the eastern Saman chanters (A. I. H. T. p. 324).

१५ शाखा हैं' ऐसा जो कहा है, वह उनका अनवेक्षण-दोष है। "पञ्चदश शाखा" होना विष्णुपुराण का मत नहीं है, बल्कि यह मुद्रण-प्रमाद है। यदि पर्जिटर श्रीधरकृत भागवतटीका का पर्यवेक्षण करते, तो उनको यह भ्रम न होता।[1]

प्रसंगतः हम कह देना चाहते हैं कि विष्णुपुराण के जीवा० संस्करण में पाठ-भ्रष्टता प्रचुर है, पर हर्ष का विषय है कि दर्शनशास्त्र की टीकाओं में इस पुराण के अनेक श्लोक उद्धृत मिलते हैं, अतः उद्धृत पाठों को देखकर हम बहुत दूर तक मूल पाठ का निर्णय कर सकते हैं।

---

१. श्रीधरोद्धृत पाठ यह है—यथैवोक्तं वैष्णवे-उदीच्यसामगाः शिष्यास्तस्य पञ्चशतां स्मृताः (१२।६।७८ श्लोक की टीका)। इससे यह सिद्ध होता है कि विष्णुपुराण के अनुसार भी 'पञ्चशत शिष्य' ही हैं, पञ्चदश नहीं।

: ३६ :

भागवत-प्रयुक्त 'परिणूत' शब्द का साधुत्व

भागवत का पद्य है—

पृथयेत्थं कलपदैः परिणूताखिलोदयः (१।८।४४)। इस 'परिणूत' शब्द पर श्रीधर स्वामी कहते हैं—"णु स्तुतावित्यस्मात् परिणूतेति वक्तव्ये दीर्घः छन्दोऽनुरोधेन" अर्थात् णुधातु से 'परिणुत' शब्द ही बनता है, अतः 'नूत' प्रयोग (ह्रस्व के स्थान पर दीर्घ होना) छन्द मिलाने के लिये हैं।

हमारी दृष्टि में यह कथन सदोष है क्योंकि परिणूत शब्द सर्वथा साधु है। इस विषय में निम्नोक्त युक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

धातुपाठ में जैसा 'णु' धातु पठित है, उसी प्रकार 'णू' धातु भी है (पहला अदादिगणीय २।२७[1] तथा दूसरा तुदादि गणीय ६।९७)। तुदादिगणीय णू धातु से 'क्त'-प्रत्यय करने पर 'नूत' रूप होगा, इडागम नहीं होगा, अतः परि + नूत= परिणूत (णत्व होकर) रूप यथाशास्त्र उपपन्न ही होता है। यद्यपि किसी-किसी के अनुसार 'नुवित' रूप भी होता है, पर यह एकदेशी मत है (द्र० क्षीरतरङ्गिणी ६।९७)। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि 'नुत' को छन्द मिलाने के लिये 'णूत' बनाया नहीं गया, बल्कि 'नूत' साधु शब्द ही है।

एक और बात विचार्य है। क्या अनुष्टुप्छन्द के लिये यह आवश्यक है कि द्वितीय चरण का तृतीय अक्षर सर्वदा दीर्घ ही हो। द्वादश प्रकार के अनुष्टुपों में जो र-विपुलावक्त्र अनुष्टुप् है (वृत्तरत्नाकर २।४९ इत्थमन्यो रश्चतुर्थात्) उसमें द्वितीय चरण का तृतीय अक्षर दीर्घ नहीं होता। कविभारति के अनुसार इसका उदाहरण है—

नास्ति वक्तुं यन्न वेत्सि देहीति च याचके यम्।
सर्वज्ञोऽसि त्वं न तस्मात् पराक्रम बाहुदेवः॥

यहाँ द्वितीय चरण का (तथा चतुर्थ चरण का भी) तृतीय अक्षर लघु ही है। भागवत का प्रकृत श्लोक अनुष्टुप् के किस वर्ग में आता है, यह अभी

---

१. यह सङ्ख्या क्षीरतरङ्गिणी-धातुवृत्ति के अनुसार है, जो रामलाल कपूर ट्रस्ट के द्वारा प्रकाशित है (यह वृत्ति प्रचलित धातुवृत्तियों में प्राचीनतम है)।

अन्वेष्य है। अनुष्टुप् का जो सुप्रसिद्ध रूप (पथ्यावक्त्र-नामक) है, तदनुसार यह श्लोक नहीं है, क्योंकि इस पद्य में षष्ठ अक्षर गुरु नहीं है। जब तक यह सिद्ध न हो जाय कि भागवत के इस पद्य में तृतीय अक्षर (यहाँ 'णू') को गुरु करना आवश्यक है, तब तक 'छन्द मिलाने के लिये लघु को गुरु किया गया है' ऐसा कहना संगत नहीं है।

यहाँ यह विचार भी होना चाहिए कि क्या छन्द मिलाने के लिये इस प्रकार का वर्णव्यत्यय प्राचीनतम शाब्दिक आचार्यों के द्वारा अनुशिष्ट हुआ है ? जिस भाषा में 'र' स्थान में 'ल' हो जाना म्लेच्छन माना जाता है, उदात्त के स्थानपर अनुदात्त हो जाने पर अर्थ-विपर्यय हो जाता है, उस भाषा में छन्द मिलाने के लिये लघु को गुरु करना क्या संगत होगा ?

: ३७ :

स्कन्दपुराण-गत वैदिक सामग्री का निर्देश

पुराण और वेद का सम्बन्ध अत्यन्त घनिष्ठ है, अतः वेदार्थ के लिये पुराणगत वैदिक सामग्री का अध्ययन-मनन आवश्यक है। **इतिहास पुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्** वाक्य इस विषय में प्रसिद्ध है। श्री जीवगोस्वामी ने तत्त्व सन्दर्भ में कहा है कि शास्त्र का आदेश है कि वेदार्थ का उपबृंहण पुराण से करना चाहिए। वेदार्थ का पूरण पुराण से कर्तव्य है और इसीलिये 'पुराण' यह नाम प्रचलित हुआ है; जैसे कनकवलय का पूरण त्रपु से नहीं होता, बल्कि तत्-सजातीय कनकादि से ही होता है, वैसे वेद-पूरणकारी पुराण को वेदरूप ही समझना चाहिए। महाभारत-पुराणादि में यदि वेदत्व नहीं है, तो महाभारत को 'पञ्चम वेद' कहना भी उचित नहीं है, क्योंकि सजातीय पदार्थों में ही पूरण-वाचक संख्याशब्दों का प्रयोग होता है।

पुराण में वैदिक विषय किस रूप में हैं, इसको दिखाने के लिये इसप्रकरण में स्कन्दपुराणोल्लिखित[1] वैदिक सामग्री का अपूर्ण और संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है। हमने कुछ प्रधान स्थलों का ही निर्देश किया है। निर्दिष्टस्थल के आस-पास भी वैदिक सामग्री का वर्णन है, ऐसा जानना चाहिए,

---

१. स्कन्दपुराण में कहा गया है कि इस पुराण के सात खण्ड के प्रत्येक खण्ड में १२००० श्लोक हैं, जिससे पूरी श्लोकसंख्या ८४००० होती है। [७ (१) २।१०१-१०४]। इन ७ खण्डों के अतिरिक्त कतिपय संहिताओं (सनत्कुमार, सूत इत्यादि नाम वाली) को गणना भी इस पुराण में को जाती है, जो मुद्रित पुराण में नहीं मिलतीं, पर पृथक् मिलती हैं। स्कन्दपुराण को 'पञ्चाशत् खण्डमण्डित' कहा जाता है, पर ये ५० खण्ड कौन-कौन हैं, यह अभी अनिश्चित है। प्रसंगतः इतना और जानना चाहिए कि स्कन्दपुराण के नाम से ऐसे अनेक वचन मध्वादि दार्शनिकों के ग्रंथों में एवं निबन्ध ग्रन्थों में उद्धृत हैं, जो मुद्रित पुराण में नहीं मिलते।

यद्यपि यहाँ उन स्थलों का उल्लेख नहीं किया गया। यह सूची वेंकट० संस्क० पर आधृत है।[1]

यह ज्ञातव्य है वेंकटेश्वर संस्करण के मुद्रण में कई प्रकार के प्रमाद विद्यमान हैं। जिन अध्यायों में १०० से अधिक श्लोक हैं, उनमें प्रायेण १०० के बाद श्लोक-संख्या में १०१, १०२ इत्यादि न लिखकर केवल १, २ लिखा गया है (यद्यपि इस सूची में हमने यथार्थ संख्याओं को ही लिखा है), इसलिये पुराण के निर्दिष्ट स्थल को ढूँढ़ने के समय अच्छी तरह से संख्या पर ध्यान देना चाहिए। कभी-कभी गलत संख्याएँ छपी हैं, वहाँ भी ध्यान से देखना चाहिए। श्लोकों का पाठ अनेक स्थानों पर भ्रष्ट है, और अर्थ भी ठीक से नहीं लगता। हमने यहाँ पाठ-संशोधन की ओर ध्यान न देकर यथावत् पाठ को ही उद्धृत किया है। श्लोकों पर विचार करने के पहले बंगवासी संस्करण के पाठ को देख लेना चाहिए; इससे पाठ-निर्णय में कुछ सुविधा होगी। कितना ही अच्छा हो कि पुराणभक्त जनता के अर्थ से निर्मित मन्दिर-मठ आश्रम के अधिकारी अपने साधारण भाषण और लेखों का प्रकाशन कुछ दिन के लिये अंशतः स्थगित कर पुराणों का अच्छा प्रकाशन कर दें, जिससे सनातन वैदिक धर्म का बहुत बड़ा उपकार हो जाय।

वेद का स्वरूप, लक्षण इत्यादि—वेद-स्वरूप और सूक्त के विषय में कहा गया है—"वेदो मन्त्रमयो नित्यं तथा सूक्तमयो भृशम्। सूक्ते प्रतिष्ठितो ह्यात्मा सर्वेषामेव देहिनाम्" [१(१)१।४४]। सूक्त में देहियों की आत्मा प्रतिष्ठित है, इस मत पर विचार करना चाहिए। वेद से पृथिवी विधृत है, यह भी कहा गया है—'गोभिर्विप्रैश्च वेदैश्च सतीभिः सत्यवादिभिः। अलुब्धैर्दानशीलैश्च सप्तभिः धार्यते मही' [१(२)२।७०]।

वेद को सोपनिषत् कहा गया है [१(१)२।२३]। वेद-उपनिषत् का नाम १(२)५।१९ में भी है।

वेद के आविर्भाव आदि के विषय में एक मननीय तथ्य कहा गया है—

आकाशसंभवो वेद एक एव पुराभवत्

---

१. आकारस्थलनिर्देश का प्रकार यह है—१ (२) १।३=महेश्वरखण्डान्तर्गत कुमारिका खण्ड के प्रथम अध्याय का तीसरा श्लोक। ४।१।५०=काशी-खण्डान्तर्गत प्रथमाध्याय का ५०वाँ श्लोक; चूँकि काशीखंड अवान्तर खण्ड नहीं है, अतः कोष्ठकबद्ध संख्या की आवश्यकता नहीं है; जहाँ किसी खण्ड के अवान्तर खण्ड हैं, वहाँ कोष्ठकबद्ध संख्या [(१), (२)] का निर्देश रहेगा।

ततो यजुः सामसंज्ञाम् ऋग्वेदः प्राप भूयते ।
ऋग्वेदोऽभिहितः पूर्वं यजुः सहस्रशीर्षेति च ।
[३ (३) ७।८-९]

वेदों के नाम अनेक स्थान पर लिए गए हैं, यथा—बह्वृच, सामवेद [६।१९।१९-२५]।

वेदस्वरूप के विशद ज्ञान के लिये इस पुराण में जो 'त्रयीमयो धेनु' का विवरण दिया गया है, हमें उसे देखना चाहिए। हम संबद्ध श्लोकों का उद्धरण दे रहे हैं—

सर्वस्याधारभूता या वत्सधेनुस्त्रयीमयी ।
अस्यां प्रतिष्ठितं धर्मं विश्वहेतुश्च या मता ॥
ऋक्पृष्ठासौ यजुः सन्ध्या सामकुक्षिपयोधरा ।
इष्टापूर्वविषाणा च साधुसूक्ततनूरहा ॥
शान्ति–पुष्टिशकृन्मूत्रा वर्णपादप्रतिष्ठिता ।
उपजीव्यमाना जगतां पदक्रमजटाघनैः ॥
स्वाहाकार-स्वधाकारौ वषट्कारश्च पुत्रक ।
हन्तकारस्तथैवान्यः तस्यास्तनचतुष्टयम् ॥
स्वाहाकारस्तनं देवाः पितरश्च स्वधामयम् ।
मुनयश्च वषट्कारं देवभूतसुरेश्वराः ।
हन्तकारं मनुष्याश्च पिबन्ति सततं स्तनम् ।
एवमध्यापयेदेव वेदानां प्रत्यहं त्रयीम् ॥
[३(२)६।५-१०]

वेद-पुराण-संबंध पर एक श्लोक सुनिए—

वेदाः प्रतिष्ठिता नित्यं पुराणे नात्र संशयः
[५ (३)१।२४]

'इति वैदिकी श्रुतिः' ऐसा अनेक वार कहा गया है, यथा—'आदौ अभ्यागता पूज्या इतिवै वैदिकी श्रुतिः' [१(१)१२।५८], पुनश्च 'तथा श्रुतिः' कहकर 'वरूथं दक्षिण लोके····' इत्यादि श्लोक कहा गया है [१(२)२।८३]। कहीं कहीं 'वेदानुशासन' का उल्लेख है [१(१)१६।३९]।

वेद महिमा[1]—वेद-प्रामाण्य के विषय में एक श्लोक इस प्रकार आया है—'वेदाः प्रमाणं स्मृतयः प्रमाणम् धर्मार्थयुक्तं वचनं प्रमाणम्। नैतत् त्रयं यस्य भवेत् प्रमाणं कस्तस्य कुर्याद् वचनं प्रमाणम्' [१(२)४०।३०]। वेद की

पवित्रता केवल उसके अध्ययन में नहीं, बल्कि आचरण में है, यह 'न च्छन्दांसि वृजिनात् तारयन्ति....' इत्यादि श्लोक में कहा गया है [१(२)११।८९]। श्रुत्यादि को ज्ञान-हेतु माना गया है—श्रुतिस्मृतिपुराणं च विद्योपनिषदस्तथा.... वेदानुवचनम्....आत्मनो ज्ञानहेतवः [४।४१।३९-४०]। श्रुति को विप्रचक्षु कहा गया है—"श्रुतिः स्मृतिश्च विप्राणां चक्षुषी परिकीर्तिते, श्रुति-स्मृति-पुराणानि विदुषां लोचनत्रयम्" [५(३)१।१५-१६]।

वेद महिमा सम्बन्धी अनेक श्लोक इस पुराण में हैं, संक्षेपार्थ उनका उल्लेख यहाँ छोड़ दिया गया है।

वेदपाठ और वेदाध्ययनरीति—वेदपाठ के विषय में एक उदात्त उक्ति सुनिए—

"स्वाध्यायशब्दं सुपदं स्पष्टवर्णक्रमस्वरम्"
[२(२)२२।३३]।

वेदपाठ अर्थ सहित होना चाहिए, उसके विना पाठ व्यर्थप्राय है, इस विषय में एक सुन्दर उपमा इस प्रकार दी गई है—नदीहीनमिमं देशं दृष्ट्वा खिद्यति मे मनः। अर्थावबोधरहितं श्रुतिपाठमिवाधिकम् [२(१)३२।४०]। नदीहीन देश की तरह अर्थज्ञानहीन वेदपाठ भी व्यर्थ हो है !!

त्रयीवित् शब्द १(२)।६।३७ में आया है।

पञ्चप्रकार वेदाभ्यास के विषय में एक महत्त्वपूर्ण श्लोक यह है—

'श्रुत्यभ्यासः पञ्चधा स्यात् स्वीकारोऽर्थविचारणम्।
अभ्यासश्च तपश्चापि शिष्येभ्यः प्रतिपादनम्॥'
[३(२)५।१४]।

वेदपाठी ब्राह्मण एवं यज्ञक्रिया से सम्बन्धित निम्नोक्त सन्दर्भ अर्थगंभीर है—

पूजयित्वा ततो विप्रा देवान् ब्रह्मपुरोगमान्।
ब्रह्माग्रे उपविष्टास्ते वेदानुच्चारयन्ति हि॥
संहितां च पदं चैव क्रमं घनं तथैव च।
उच्चैः स्वरेण कुर्वीत ऋचामृग्वेदसंहिताम्॥

---

१. 'मन्त्रे तीर्थे द्विजे देवे दैवते भिषजे गुरौ। यादृशी भावना यस्य सिद्धि र्भवति तादृशी' [३ (४) १७।८]; इस वाक्य से मन्त्र की शक्तिमत्ता ज्ञात होती है। यह श्लोक पञ्चतन्त्र में उद्धृत है।

सामगाश्च प्रकुर्वन्ति स्तोत्राणि विविधानि च ।
शस्त्राणि च तथा याज्या पुरोऽनुवाक्यास्तथा ।।
चतुरक्षरं परं चैव चतुरक्षरमेव च ।
द्व्यक्षरं च तथा पञ्चाक्षरं द्व्यक्षरमेव च ।।
एतद् यज्ञस्वरूपं च यो जपेद् ज्ञानपूर्वकम् ।
अन्ते ब्रह्मपदप्राप्तिः सत्यं सत्यं वदम्यहम् ।।
[३(२)३९।५-८]

मन्त्र सूक्तादि के नाम—वेदगत विशिष्ट सूक्तादि के नाम भी इस पुराण में यत्र-तत्र मिलते हैं, निदर्शनार्थ कुछ नामों का निर्देश किया जा रहा है—

शतरुद्र—७(१)४।४२; [कहीं-कहीं शतरुद्रिय शब्द है]
स्कन्दसूक्त—६।७।१६–१७;६।१९१।१९–२५;
गर्भोपनिषत्—६।७१६–१७;६।१९१।१९–२५;
नीलरुद्रोपनिषत्—६।७।१६–१७;
रुद्रसूक्त—६।७।१६–१७;६।१९१।१९–२५;
विष्णुसूक्त—६।७।१६–१७;
श्रीसूक्त—६।१९१।१९–२५;
जीवसूक्त—६।१०१।१९–२५;
पुरुषसूक्त—६।१९१।१९–२५;
मधुब्राह्मण—६।१९१।१९–२५;
छान्दोग्य—६।१९१।१९–२५;
द्वादश रुद्रिय—६।५२।२८;
पवमानीसूक्त—४।३५।१०३
शाकुनसूक्त—२।२।२७।८२
जाबालोपनिषत्—३।१।३५।४५[1]

सूक्तादि की तरह मन्त्रों का (संहिता-ब्राह्मण-सूक्तोक्त) निर्देश भी मिलता है। यहाँ हम मन्त्रों के केवल आरम्भिक अंश को ही दे रहे हैं, क्योंकि पुराण में भी मन्त्रप्रतीक ही दिया गया है। चूँकि एकाधिक वार विभिन्न अध्यायों में ये मन्त्र पठित हुए हैं, इसलिये अध्यायसंख्या नहीं दी गई है [मन्त्रपाठ कहीं-कहीं भ्रष्ट है]।

---

१. इन सूक्तों की पहचान के लिये मेरा 'पुराणगत वेदविषयक सामग्री का समीक्षात्मक अध्ययन' नामक अप्रकाशित ग्रन्थ द्रष्टव्य है।

१। उरुं हि····
२। ये ते शतम्····
३। सुमित्रिया नः····
४। दुर्मित्रिया····
५। इदं विष्णुः····
६। आपो अस्मान्····
७। उदिदाभ्यः शुचिः····
८। मा नस्तोक····
९। इमं मे वरुण····
१०। तत्त्वा यामि····
११। त्वन्नः····
१२। इदं विष्णु····
१३। मापो मोषधीः····
१४। यदाहुरघ्न्या····
१५। मुञ्चन्तु मा····
१६। अवभृथ····
१७। आपो हि ष्ठाः····
१८। इदमापः····
१९। हविष्मतीः····
२०। देवीरापः····
२१। अपो देवा····
२२। द्रुपदादिव····
२३। शन्नो देवी····
२४। अपो देवी····
२५। अपां रसम्····
२६। पुनन्तु मा····
२७। आपो ज्योतिः····
२८। चतुःस्रक्तिः····
२९। सूर्यश्च····
३०। अग्निमीले····
३१। ऋतञ्च····
३२। अन्तश्चरसि····
३३। उद्वयम्····
३४। उदु त्यं····
३५। चित्रं देवानाम्····
३६। तच्चक्षुः····
३७। उदीरतां····
३८। अङ्गिरस····
३९। आयान्तु नः····
४०। ऊर्जं वहन्ती····
४१। पितृभ्यः स्वधा····
४२। ये चेह····
४३। मधुवाता····
४४। नमो वः पितरः····
४५। ओं पुण्य····
४६। अग्निश्च रेतो मृडया च····

इस प्रकार अन्य मन्त्र भी उद्धृत हैं, संक्षेपार्थ केवल इतने मन्त्र उद्धृत किए गए हैं।

वैदिक शब्द की शक्ति—सामवेद और उसके मन्त्र के विषय में यह श्लोक द्रष्टव्य है—'यदुक्तं मन्त्रविविधा सामवेदे वधात्मकम्। तस्य तै र्दारुणैर्मन्त्रै र्जुह्वतो जातवेदसम्' [६।१६१।३४]।

आथर्वणमन्त्र के विषय में कहा गया है—"शोषणी नाम सा विद्या पुरागस्त्येन साधिता आथर्वणेन मन्त्रेण" (६।६०।२)। पुनश्च आथर्वण मन्त्र के विषय में "निजमन्त्रैश्च सा तेन स्तम्भताथर्वणोद्भवैः" [६।१६१।४५] कहा गया

है। स्तम्भनादिकर्म में अथर्ववेद का प्रभाव पुराणों में स्वीकृत हुआ है। पुनश्च अथर्ववेदीय मन्त्र के विषय में कहा गया है—"अथर्ववेदस्य चाद्यन्ते पठिते तस्य चाग्रतः। शत्रु र्विलयमभ्येति वृष्टिः सञ्जायते द्रुतम्" [६।१६६।२१]। आथर्वण रौद्रमन्त्र का उल्लेख ६।१४६।२ में है।

वेद और यज्ञ[1]—यज्ञसंबन्धी पुष्कल विवरण स्थान-स्थान पर मिलता है। नागरखण्ड में 'अध्वर्यु, होता, ब्रह्मा, आग्नीध्र, उद्गाता, प्रतिहर्त्ता, प्रस्तोता, उन्नेता, नेष्टा, अच्छावाक' आदि का उल्लेख है (६।५।५–८)।

विष्णुखण्ड में 'यज्ञमय वराह' का रुचिर रूप-वर्णन द्रष्टव्य है। हम यहाँ संबद्ध श्लोकों को उद्धृत कर रहे हैं—

प्रतिपेदे तदा रूपं भूसमुद्धरणोचितम्।
उपकर्मोष्ठमनलजिह्वं प्रणवघोषणम्॥
चतुराम्नायचरणं प्रायश्चित्तखुराञ्चितम्।
प्राग्वंशकायं विलसद् दर्भरोमावलीयुतम्॥
प्रवर्ग्यावर्तसम्पन्नं दक्षिणाग्न्युदरान्वितम्।
स्रुक्तुण्डमखिलैः सर्वैः संविभक्ताङ्गसन्धिकम्॥
दिव्यसूक्तजटाजालं परब्रह्मशिरस्तथा।
हव्यकव्यरयोपेतं विशुद्धपशुजानुकम्॥
उक्तात्युक्तादिकच्छन्दो मार्गमन्त्रबलान्वितम्।
सर्वयज्ञमयं दिव्यं वाराहं वपुरास्थितः॥
[२(१)३६।४-८]

यहाँ यज्ञसंबद्ध निम्नोक्त पदार्थों का उल्लेख है—

उपाकर्म, प्रणवघोष, चतुराम्नाय, प्रायश्चित्त, प्राग्वंश, दर्भ, प्रवर्ग्य, दक्षिणाग्नि, स्रुक्, दिव्यसूक्त, परब्रह्म, हव्य-कव्य, विशुद्धपशु, छन्दोमार्ग, मन्त्र।

'यज्ञवराह' का वर्णन अन्यत्र भी आया है, यथा—

यूपदंष्ट्रो हविर्गन्धो बीजौषधितनूरुहः।
वेदपादः शुचिर्दण्डी जिह्वाग्निस्तालुकाहुतिः॥

---

१. पुरूरवाः के द्वारा त्रेता-अग्नि का आविष्कार ३(१)२८।२० में कहा गया है। अन्यान्य पुराणों में भी यह घटना कही गई है।

अन्तरास्यरुचा दाढ्यों यज्ञकायः सुदक्षिणः ।
उद्गानघुर्घुरान्नादो विहार ऋत्विजाकृतिः ॥
हौत्रश्वासपरो दक्षसदस्यावयवः स्मृतः ।
पुच्छकर्माशनो नित्यं यजमानसुमानदः ॥
वेदिपल्वलसंस्तारो ब्रह्माध्वर्युर्वनाकरः ।
लोककल्पो लोकसाक्षी परावरवहः शुचिः ॥

[५(१)५२।४३-४६]

इन श्लोकों में निम्नोक्त यज्ञीय पदार्थों का उल्लेख है (श्लोक पाठ कहीं-कहीं ईषत् भ्रष्ट है)—

यूप, घृत, बीज, ओषधि, वेद, दण्ड, अग्नि, आहुति, दक्षिणा, उद्गान, ऋत्विज, हौत्र, अशन, यजमान, वेदि, अध्वर्यु इत्यादि ।

मन्त्रों की व्याख्या—पुराणों का यह वैशिष्ट्य है कि उनमें कहीं-कहीं वेद-वाक्यों की व्याख्या मिल जाती है। स्कन्द में भी कहीं-कहीं ऐसी व्याख्या उपलब्ध होती है। उदाहरणार्थ पुरुषसूक्त की व्याख्या दी जा रही है—

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् ।
स भूमिं सर्वतो व्याप्य अध्यतिष्ठद् दशाङ्गुलम् ॥
यः पुमान् परमं ब्रह्म परमात्मेति गीयते ।
भूतं भव्यं भविष्यं च सर्वं पुरुष एव तत् ॥
एतावानस्य महिमा ज्यायानेष पुमान् प्रभुः ।
पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ॥
छन्दांसि जज्ञिरे त्वत्तस्ततो यज्ञपुमानपि ।
त्वत्तोऽस्याश्वा व्यजायन्त गावो मेषादयस्तथा ॥
ब्राह्मणा मुखतो जाता बाहुजा क्षत्रियास्तव ।
विशस्तवोरुजा पद्भ्यां तथा शूद्राः समागताः ॥
मनसश्चन्द्रमा जातो चक्षुषस्ते दिवाकरः ।
कर्णाभ्यां श्वसनः प्राणैर्जिह्वाया हव्यवाडपि ॥
नाभितो गगनं द्यौश्च मूर्धस्ते समवर्तत ।
पदाभ्यां ते धरा जाता दिशश्चाष्टौ श्रुतेर्गताः ॥
सप्तासन् परिधयस्त्वत्त एकविंशत् समिद्धवै ।
चराचराः सर्वभावास्त्वत्त एव हि जज्ञिरे ॥

[२ (२) २३।६-११]

प्रकीर्ण वैदिक विषय

(१) वेदोक्त अहिंसासाधक युक्तियाँ [३ (२) ३६ अध्याय] ।

(२) तीन प्रकार की भक्ति—लौकिकी, वैदिकी एवं आध्यात्मिकी [५(१) ७।५ से कुछ श्लोकों में] ।

(३) वेद की दृष्टि में गार्हस्थ्याश्रम की उत्कृष्टता—'गार्हस्थ्यं च प्रशंसन्ति वेदाः सर्वेऽपि नारद' [१ (२) १९।११४] ।

(४) वेदसूत्रकारक कात्यायनसुत [६।१२६।६९] । पुनश्च 'कात्यायनाभिधानां च यज्ञविद्याविचक्षणम्' [६।१२८।४७] कहा गया है ।

(५) शौनकीय धर्मशास्त्र—'आत्मनो वेदविद्या या ईश्वरेण विनिर्मिता । शौनकीया च पौराणी धर्मशास्त्रात्मिका च या ।। तिस्रो विद्या इमा मुख्याः [५ (३) १।१७-१८] ।

(६) वेदशब्दात्मक शिवस्तोत्र [३।१।३ अध्याय] ।

: ३८ :

मैत्री : इतिहासपुराणादिशास्त्रों की दृष्टि में

(१) भारतीय संस्कृति का एक महान् वैशिष्ट्य यह भी है कि वह सार्वजनीन मैत्री को पोषिका है। केवल आध्यात्मिक क्षेत्र में नहीं, बल्कि लौकिक व्यवहार के क्षेत्र में भी भारतीय मानस यथासंभव सार्वभौम मैत्री को हृदय से अपनाता है। हमारे पूर्वाचार्यों ने इस सार्वभौम मैत्री या विश्वबन्धुत्व के विषय में जो अनुकरणीय विचार व्यक्त किए हैं, उनका यहाँ एक संक्षिप्त निदर्शन प्रस्तुत किया जा रहा है। आशा है हमारे वर्तमान समाज में यह मैत्रीभाव अपनी महिमा में विराजमान होकर इस देश को पुनः जगद्गुरु के पद पर आसीन कराएगा।

भारत की सर्वाधिक महती विद्या योग है। योग ही भारत का अनन्य शरण है और सभी सम्प्रदायों में यह योगविद्या ही किसी-न-किसी रूप में आचरित एवं संमानित होती है। मैत्रीसाधन इस योग विद्या का एक अंग है जैसा कि पतंजलि ने कहा है–"मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातः चित्तप्रसादनम्" (१।३३) यथायोग्य विषय में मैत्री की भावना से चित्त का प्रसाद होता है, यह इस सूत्र से ध्वनित होता है। इस सूत्र के भाष्य में वेद-व्यास ने कहा है कि मैत्रीभावना से शुक्ल धर्म उत्पन्न होता है, जिससे चित्त प्रसन्न होकर स्थिर होता है। समाधिसिद्धि के लिये मैत्री एक उपकारक साधन है–योग-विद्या का यह नियम विश्वमैत्री का बीजभूत है, क्योंकि यदि योगसाधन में मैत्री की आवश्यकता नहीं रहती, तो कभी भी मैत्री-आचरण के लिये पूर्वाचार्य साग्रह अनुशासन नहीं करते।

वेदव्यास से भी बहुत पहले सांख्याचार्य पञ्चशिख ने कहा था कि कि मैत्री आदि ध्यायियों के विहार हैं, जिनके आचरण से प्रकृष्ट धर्म की उत्पत्ति होती है। उनका रत्नभूत वाक्य यह है—"ये च एते मैत्र्यादयो ध्यायिनां विहारास्ते बाह्यसाधननिरनुग्रहात्मानः प्रकृष्टं धर्मम् अभिनिर्वर्तयन्ति" (४।१० योगभाष्य में उद्धृत)—ये जो मैत्री आदि ध्यायियों के विहार (सुखकर चित्तस्थैर्यसाधक आचरण) हैं, वे बाह्य साधन की अपेक्षा नहीं रखते, अर्थात् वे केवल मन से

अनुष्ठित होते हैं, उनके लिये बाह्य साधन की आवश्यकता नहीं होती। इन मैत्री आदि के आचरणों से प्रशस्त धर्म की उत्पत्ति होती है।

मैत्रीसाधन के प्रति ज्ञानोन्नत शुद्धचरित्र योगियों का यही मान्य दृष्टिकोण है। अन्यान्य प्रकार के साधन में बाह्य द्रव्य की यथासंभव आवश्यकता होती है, मैत्री साधन में वैसी कोई आवश्यकता नहीं पड़ती। किंच मैत्री से केवल बाह्य शान्ति ही नहीं मिलती बल्कि आभ्यन्तर शान्ति भी मिलती है। मैत्री के सार्वभौम आचरण से एक प्रकार का बल उत्पन्न होता है, जैसा योग सूत्र में कहा गया है—'मैत्र्यादिषु बलानि' (३।२३)[1]। इस सूत्र के भाष्य में वेदव्यास ने स्पष्टतः मैत्री की भावनात्मकता को समझाया है।

(२) वस्तुतः परमधर्मभूत योग (अयं तु परमो धर्मो यद् योगेनात्मदर्शनम्—याज्ञवल्क्य स्मृति) के आरम्भ में ही मैत्रीभावना है। वेदव्यास ने इस तथ्य को निम्नोक्त शब्दों में कहा है—"घोरेषु संसाराङ्गारेषु पच्यमानेन मया शरणमुपागतः सर्वभूताभयप्रदानेन योगधर्मः·····(३।३३)। यहाँ सर्वभूतों के प्रति अभय प्रदान करने के बाद योगाभ्यास करने का आरम्भ कहा गया है। यतः योग सर्वमहान् है, अतः सभी धर्माचरणों के मूल में मैत्रीभावना विद्यमान है; यह आर्ष दृष्टिकोण न्यायसंगत ही है।

भारतीय संस्कृति के मूलभूत योगधर्म की यह मैत्रीभावना सर्वथा सार्वभौम[2] होती है। यद्यपि सांसारिक पुरुषों के लिये सार्वभौम मैत्री का आचरण संभव नहीं है, पर मैत्री की सार्वभौम भावना हो सकती है। तिरस्कार, शासन, दुष्ट दमन आदि के साथ भी मैत्री की भावना हो सकती है। कैसे ऐसा आचरण संभव

---

१. मैत्री-करुणा-मुदिता-उपेक्षा रूप चार शील को बौद्ध ब्रह्मविहार करते हैं। योगधर्म में ये शील चिरकाल से प्रतिष्ठित हैं। इनके अभ्यास के विना समाधिसिद्धि नहीं हो सकती यह योगियों की मान्यता है।

२. सार्वभौम का अर्थ यह है—सत्य, अहिंसा आदि का आचरण जब जाति-देश-काल-समय से अवच्छिन्न नहीं होता, तब वे सार्वभौम कहलाते हैं। (२।३१ योगसूत्र)। सभी धर्माचारी व्यक्ति सत्य, अहिंसा आदि का कुछ-न-कुछ आचरण करते ही हैं पर जब इन सबों का पूर्णतः आचरण किया जाता है, तब वे सार्वभौम कहलाते हैं। इसका दूसरा नाम 'महाव्रत' है। व्यवहार-क्षेत्र में पूर्णतः आचरण असंभव होने पर भी चूँकि आदर्श वही रहता है, इसलिये कभी-न-कभी पूर्णतः आचरण करने की संभावना भी रहती है।

है, यह धर्मशास्त्रों में वर्णित है और जिज्ञासुओं को उन ग्रन्थों का अध्ययन कर इस रहस्य को जानना चाहिए।

अब हम पूर्वाचार्यों के ग्रन्थों से मैत्रीसम्बद्ध वाक्यों का संकलन कर मैत्रीधर्म उस पर विचार करना चाहते हैं।

(३) धर्म का आचरण मैत्री के विना कदापि नहीं हो सकता, और धर्म के रहस्यज्ञान के लिये विश्वमैत्री अत्यावश्यक है—इस मत का प्रतिपादक श्लोक महाभारत में मिलता है, यथा—

वेदाहं जाजले धर्मं सरहस्यं सनातनम्।
अद्रोहेणैव भूतानाम् अल्पद्रोहेण वा पुनः॥
सर्वेषां च सुहृन् नित्यं सर्वेषां च हिते रतः।
कर्मणा मनसा वाचा स धर्मं वेद जाजले॥[1]

(शान्ति० २६१।५-६)

अन्यत्र महाभारत में विश्वमैत्री को एक उत्तम शील कहा गया है—"अद्रोहः सर्वभूतेषु कर्मणा मनसा गिरा, अनुग्रहश्च दानं च शीलमेतत् प्रशस्यते" (शान्ति० १२४।६६)। सर्वभूत में जो अद्रोह है, वह निश्चयेन विश्वबन्धुत्व का नामान्तर है।

महाभारत में कितने ही ऐसे स्थल हैं, जहाँ 'सर्वभूतसदृङ मैत्रः' वाक्य सर्वोच्च धर्माचरणकारी के विशेषण में कहा गया है। 'सर्वभूतमैत्री' का बार-बार उल्लेख पुराणों में भी मिलता है।

मत्स्य० में सात स्वर्गप्राप्ति के उपाय कथित हुए हैं (३९।२२)। उनमें एक सर्वभूतानुकम्पा भी है। किंच भूतदया को स्पष्टतः सनातन धर्म का मूल कहा गया है (अद्रोहश्चाप्यलोभश्च दमो भूतदया तपः * * * सनातनस्य धर्मस्य मूलमेतद् दुपासदम्)।

आचार्य हारीत एक महान् स्मृतिकार हो चुके हैं। उन्होंने १३ शील माने हैं, जिनमें 'मित्रता' की गणना है (द्र० २।६ मन्वर्थमुक्तावली)।

आचार्य याज्ञवल्क्य ने तो यहाँ तक कहा है कि लोकविद्विष्ट (अर्थात् मैत्री-भावहीन) धर्म का आचरण नहीं करना चाहिए। यथा—

---

१. यहाँ 'अल्पद्रोहेण वा पुनः' कह कर यह दिखाया गया है कि व्यवहार में सर्वथा मैत्रीभाव असंभव है; पर यदि मैत्रीभाव का आदर्श चित्त में रहे, तो दुःखबहुल संसार में भी प्रचुर सुख मिल सकता है, जो मैत्रीहीन को कदापि नहीं मिल सकता।

कर्मणा मनसा वाचा यत्नाद् धर्मं समाचरेत्
असुखं लोकविद्विष्टं धर्ममप्याचरेन् नहि ।
(याज्ञवल्क्यस्मृति १।१५६) ।

यह धारणा महाभारत से भी समर्थित होती है। यहाँ स्पष्ट कहा गया है कि जिससे प्राणियों में प्रतिकूल भावना होती है, उससे अवश्य निवृत्त होना चाहिए—"भूतानां प्रतिकूलेभ्यो निवर्तस्व यतेन्द्रियः" (शान्ति० ३१४।५) । पुनश्च शान्तिपर्व में यह भी कहा गया है कि जिस कर्म से अन्य का हित नहीं होता, उसे नहीं करना चाहिए—"यदन्येषां हित न स्याद् आत्मनः कर्म पौरुषम्, अपत्रपेत वा येन न तत् कुर्यात् कथंचन" (१२४।६७) । इन वाक्यों से यही ध्वनित होता है कि 'बहुजनहिताय बहुजनसुखाय' कर्म ही कर्तव्य है। चूँकि इस मनोभाव के मूल में मैत्रीबोध अवश्य रहता है, इसलिये मैत्रीसाधना की महत्ता स्वतः सिद्ध होती है।

(४) धर्म के साथ विश्वमैत्री का अच्छेद्य सम्बन्ध है, जैसा कि भीष्मजी ने कहा है—"धर्मं सरहस्यं सनातनम् सर्वभूतहितं मैत्रं पुराणम्' (शांति० २६१।५)। प्रवृत्तिलक्षणभूत धर्म का सार विश्वमैत्री ही है, यह भी महाभारत में स्पष्टतया कहा गया है (अनुशासन० १४१।७६) ।

विश्वमैत्रीभाव[1] के साथ 'समता' का गूढ़ सम्बन्ध है, और यह समता ही ब्राह्मण (ब्रह्मवित्) का सर्वगरिष्ठ धन है, जैसा कि वामनपुराण में कहा गया है—'नैतादृशं ब्राह्मणस्यास्ति वित्तं यथैकता समता सत्यता च' (४३।२७) । एकता और समता के साथ सार्वजनीन मैत्री का सम्बन्ध कितना घनिष्ठ है, यह कहने की आवश्यकता नहीं ।[2]

---

१. विश्वमैत्री का एक अन्य रूप यह भी है कि मैत्रीयुक्त व्यक्ति सम्पूर्ण जगत् को ही अपना देश समझते हैं। इस भावना का एक उद्गार आचार्य शंकर के कण्ठ से निकला था—'माता मे पार्वती देवी पिता देवो महेश्वरः, बान्धवाः शिवभक्ताश्च स्वदेशो भुवनत्रयम्' । यहाँ का 'स्वदेशो भुवनत्रयम्' वाक्य ध्यान देने योग्य है। व्याख्या अनावश्यक है।

२. आत्म-पर-भावना शून्य होकर सार्वभौम मैत्री पर एक अति प्रचलित वाक्य सभी जानते हैं—"अयं निजः परो वेति गणना लघुचेतसाम् । उदाररितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्" ।

भागवत में विश्वमैत्रीभावना के प्रति बहुमान प्रदर्शित किया गया है। यहाँ कहा गया है—

परमाराधनं तद्धि पुरुषस्याखिलात्मनः।
भूतप्रियहितेहा च धर्मोऽयं सार्ववर्णिकः॥

(११।१७ २१) अर्थात् सर्वभूत के प्रति प्रिय और हित करने की चेष्टा ही परमात्मा की उपासना है। यही कारण है कि सर्वभूत में आत्मदर्शन करने की साधना का प्रथम स्तर है—विश्वमैत्री। यतः विश्व में कृत्स्नशः भगवान् हैं, अतः विश्वमैत्री से परम पुरुष का आराधन संभव है--यह दृष्टि न्याय से सिद्ध होती है। मैत्रीसाधन का स्पष्ट बहुशः उल्लेख योगशास्त्र में है। इसी दृष्टि से गीता में भी कहा गया है--"अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च" (१२।२३)। इस प्रकार 'सर्वभूतहितेरतः' 'सर्वभूत दयावताम्'.....इत्यादि कितने ही वाक्य पुराणों में मिलते हैं, जिनसे विश्वबन्धुत्व सम्बन्धी भारतीय दृष्टिकोण का स्पष्ट परिचय मिलता है।

(५) मैत्रीबोध से ही परोपकार की प्रवृत्ति होती है, और यह परोपकार प्रवृत्ति ही पुराण आदि शास्त्रों से मुख्यतः उपदिष्ट हुई है। इस विषय में एक प्रचलित आभाणक है--'अष्टादश पुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयम्, परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम्'। इस पुराणोपदेश का मुख्य तात्पर्य यह है कि परोपकार से पुण्य होता है और पीड़न से पाप होता है, इसलिये परोपकार करना चाहिए और पीड़न से निवृत्त होना चाहिए (भूतानां प्रतिकूलेभ्यो निवर्तस्व जितेन्द्रियः—शान्ति० ३१४।५)।

महाभारत में यह भी कहा गया है कि मैत्रीयुक्त आचरण ही सात्त्विक है और अन्य प्रकार के मनोभाव से जो आचरण किया जाता है, उसके मूल में 'काम' है--"न तत् परस्य सन्दध्यात् प्रतिकूलं यदात्मनः, एष सांग्राहिको धर्मः कामाद् अन्यः प्रवर्तते (अनुशासन० १७५।८)। जो आचरण अपने लिये प्रतिकूल है उसे दूसरों के प्रति मैत्रीयुक्त व्यक्ति कभी नहीं करेगा। इस मैत्री व्यवहार को सांग्राहिक धर्म कहा गया है, अर्थात् इससे 'लोकसंग्रह' होता है। व्यवहार में लोकसंग्रह को आवश्यकता है, पर वह प्रचार (आत्मख्याति) के लिये नहीं, क्योंकि उसके मूल में 'काम' रहता है, मैत्री नहीं। लोकसंग्रह विद्वान् का कर्त्तव्य है। यह सत्य गीता में भी स्वीकृत हुआ है। अब विचारना चाहिए कि लोकसंग्रह यदि भारतीय संस्कृति में सम्मानार्ह कृत्य के रूप में स्वीकृत है, तो उसके मूल में जो मैत्रीबोध है, वह भी इस संस्कृति का एक महान् अंश होगा।

(६) भारतीय आचार्यों ने जिस अहिंसा, सत्य आदि योगप्रापक महागुणों का उल्लेख किया है, वे विश्वमैत्री के साथ ओतप्रोत रूप से संबंधित हैं।

अहिंसादि के स्वरूपविचार से यह मत स्पष्ट होगा। हम इस विचार को संक्षेप में पूर्वाचार्यों की मान्यताओं के साथ उपस्थापित कर रहे हैं।

अहिंसा को 'सर्वभूतानाम् अनभिद्रोहः' कहा गया है (योगभाष्य २।३०)। क्या यह विश्व-बन्धुत्व का साक्षात् परिचायक नहीं है ? अहिंसाभावना से ही मैत्री-भाव उद्भूत है और मैत्री की अन्तिम प्रतिष्ठा केवल अहिंसा में है, यह योगशास्त्र में युक्ति के साथ कथित हुआ है। सत्य, अस्तेय आदि सभी व्रतों के द्वारा अहिंसा की ही पुष्टि की जाती है, यह तथ्य व्यासभाष्य में विवृत है (स खल्वयम् * * * —योगभाष्य २।३०)। अहिंसा को सर्वधर्मों में ज्येष्ठ कहा गया है—"न भूतानामहिंसाया ज्यायान् धर्मोऽस्ति कश्चन" (शान्ति० २६१।७०; अश्वमेध० ४३।२१)। धर्म के साथ अहिंसा का योग अवश्य होना चाहिए, यह भी पूर्वाचार्यों का दृढ़ मत है—"यत् स्यादहिंसासंयुक्तं स धर्म इति निश्चयः" (कर्ण० ६९।५१; अनुशासन० ११६।२१)। यह तो सभी जानते ही हैं कि 'अहिंसा परमो धर्मः' (वन० २०६।७४)।

अब विचारना चाहिए कि क्यों अहिंसा को सब सदाचारों में श्रेष्ठ तथा सब धर्मों का मूल कहा गया है। अहिंसा से मैत्री होती है और 'सार्वभौम अहिंसा' तो विश्वबन्धुत्व का नामान्तर है, जो धर्म की पराकाष्ठा ही है। अतः भारतीय संस्कृति से विश्वबन्धुत्व अच्छेद्य रूप से आबद्ध है, यह सिद्ध हुआ।

उसी प्रकार सत्य से भी विश्वमैत्री का घनिष्ठतम संबंध है। सत्याचरण का लक्षण है 'सत्यं यथार्थे वाङ्मनसे' (योगभाष्य २।३०)—मन के विषय और वाक्य के विषय का एक रूप होना। इस सत्य का प्रयोग किस रूप से होना चाहिए, इसके लिये मनु का सर्वविदित वाक्य है—"सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात् न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्, प्रियं च नानृतं ब्रूयाद् एष धर्मः सनातनः"। यदि सत्य के साथ 'प्रिय' का इतना सम्बन्ध माना जाय, तो सत्य जब अपनी पराकाष्ठा में पहुँचेगा, तब प्रेम भी विश्वप्रेम में परिणत होगा, यह कहने की अपेक्षा नहीं रखता। वस्तुतः चित्त में जब तक मैत्रीभाव उत्पन्न नहीं होता, तब तक सत्य कहने की प्रवृत्ति नहीं होती, सुतरां जिस संस्कृति में 'न हि सत्यात् परो धर्मः' कहा जाता है, उस भारतीय संस्कृति में विश्वमैत्री का स्थान कितना महान् तथा अन्तरंग है, यह स्वतः बोध्य है।

(७) मैत्रीव्यवहार में यह भी ज्ञातव्य है कि यह आचरण मूलतः मानसिक है, अर्थात् विशुद्ध मन में जो मैत्रीभाव उदित होता है, तदनुकूल आचरण ही विश्वबन्धुत्व-कारक हो सकता है, न कि कपटतापूर्ण मैत्रीयुक्त आचरण से वस्तुतः कोई लौकिक बन्धुत्व या पारमार्थिक लाभ होता है।

मानसं सर्वभूतानां धर्ममाहुर्मनीषिणः ।
तस्मात् सर्वेषु भूतेषु मनसा शिवमाचरेत् ।

(शान्ति० १९३।३१) । कपटी व्यक्ति धूर्तता का आश्रय कर मैत्रीयुक्त आचरण नहीं कर सकता, क्योंकि 'मनः पूब्बंगमा धम्मा' (धम्मपद १।१) । मैत्री के लिये मन में सत्त्वगुण का विकास करना चाहिए और इसीलिये कपटाचारी की प्रदर्शनमूलक मैत्री से कभी भी शांति का प्रसार नहीं होता ।

तपस्या, अस्तेय, शौच आदि महागुणों से मैत्रीभाव का असाधारण सम्बन्ध है । ध्यान देना चाहिए कि अहिंसा आदि व्यवहारक्षेत्र की बातें हैं और इस क्षेत्र में भी जब ऐसी विशाल दृष्टि को अपनाया जाता है, तब विश्वबन्धुत्व संबंधी भारतीय दृष्टि कितनी महान् है, यह सहज ही समझ में आ सकता है ।

यही न्याय दया में भी प्रयोज्य है । वायु० में कहा गया है—"आत्मवत् सर्वभूतेषु या हितायाहिताय च, समा प्रवर्तते दृष्टिः कृत्स्ना ह्येषा दया स्मृता" (५९।४३) । इस वाक्य में वह ध्यान देने योग्य है कि 'सम दृष्टि' को दया कहा गया, चाहे उस दृष्टि से हित या अहित हो । इससे यह अर्थ निर्गलित होता है कि 'समा दृष्टि' की भावना अपने कल्याणार्थ है, पर उससे व्यावहारिक जगत् में सर्वत्र हित नहीं हो सकता । पर हित न होने पर भी वह दया-पद-वाच्य है । वस्तुतः जिस पर मैत्री की जाती है, वह व्यक्ति मैत्रव्यक्ति के प्रति अहित भी कर सकता है या दया के कारण दयाकारी क्षतिग्रस्त भी हो सकता है। पर परिणाम में मैत्री से सुख-शांति की अधिक वृद्धि ही होती है, इसलिये आरम्भ में कुछ कठिन होने पर भी मैत्रीभावना का प्रसार करते रहना चाहिए । वस्तुतः भारतीय संस्कृति ने यही किया था, जिसके कारण शक आदि अनेक बहिश्चर जातियां यहाँ आकर पूर्णतः मिल गई थीं । जब से मैत्रीपूर्ण व्यवहार का ह्रास होने लगा, तब से भारतीय संस्कृति भी क्षयिष्णु होती आ रही है । यदि इस देश को उठाना है तो सबसे पहले विचारपूर्वक मैत्री को विकसित करना होगा ।

(८) हम अभी तक पुराण-इतिहास-स्मृति से वचनों को उद्धृत कर विचार कर रहे थे । पर यह भी जानना चाहिए कि यह मैत्रीभाव मूलतः वैदिक चिन्ता में सम्यक् प्रतिष्ठित है । ऋग्वेद का जो अन्तिम संज्ञानसूक्त है, उसमें जो 'संगच्छध्वम्, संवदध्वम्, समानो मन्त्रः समितिः समानी; समाना हृदयानि वः' आदि वाक्य कहे गए हैं, वे विश्वजनीन मैत्रीभाव के सूचक हैं । चित्त में मैत्रीभाव की सम्यक् प्रतिष्ठा होने पर ही ऐसा कहा जा सकता है ।

वैदिक प्रज्ञा अपने अनुशीलन के दिव्य मार्ग में 'विश्वजनीन भाव' के साथ चलती है । वेद में कितनी ही ऐसी प्रार्थनाएं हैं, जिनमें 'मैं' के स्थान

पर 'हम' कहा गया है। प्रसिद्ध गायत्री मन्त्र में 'भर्गो देवस्य धीमहि' कहा गया है, जिसका अर्थ 'हम लोग ध्यान करें' ऐसा है। अध्यात्मसाधन के क्षेत्र में यदि ऐसा उच्च विश्वजनीन भाव अनुस्यूत हो, तो स्थूल व्यवहार में विश्वमैत्री कितनी सुप्रतिष्ठित थी, यह कहने की आवश्यकता नहीं। पैप्पलादसंहिता (५।१९) में जो संज्ञानसूक्त है, उसमें भी अनन्यमैत्री की प्रतिष्ठा कही गई है।

ब्राह्मण ग्रन्थों में मैत्रभाव के प्रतिपादक अनेक वाक्य हैं, बाहुल्यभय से जिनका संकलन यहां नहीं किया गया। सर्वभूत में आत्मभाव की प्रतिष्ठा का उल्लेख उपनिषत् में बहुधा मिलता है, जो आध्यात्मिक दृष्टि में भी सत्य है, व्यावहारिक दृष्टि में भी। जब सर्वात्मभाव व्यवहार में आता है, तब उसका रूप विश्वबन्धुत्व में परिणत हो जाता है, जिसके लिये 'अभि हैनं सर्वाणि भूतानि संवाञ्छन्ति' वाक्य उपनिषत् ने कहा है। यह वाक्य निश्चयेन विश्वबन्धुत्व का प्रतिपादक है।

(९) अभी तक हम आर्षग्रन्थों से विश्वबन्धुत्व पर आलोचना कर रहे थे, पर यह भी जानना चाहिए कि बौद्ध आदि अनार्ष सम्प्रदायों में भी सार्वभौम मैत्री की महिमा स्वीकृत हुई है। पालि में एक गाथा है—

यथा अहं तथा एते यथा एते तथा अहं।
अत्तानं उपमां कृत्वा न हनिष्ये न घातये ॥

अर्थात् जैसा मैं हूँ, वैसे ही अन्य प्राणी हैं। अपने को उपमा समझकर किसी की हत्या नहीं करनी चाहिए। मैत्रीभावना का यह बीजभूत वाक्य है, यह अहिंसादिविचार में प्रमाणित किया गया है।

भगवान् बुद्ध में विश्वमैत्री की असाधारण प्रतिष्ठा मिलती है। उनका जो कथन है कि 'परपुरुषकृतानि यानि लोके मयि निपतन्तु विमुच्यतां च लोकः'—यह अवश्यमेव विश्वमैत्री का विज्ञापक है। यह विश्वमैत्री ही 'बोधिसत्व' वाद की जनयित्री है। परहितार्थ मैत्रीबलसम्पन्न व्यक्ति बोधिसत्व कहलाता है और कार्यतः बुद्ध की अपेक्षा बोधिसत्वों की अधिकतर आवश्यकता है।

मैत्री की महिमा पर धम्मपद में एक गाथा है—

सुसुखं वत जीवाम येसं न नत्थि किंचनं।
पीतिभक्खा भविस्साम देवा आभस्सरा यथा ॥ (१५।४)।

तात्पर्य यह है कि हम निष्किंचन होकर सुख से जीवित रहना चाहते हैं और आभास्वर देवों की तरह प्रीतिभक्ष्य होना चाहते हैं। यहाँ प्रीति से देवों का सम्बन्ध दिखाया गया है। [प्रीतिभक्खा=प्रीतिभक्ष्या=प्रीतिभाजः (बुद्धघोष)]

धम्मपद में विश्वमैत्री पर बहुसंख्यक गाथाएँ हैं, जिनका उद्धरण देना अनावश्यक है। मैत्री से ही वैरभाव का नाश हो सकता है, यह धम्मपद का परममान्य सिद्धान्त है। यथा—

नहि वेरेन वेरानि सम्मन्तीध कुदाचनम्।
अवेरेन च सम्मन्ति एस धम्मो सनन्तनो॥ (१।५)

अर्थात् वैर से वैरभाव का नाश नहीं होता पर मैत्री से उसका नाश होता है—यह सनातन धर्म का अनुशासन है। अब यदि यह नियम किसी एक व्यक्ति के व्यवहार के लिये चरितार्थ होता है, तो अन्य व्यक्ति में भी चरितार्थ होगा (यदि अन्य बाधा न हो) और अन्ततोगत्वा यह मनोभाव विश्वबन्धुत्व में परिणत होगा।

बौद्धाचार्य शान्तिदेव के बोधिचर्यावतार में विश्वमैत्री की महिमा का ख्यापन करनेवाली अनेक सूक्तियाँ हैं। वहाँ 'सर्वसत्त्वहिताधान' (३।३) 'सर्वसत्वानां सर्वदुःखप्रशान्तिकृत्' (३।६) आदि वाक्य मिलते ही हैं। बोधिचित्त के विषय में कहा गया है—

बोधिचित्तं समुत्पाद्य सर्वसत्त्वसुखेच्छया (६।८०)। तात्पर्य यह है कि सर्वाप्राणी के प्रति सुखेच्छा से बोधिचित्त को उत्पन्न किया जाता है। विश्वमैत्री रूप चरम धर्म कितना महान् है, इस विषय में कहा गया है—

हिताशंसनमात्रेण बुद्धपूजा विधीयते।
किं पुनः सर्वसत्त्वानां सर्वसौख्यार्थमुद्यमात् (१।२७)

अर्थात् हितेच्छामात्र से बुद्ध की पूजा की जाती है, अतः सर्वप्राणी के सुख के लिये उद्यम करने से कितना महान् धर्म होता है, यह कहने की आवश्यकता नहीं रह जाती।

वस्तुतः विश्वमैत्रीभावयुक्त महान् पुरुष ही बोधिसत्व होते हैं। विश्व-मैत्री से आप्लुतहृदय होने से किसी के हृदय का उद्गार कितना मार्मिक होता है, वह निम्नोक्त श्लोकों में वर्णित है—

दीपार्थिनामहं दीपः शय्या शय्यार्थिनामहम्।
दासार्थिनामहं दासो भवेयं सर्वदेहिनाम्॥
चिन्तामणि र्भद्रघटः सिद्धविद्या महौषधिः।
भवेयं कल्पवृक्षश्च कामधेनुश्च देहिनाम्॥
(बोधिचर्यावतार ३।१८–१९)।

अर्थात् मैं दीपार्थियों के लिये दीपस्वरूप हो जाऊँ, ...सब प्राणियों के लिये कल्पवृक्ष और कामधेनु हो जाऊँ। चित्त की यह भावना केवल विशुद्ध सार्वभौम मैत्री से ही संभव हो सकती है।

अभिधर्म में उक्त ५० संस्कारों में करुणा और अद्वेष की गणना है। 'मैत्री' की दार्शनिक उपपत्ति भी बौद्धशास्त्रों में है, यह ज्ञातव्य है।

मैत्रीभावना क्यों कर्तव्य है, इस विषय में बौद्धों की जो युक्ति है, उसको शान्तिदेव ने निम्नोक्त शब्दों में दिखाया है—

आत्मीकृतं सर्वमिदं जगत् तैः, कृपात्मभि र्नैव च संशयोऽस्ति।
दृश्यन्त एते न तु सत्त्वरूपास्त एवनाथा किमनादरोऽत्र ॥

(बोधिचर्यावतार, क्षान्तिपारमिता १२६)—उन करुणामय महानुभावों से जगत् आत्मीकृत है, उनका आत्मभाव सर्वत्र है, अतः किसी के प्रति अनादर नहीं करना चाहिए। मैत्री क्यों कर्तव्य है, इस विषय में यह युक्ति बहुत कार्यकारी है और आर्षसम्प्रदाय में भी यही दृष्टिकोण देखा जाता है। वे कहते हैं—"त्वयि मयि चान्यत्रैको विष्णुः व्यर्थं कुप्यसि मय्यसहिष्णुः"।

(१०) अब हम अत्यन्त संक्षेप में जैनियों की दृष्टि पर आलोचना करेंगे। इस सम्प्रदाय में अणुव्रत (अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह) का महान् आदर है। निबन्ध के आरम्भ में इन पाँचों से मैत्री तथा विश्वबन्धुत्व का जो अतिनिकट सम्बन्ध है, उसका प्रतिपादन किया गया है, अतः पुनः कहने की आवश्यकता नहीं है।

उपसंहार में विश्वमैत्री के विषय में प्रदर्शित विचार का सार दिखाया जा रहा है—

(क) मैत्री एक अनाडम्बर और बाह्य-साधन-निरपेक्ष साधन है, जिसका आचरण सब मनुष्य कर सकते हैं;

(ख) मैत्रीप्रतिष्ठा से स्वचित्त में शान्ति मिलती है;

(ग) मैत्री-आचरण से अन्यान्य जन भी मैत्र व्यक्ति के प्रति श्रद्धा रखते हैं, इस प्रकार व्यवहारक्षेत्र में शान्ति बढ़ती है;

(घ) जो आचरण व्यक्ति में सत्य है, वह समाज और राष्ट्र में भी सत्य होगा, अतएव यह सिद्ध होता है कि मैत्रीयुक्त राष्ट्र स्व-पर-शान्तिदायक होगा;

(ङ) वैरभाव से अन्य के वैरभाव का नाश नहीं होता, क्षणिक अभिभव होता है, अतः उद्रेक पाकर पुनः वह उदित हो सकता है;

(च) अतएव मैत्र व्यक्ति स्वयं सुखी और दूसरों के लिए सुखदायक भी हो सकते हैं;

(छ) व्यवहार में यद्यपि इन नियमों का सार्वभौम पालन करना संभव नहीं है, तथापि जितना अधिक पालन होगा, उतना अधिक सुख मिलेगा।

परिशिष्ट

ब्रीर

प्रथम परिशिष्ट

पौराणिक तीर्थ-विवरणों का आकरस्थलनिर्देश

प्रत्येक पुराण में तीर्थसम्बन्धी जो विवरण है (जहाँ प्रतिज्ञापूर्वक तीर्थों का विवरण दिया गया है), उसका निदर्शन इस सूची में प्रस्तुत किया गया है । जिसके लिये तीर्थत्वेन विवक्षा नहीं है, उसका निर्देश इस परिशिष्ट में नहीं किया गया । भुवनकोश में कुछ पुण्यस्थानों के नाम मिलते हैं, पर यहाँ भुवनकोश-प्रकरण छोड़ दिया गया है । भागवत आदि पुराणों में प्रतिज्ञापूर्वक तीर्थविवरण नहीं मिलते, यद्यपि तीर्थसंबन्धी प्रकीर्ण उल्लेख कहीं-कहीं मिल जाते हैं । इस सूची में ऐसे स्थलों का निर्देश भी नहीं किया गया, यह ज्ञातव्य है। कुछ अध्यायों में केवल प्रसिद्ध तीर्थ का नाम दिया गया है, तत्संबद्ध अप्रसिद्ध तीर्थों का नहीं । वाराणसी आदि तीर्थ—जिनके अन्तर्गत अनेक तीर्थ हैं—नामतः ही उल्लिखित हुए हैं, अन्तर्गत तीर्थों के नाम क्वचित् दिए गए हैं ।

ब्रह्मपुराण

अ० २५—तीर्थसूची, तीर्थमाहात्म्य

अ० २८—कोणादित्यमाहात्म्य

अ० ४१—एकाम्रक्षेत्र

अ० ४२—उत्कलक्षेत्र, विरजतीर्थ

अ० ४३—अवन्तिका नगरी

अ० ४५-६९—पुरुषोत्तमक्षेत्र, अन्तर्गततीर्थ

अ० ७०—तीर्थभेद गौतमीमाहात्म्यारम्भ, जो १७५ अ० तक है ।
(गौतमी = गोदावरी) तीर्थस्वरूपादि ।

अ० ७९—वराहतीर्थ

अ० ८२—कृत्तिकातीर्थ

अ० ८३—दशाश्वमेघतीर्थ

अ० ८४—पैशाचतीर्थ

अ० ८५—क्षुधातीर्थ

अ० ८६—चक्रतीर्थ

अ० ८७—अहल्यासंगम, इन्द्रतीर्थ

अ० ८८—जनस्थानतीर्थ
अ० ८९—अरुण-वरुणाश्वभानुतीर्थ
अ० ९०—गरुड़तीर्थ
अ० ९१—गोवर्धनतीर्थ
अ० ९२—पापप्रणशनतीर्थ
अ० ९३—विश्वामित्रतीर्थ
अ० ९४—श्वेततीर्थ
अ० ९५—शुक्रतीर्थ
अ० ९६—इन्द्रतीर्थ
अ० ९७—पौलस्त्यतीर्थ
अ० ९८—अग्नितीर्थ
अ० ९९—ऋणप्रमोचनतीर्थ
अ० १००—कद्रूसुपर्णासंगमतीर्थ
अ० १०१—सरस्वतीसंगम, ब्रह्मतीर्थ
अ० १०३—शय्यादितीर्थ
अ० १०५—सोमतीर्थ
अ० १०९—चक्रतीर्थ
अ० ११०—पिप्पलतीर्थ
अ० १११—नागतीर्थ
अ० ११२—मातृतीर्थ
अ० ११३—ब्रह्मतीर्थ
अ० ११४—अविघ्नतीर्थ
अ० ११५—शेषतीर्थ
अ० ११६—वडवादिसहस्रतीर्थ
अ० ११७—आत्मतीर्थ
अ० ११८—अश्वत्थादितीर्थ
अ० ११९—सोमतीर्थ
अ० १२०—धान्यतीर्थ
अ० १२१—विदर्भासंगमादितीर्थ
अ० १२२—पूर्णतीर्थ
अ० १२३—रामतीर्थ
अ० १२५—यमतीर्थ

अ० १२६--तपस्तीर्थ
अ० ११७--देवतीर्थ
अ० १२८--तपोवनादितीर्थ
अ० १२९--इन्द्रतीर्थ
अ० १३०--आपस्तम्बतीर्थ
अ० १३१--यमतीर्थ
अ० १३२--यक्षिणीसंगमतीर्थ
अ० १३३--शुक्लतीर्थ
अ० १३४--चक्रतीर्थ
अ० १३५--वाणीसंगमतीर्थ
अ० १३६--विष्णुतीर्थ
अ० १३७--लक्ष्मीतीर्थ
अ० १३७--भानुतीर्थ
अ० १३९--खड्गतीर्थ
अ० १४०--आत्रेयादितीर्थ
अ० १४१--कपिलासंगमतीर्थ
अ० १४२--देवस्थानतीर्थ
अ० १४३--सिद्धतीर्थ
अ० १४४--परुष्णीसंगमतीर्थ
अ० १४५--मार्कण्डेयतीर्थ
अ० १४६--कालञ्जरतीर्थ
अ० १४७--अप्सरोयुगसंगमतीर्थ
अ० १४८--कोटितीर्थ
अ० १४९--नारसिंहतीर्थ
अ० १५०--पैशाचतीर्थ
अ० १५१--निम्नभेदतीर्थ
अ० १५२--आनन्दतीर्थ
अ० १५३--भावतीर्थ
अ० १५४--सहस्रकुण्डादितीर्थ
अ० १५५--कपिलातीर्थ
अ० १५६--शङ्खह्रदतीर्थ
अ० १५७--किष्किन्धातीर्थ

अ० १५८—व्यासतीर्थ
अ० १५९—वंजरासंगमतीर्थ
अ० १६०—देवागमतीर्थ
अ० १६१—कुशतर्पणतीर्थ
अ० १६२—मन्युतीर्थ
अ० १६३—सारस्वततीर्थ
अ० १६४—चिच्चिकतीर्थ
अ० १६५—भद्रतीर्थ
अ० १६६—पतत्रितीर्थ
अ० १६७—विप्रतीर्थ
अ० १६८—भानुतीर्थ
अ० १६९—भिल्लतीर्थ
अ० १७०—चक्षुस्तीर्थ
अ० १७१—उर्वशीतीर्थ
अ० १७२—सामुद्रतीर्थ, सप्तगङ्गा
अ० १७३—भीमेश्वरतीर्थ, सप्तगङ्गा
अ० १७४—गंगासागरसंगम, सोमतीर्थ

पद्मपुराण

(आदिखण्ड)

अ० ११—पुष्करतीर्थ
अ० १२—पुष्कर के समीप जम्बूमार्ग आदि तीर्थ
अ० १३—नर्मदा
अ० १४—जलेश्वर
अ० १५—अमरकण्टक
अ० १६—कावेरी नर्मदासंगम
अ० १७—नर्मदोत्तरकूलस्थ तीर्थ
अ० १८—नर्मदादक्षिणकुलस्थ तीर्थ
अ० १९—शुक्लतीर्थ
अ० २०—नरकतीर्थ-दशाश्वमेघ-भृगुतीर्थ
अ० २१—विहंगेश्वर आदि तीर्थ, नर्मदोदधिसंगम

अ० २४--दक्षिणसागरस्थ तीर्थवर्णन, सरस्वतीसागरसंगम, वरदानादि नानातीर्थ

अ० २५--तीर्थसूची

अ० २६--कुरुक्षेत्र, रामह्रद, वंशमूल आदि

अ० २७--कन्यातीर्थ, कुरुक्षेत्र, सरस्वत्यरुणासंगम, कुरुक्षेत्रमर्यादा, कुरुक्षेत्र-गत विविधतीर्थ।

अ० २८--धर्मतीर्थ आदि तीर्थ

अ० २९-३०--कालिन्दी

अ० ३२--सुगन्धादिनानातीर्थ

अ० ३३-३७--वाराणसी, कपर्दीश्वर-पिशाचमोचनादि अवान्तर तीर्थसहित

अ० ३८--गया, अवान्तर तीर्थसहित

अ० ३९--सविद्यातीर्थ, गङ्गासागरसंगम, वैतरणी-बदरिकाश्रम-गोकर्ण-गोदावरी-आदि तीर्थ, दण्डकारण्यगत अनेक तीर्थ

अ० ४०-४८--प्रयाग, प्रयागान्तर्गत तीर्थ

(भूमिखण्ड)

अ० ८५--च्यवनतीर्थयात्रावर्णन प्रसंग में कतिपय तीर्थ नाम

अ० ९०--प्रयाग, पुष्कर, इन्द्रतीर्थ; ६८ तीर्थों की गणना (३४ श्लोक)

अ० ९१--तीर्थमाहात्म्य

अ० ९२--रेवासंगम

(ब्रह्मखण्ड)

तीर्थसम्बन्धी सामग्री नहीं है

(पातालखण्ड)

अ० १७--अयोध्या, सरयू, तापी आदि कुछ तीर्थ

अ० १८-२२--पुरुषोत्तमस्थ नीलगिरि

अ० २०--गण्डकी नदी

अ० ६९-८३--वृन्दावन, द्वादशवन और उपवनों के नाम

(सृष्टिखण्ड=क्रियाखण्ड)

अ० ११--श्राद्धोपयोगी तीर्थ

अ० १७--देवी सावित्री के १०८ नाम तथा स्थान

अ० १८--प्राची सरस्वती, सरस्वती का नन्दा नाम, पुष्करतीर्थ

अ० १९—पुष्कर, नागकृतपञ्चतीर्थ, उदङ्मुखी गंगा
अ० २१-२८—पुष्कर
अ० २९—ब्रह्मा के १०८ स्थान
अ० ६०—गङ्गा

(उत्तरखण्ड)

अ० २—बदरीनारायण, बदरिकाश्रम
अ० २०—श्रीशैलपर्वत
अ० २१—गङ्गा
अ० २२—हरिद्वार
अ० २३—गङ्गा-प्रयाग-यमुना
अ० २४—प्रयाग
अ० ८२—गङ्गा
अ० ९३—प्रयाग
अ० १२९—जम्बूद्वीपगततीर्थ
अ० १३०—वेत्रवती नदी
अ० १३१-१७०—साभ्रमतीनदी
अ० १३२—नन्दितीर्थ
अ० १३३—विकीर्णतीर्थ, श्वेततीर्थ बकुलासंगमगत गणतीर्थ
अ० १३४—अग्नितीर्थ, साभ्रमतीवर्णन
अ० १३५—सप्तस्रोता साभ्रमती, हिरण्यासंगम, धर्मावती नदी
अ० १३६—कम्बुतीर्थ, कपितीर्थ, एकधारतीर्थ, सप्तधारतीर्थ, मङ्किकतीर्थ
अ० १३७—ब्रह्मवल्लीतीर्थ, वृषतीर्थ=खण्डतीर्थ
अ० १३८—संगमेश्वरतीर्थ
अ० १३९—रुद्रमहालयतीर्थ
अ० १४०—खड्गतीर्थ
अ० १४१—चित्राङ्गवदनतीर्थ, मालार्क तीर्थ
अ० १४२—चन्दनेश्वरतीर्थ, आमोदीस्थान
अ० १४३—जम्बूतीर्थ
अ० १४४—इन्द्रग्रामतीथ, धवलेश्वरमाहात्म्य
अ० १४५—बालापेन्द्र तीर्थ

अ० १४६—दुर्घर्षेश्वर तीर्थ
अ० १४७—खड्गधार तीर्थ
अ० १४८—दुग्धेश्वर तीर्थ
अ० १४९—चन्द्रभागातीर्थ, चन्देश्वरमहिमा
अ० १५०—पिप्पलादतीर्थ
अ० १५१—पिचुमन्दार्क तीर्थ, निम्बार्क तीर्थ
अ० १५२—कोटरातीर्थ
अ० १५३—वामनतीर्थ
अ० १५४—सोमतीर्थ
अ० १५५—कपोततीर्थ
अ० १५६—गोतीर्थ
अ० १५७—काश्यपतीर्थ
अ० १५८—भूतालयतीर्थ
अ० १५९—घटेश्वरतीर्थ
अ० १६०—वैद्यनाथतीर्थ
अ० १६१—देवतीर्थ
अ० १६२—चण्डेशतीर्थ
अ० १६३—गाणपत्यतीर्थ
अ० १६४—वार्तघ्नीतीर्थ
अ० १६५—वराहतीर्थ
अ० १६६—संगमतीर्थ
अ० १६७—आदित्यतीर्थ
अ० १६८—नीलकण्ठतीर्थ
अ० १६९—सागरसाभ्रमतीसंगम
अ० १७०—नृसिंहतीर्थ (उपर्युक्त सभी तीर्थ साभ्रमतीसंबद्ध हैं)
अ० १९५–२१९—कालिन्दी
अ० २०२—कालिन्दीमाहात्म्य में द्वारका
अ० २०३–२०४ द्वारका
अ० २१२—कालिन्दीबदरिकाश्रममाहात्म्य
अ० २१३—हरिद्वार
अ० २१४–२१५—पुष्कर

अ० २१६—इन्द्रप्रस्थ
अ० २१७—इन्द्रप्रस्थान्तर्गत प्रयागमाहात्म्य
अ० २१८—इन्द्रप्रस्थगत काशीगोकर्णशिवकाञ्चीतीर्थ सप्तक, भीमकुण्ड

नारदीय पुराण

(पूर्वार्ध)

अ० ६—गङ्गायमुना-संगम, प्रयागतीर्थ, वाराणसीक्षेत्र
अ० ७—गङ्गा

(उत्तरार्ध)

अ० ३९—गङ्गा, काशी
अ० ४०-४३—गङ्गा
अ० ४४-४७—गया
अ० ४८-५०—काशी
अ० ५१—गोदावरी-पञ्चनदादितीर्थ
अ० ५२-६१—पुरुषोत्तमक्षेत्र, जगन्नाथक्षेत्र
अ० ६२-६३—प्रयाग
अ० ६४-६५—कुरुक्षेत्र, तदन्तर्गततीर्थसहित
अ० ६६—हरिद्वारक्षेत्र, तत्रत्थ तीर्थयात्रा
अ० ६७—बदरीक्षेत्र, नरनारायणमाहात्म्य, तत्क्षेत्रयात्राविधि
अ० ६८—गंगातीराधिष्ठित कामोदादेवीक्षेत्र
अ० ६९—कामाक्षी
अ० ७०—प्रभासक्षेत्र, प्रभासयात्रा
अ० ७१—पुष्करक्षेत्र, पुष्करक्षेत्रयात्रा
अ० ७२—गौतमाश्रम
अ० ७३—त्र्यम्बकेश्वरक्षेत्र, तद्यात्रा
अ० ७४—गोकर्णक्षेत्र
अ० ७५—लक्ष्मणाचल
अ० ७६—सेतु (दक्षिणोदधितीरस्थ)
अ० ७७—नर्मदातीर्थ
अ० ७८—अवन्तिकाक्षेत्र, महाकाल
अ० ७९—मथुरा
अ० ८०—वृन्दावन

वराहपुराण

अ० ८--पुरुषोत्तमतीर्थ

अ० ११--नैमिषारण्य

अ० १३--सोमतीर्थ, श्राद्धयोग्यतीर्थ

अ० १२२--कोकामुख

अ० १२६--कुब्जाम्रक, अत्रत्य मानस-माया-पूर्णमुख-करवीर-पुण्डरीक-अग्नि-वायु-शुक्र-सप्तसामुद्रक-मानससरः आदि तीर्थ

अ० १४०--कोकामुख, विष्णुसरः, सोमतीर्थ, तुङ्गकूट, अग्निसरस्तीर्थ, ब्रह्मसरः, धेनुपरतीर्थ, धर्मोद्भवतीर्थ, पापप्रमोचनतीर्थ, यम-व्यसनकतीर्थ, मातंगातीर्थ, वज्रभवतीर्थ, शक्ररुद्रतीर्थ, मत्स्य शिलातीर्थ

अ० १४१--बदरिकाश्रम (यहाँ ब्रह्मकुण्ड, अग्निसत्यपद, इन्द्रलोकारण्य विष्णवाश्रम, पञ्चस्रोततीर्थ, वेदधारतीर्थ, द्वादशादित्य कुण्ड, लोकपाल, मेरोर्वर, मानसोद्भेद, पञ्चशिर, सोमाभिषेक और उर्वशीकुण्डतीर्थ वर्णित हैं)

अ० १४३--मन्दार, (यहाँ प्रापणगिरि, स्नानकुण्डतीर्थ, मोदनतीर्थ, वैकुण्ठकारणतीर्थ, सोमस्रोतस्तीर्थ, चक्रवर्ततीर्थ इत्यादि वर्णित हैं)

अ० १४४--सोमेश्वरादिलिङ्गमुक्तिक्षेत्रत्रिवेण्यादि, बाणगङ्गा, रावणतपोवन, नर्तनाचल, हरिहरप्रमतीर्थ, हंसतीर्थ, यक्षतीर्थ आदि

अ० १४५--शालग्रामक्षेत्र, चक्रस्वामितीर्थ, विष्णुपदक्षेत्र, ह्रदस्रोतस्तीर्थ, शङ्खप्रभक्षेत्र, गदाकुण्डक्षेत्र, अग्निप्रभक्षेत्र, सर्वायुधतीर्थ, देवप्रभक्षेत्र, विद्याधरक्षेत्र, पुण्यनदीतीर्थ, गन्धर्वक्षेत्र, देवह्रद, देवनदीसंभेद, श्वेतगङ्गा, त्रिशूलगङ्गा, सिद्धाश्रम

अ० १४६--रुद्रक्षेत्र, रुरुक्षेत्र, भृगुतुङ्ग

अ० १४७--गोनिष्क्रमणतीर्थ, पञ्चक्रोशतीर्थ;

अ० १४८--पञ्चारुमतीर्थ, भृगुकुण्डतीर्थ, मणिकुण्डतीर्थ, धूतपापतीर्थ

अ० १४९--द्वारका, पञ्चाप्सरस्तीर्थ, प्रभासतीर्थ, पञ्चपिण्डतीर्थ, संगमनक्षेत्र, हंसकुण्ड, कदम्बतीर्थ, चक्रतीर्थ, रैवतकतीर्थ, विष्णुसंक्रमणतीर्थ

अ० १५०--सानन्दूर, रामगृहतीर्थ, रामसरस्तीर्थ, संगमनतीर्थ, शक्रसरस्तीर्थ, शूर्पासकक्षेत्र, जटाकुण्डतीर्थ

अ० १५१—लोहार्गल, पञ्चसरःक्षेत्र, नारदकुण्डतीर्थ, वशिष्ठकुण्ड, पञ्च-कुण्ड, सप्तर्षिकुण्ड, शरभङ्गकुण्ड, अग्निसरकुण्ड इत्यादि

अ० १५२—मथुरा, अविश्रान्तिसंज्ञकतीर्थ, प्रयाग, कनखल, तिन्दुकक्षेत्र, सूर्यतीर्थ, ऋषितीर्थ, कोटितीर्थ, वायुतीर्थ

अ० १५३—मथुरा, नवकतीर्थ, संयमनतीर्थ, कुन्दवन, काम्यकवन, बकुल-वन, भद्रवन, खादिरवन, महावन, लोहजंघवन, बिल्ववन, भाण्डरिवन, वृन्दावन

अ० १५४—यमुनातीर्थ, धारापतनकतीर्थ, नागतीर्थ, घण्टाभरणकतीर्थ, सोमतीर्थ, मानसतीर्थ, विघ्नराजतीर्थ, कोटितीर्थ, शिवक्षेत्र

अ० १५५—अक्रूरतीर्थ

अ० १५६—मथुरा

अ० १५७—मलयार्जुनतीर्थादि, भाण्डहृदतीर्थ, वीरस्थलतीर्थ, कुशस्थलतीर्थ, पुष्पस्थलतीर्थ, सप्तसामुद्रक कूप, वसुपत्रतीर्थ, फाल्गुनकतीर्थ, वृषभाञ्जनकतीर्थ, तालवन, स्वच्छजलकुण्ड, सपीठक, प्रसन्न-सलिलकुण्ड

अ० १५८-१६०—मथुरातीर्थ

अ० १६१—द्वादशवन

अ० १६२—चक्रतीर्थ

अ० १६४—गोवर्द्धनक्षेत्र, इन्द्र-यम-वारुण-कौबेरतीर्थ, पुण्डरीकतीर्थ, अप्सराकुण्ड, संकर्षणतीर्थ, कदम्बकुण्डकण्ड, अरिष्टतीर्थ, राधाकुण्ड, मोक्षराजतीर्थ, इन्द्रध्वजतीर्थ

अ० १६६—असिकुण्ड

अ० १०५—कृष्णगङ्गाकालञ्जर

अ० १३६—कृष्णगङ्गोद्भव

अ० २१३-२१४—गोकर्णेश्वर

अ० २१५—भृङ्गभृङ्गोदकतीर्थ, पञ्चनदतीर्थ, क्रोशोदकतीर्थ, ब्रह्मोद्भेद-तीर्थ, गोरक्षकतीर्थ, गौरीशिखर उमास्तनकुण्ड, प्रान्तकपानीय तीर्थ, ब्रह्मोदय, सुन्दरिकातीर्थ, वाग्मतीवणिवतीसंगम

लिङ्गपुराण

अ० २४—पाशुपतावतार और व्यासावतारों के स्थान

अ० ७७—मुक्तिसाधक शिवक्षेत्र

अ० ९२—वाराणसी, अन्तर्गत तीर्थसहित

अग्निपुराण

अ० १०९—नानातीर्थनाम

अ० ११०—गङ्गा

अ० १११—प्रयाग

अ० ११२—वाराणसी

अ० ११३—नर्मदा, अमरकण्टक आदि

अ० ११४-११६—गया, गयायात्रादि

अ० ११७—श्राद्धयोग्य तीर्थ

वायुपुराण

अ० ७७—श्राद्धयोग्य पुण्यस्थान

अ० १०४।७४-८६—विष्णु के अंग में विद्यमान पुण्य क्षेत्र

अ० १०५-११२—गया, अन्तर्गत तीर्थसहित

वामनपुराण

अ० २२-५०—पृथूदकसरः तथा कुरुक्षेत्र (इसमें कुरुक्षेत्रगत वन, नदी, कुञ्ज आदि पुण्यस्थानों के नाम हैं)

अ० ७८-८४—प्रह्लादतीर्थयात्रा (इसमें अनेक तीर्थों के नाम हैं)

अ० ९०—विष्णु के स्थानों के नाम

मत्स्यपुराण

अ० २२—श्राद्धयोग्य पुण्यस्थान

अ० १३—दाक्षायणी देवी के १०८ स्थान

अ० १०३-११२—प्रयाग (अन्तर्गत तीर्थसहित)

अ० १८०-१८५—वाराणसी (अन्तर्गत तीर्थसहित)

अ० १८६-१९४—नर्मदा (नर्मदातीरस्थतीर्थादि)

गरुड़पुराण

(पूर्वार्ध)

अ० ८१—तीर्थसूची

अ० ८२-८६—गया, अन्तर्गत तीर्थसहित

कूर्मपुराण

(पूर्वार्ध)

अ० ३१-३५—वाराणसी (३० अ० अंशतः), अन्तर्गत तीर्थसहित

अ० ३६-३९—प्रयाग अन्तर्गत तीर्थसहित

(उत्तरार्ध)

अ० ४०-४२—नर्मदातटस्थ तीर्थसहित

अ० ४३—जप्येश्वर, भृगुतीर्थ

अ० ४४—पञ्चनदादि तीर्थ

ब्रह्माण्डपुराण

(मध्यम भाग)

अ० १३—श्राद्धयोग्य पुण्यस्थान

मार्कण्डेयपुराण

तीर्थसम्बन्धी विवरण नहीं है।

विष्णुपुराण

तीर्थसम्बन्धी विवरण नहीं है।

भविष्यपुराण

तीर्थसम्बन्धी विवरण नहीं है।

भागवत

तीर्थसम्बन्धी विवरण नहीं है।

ब्रह्मवैवर्तपुराण

तीर्थसम्बन्धी विशिष्ट विवरण नहीं है।

स्कन्दपुराण

स्कन्दपुराण तीर्थप्रधान है। अतः तीर्थ गणनात्मक स्थलों का निर्देशमात्र किया जा रहा है। अध्यायानुसार तीर्थनामोल्लेख करने से इस परिशिष्ट का कलेवर अत्यधिक बृहत् होगा, जिसकी कोई आवश्यकता भी नहीं है। तीर्थान्तर्गत वृक्षादि की सूचियाँ भी इसमें संकलित हुई हैं।

इस पुराण में सात खण्ड हैं; प्रत्येक खण्ड के कई अवान्तर खण्ड हैं (षष्ठ-चतुर्थ-खण्डों को छोड़कर), अतः प्रत्येक खण्ड के नाम के साथ अध्यायादि का निर्देश करना ही उचित समझा गया।

केदार० २७।१-४—परमेष्ठी से पूजित पर्वतों की सूची

केदार० २७।१६-१९—पर्वतसूची

केदार० ३०।३३-३५—कुमार के प्रति स्नेहशील पर्वतों की सूची

कुमारिका० ११।४८-४९—१८ तीर्थों की सूची

कुमारिका० ३४-३५—छह तीर्थों के नाम

,, ५४।४-८—षोडश तीर्थों की सूची

,, ७।२-५—ऋषिकर्तृक लिङ्गस्थापन-स्थान

अरुणाचल० ७।३३-३४—दश नदियों के नाम

,, १५।६-८०—शिवस्थानों की सूची

(यहाँ १२० स्थानों की गणना है)

,, ३७ अ०—ग्रामसूची

भूमिवराह० ३०।२४-२८—वृक्ष-फल-पुष्प-सूची

उत्कल० ६ अ०—वृक्ष-फल-सूची

वैशाख० ४।१५—सप्तगंगा सूची

सेतु० १९।१३-१६;—संक्षिप्त तीर्थसूची

सेतु० ३।६-७;—पुण्यनदीसूची

सेतु० ५२।७-९;— शिवस्थान और विष्णुस्थान की सम्मिलित सूची

सेतु० ५२।१००-१०२;—मुण्डनोपवास योग्य क्षेत्रों की सूची

धर्मारण्य० ३५।३७-४३ तथा ३९।२५-३३—सीतापुर और सत्यमन्दिर के मध्य में स्थित ग्रामों की सूची

काशी० ३३ अ०—लिंगसूची तथा लिंगस्थान

काशी० १०।८६-१०२—लिंगसूची

काशी० ५।३१-४२—१० लिंगों की सूची

काशी० ६।२१-२७—तीर्थसूची

(आदित्य नामसूची, विनायक नामसूची आदि कई सूचियाँ इस खण्ड में हैं, जिनको यहाँ छोड़ दिया गया है)

अवन्ती० १।३२-३४—रुद्र के १२ अशानों की सूची

रेवा० २।५१-५३—नदीसूची

रेवा० २२—१६ नदियों की सूची

रेवा० १९८—देवीस्थानसूची

नागर० १०३।३-१०;—लिंगसूची

नागर० ४।३५-३८—तीर्थसूची

नागर० १०५।२८-४०—६८ तीर्थों की सूची

नागर० १०६।५-२०—६८ शिवतीर्थों की सूची

नागर० १८९।४४-५०—तीर्थचतुष्टय

नागर० २१४।६-७—तीर्थसूची

नागर० १८९।१६—वनत्रय

नागर० २२६।१-५—लिंगसप्तक

नागर० १८२।२२—महानदीत्रय

नागर० १८९।१४-१५—पुरीत्रय
नागर० १८९।१३—अरण्यत्रय
नागर० १८९।९-१०—क्षेत्रत्रय
नागर० १८९।२०-२१—पर्वतत्रय
नागर० १८९।१९—तीर्थत्रय
प्रभासक्षेत्र० २७१।१८-२०—संक्षिप्त नदीसूची
प्रभासक्षेत्र० ३१७।३९-४२—नदीसूची
प्रभासक्षेत्र० ३२१।१५-१६—नदीसूची
द्वारका० ४१।१९-२८—तीर्थसूची
द्वारका० ४०।३८-४४— ,,
द्वारका० ४०।१४-१५— ,,
द्वारका० ३५।१६-२०— ,,
(३४–३५ अध्यायों में तीर्थों की कई छोटी सूचियाँ हैं)
द्वारका० ३७।१०५-१०६—तीर्थसूची
द्वारका० ३४।१५-१८ ,,
अर्बुद० १४।२० ,,
द्वारका० ३३।३९-४१ ,,
द्वारका० ३४।८-१३ ,,
द्वारका० ३३।५-९ ,,
द्वारका० ३४।२०;—अरण्यसूची
द्वारका० २४।८६-९१;—पुण्यतीर्थसूची
अर्बुद० ४०।५-७;—शिवस्थान

देवीभागवत

३।२४ अ०—काशीपुरी का विवरण
६।१२ अ०—तीर्थसूची
७।३० अ०—देवी पीठसूची

द्वितीय परिशिष्ट

पुराणों में मनुकृत धर्मशास्त्र के निर्देश

अष्टादशपुराणानां व्याकर्ता तु भवेन्मनुः (पद्म० ४।१११।९८) ।
वात्सल्ये मनुवन् नृणाम् (भाग० ४।२२।६१) ।
तस्मान्न निश्चयाद् वक्तुं धर्मः शक्यस्तु केनचित् ।
देवानृषीनुपादाय स्वायंभुवमृते मनुम् ॥ (वायु० ५७।११३) ।

उपलब्ध पुराणों में मनु (=स्वायम्भुवमनु) के अनेक वचन उद्धृत हैं (मनु नाम के साथ) । मानवधर्मशास्त्र के सर्वाङ्गीण ज्ञान के लिये इन श्लोकों का ज्ञान अपेक्षित है, ऐसा समझकर यहां पुराणों से मनुवचनों का संकलन किया जा रहा है । हम श्लोकों का आंशिक उद्धरण देकर स्थलनिर्देश मात्र करेंगे । प्रसंगतः यह भी ज्ञातव्य है कि मनु के अनेक श्लोक निबन्धग्रन्थों में भी उद्धृत मिलते हैं, जो उपलब्ध मनुस्मृति में नहीं मिलते । यह विदित ही है कि महाभारत तथा पुराणों के अनेक श्लोक और मनुस्मृति के वचन प्रायेण समान हैं[1] ।

ब्रह्मपुराण

२२।२६—जगुः स्वायम्भुवादयः ।
२२०।१८७—यदप्युक्तं हि मनुना···· ।
२२७।४९-५१—मनुना यदुदीरितम्···· ।
२३३।६०-६२—मनुरप्याह वेदार्थम्···· ।

विष्णुपुराण

१।२२।८२—मन्वादिगदितानि (श्रीधरस्वामी कहते हैं—मन्वादिगदितानि धर्मशास्त्रावि) ।
२।६।३३-३४—जगुः स्वायम्भुवादयः ।

---

१. यह संकलन अपूर्ण है । कुछ स्थलों में पहले मनु का मत कहकर बाद में 'मनु का ऐसा मत है' ऐसा कहा गया है, अतः जो आकरस्थल निर्दिष्ट हुआ है, उससे सम्बन्धित श्लोक भी द्रष्टव्य हैं । स्वायंभुवमनु के चरितसम्बन्धी प्रसंग छोड़ दिए गए हैं ।

३।२।४५—स्मृतिप्रणेता मनुः (श्रीधरटीका द्रष्टव्य)।
६।५।६३-६४—मनुरप्याह वेदार्थम्···· ।

कूर्मपुराण

१।२।३७—स्वायम्भुवो मनुः पूर्वं धर्मान् प्रोवाच ।
१।२।३८—भृग्वादयस्तद्वचनाच् श्रुत्वा धर्मान् ऊचिरे।
१।२।६८—चातुर्वर्ण्येऽब्रवीन्मनुः ।
१।१२।२६५—स्वायम्भुवो मुनीन् धर्मान् पूर्वमुक्तवान् ।
२।१२।२—ऋषीणां शृण्वतां पूर्वं मनुराह प्रजापतिः ।
२।१२।४३—प्रोवाच भगवान् मनुः ।
२।१४।२५—मनुः त्यागं समब्रवीत् ।
२।१४।६६—आह प्रजापतिः (यह मनुवचन हो सकता है) ।
२।१७।३५—भक्ष्याः पञ्चनखा नित्यं मनुराह प्रजापतिः ।
२।२०।२६—एतत् पञ्चविधं श्राद्धं मनुना परिकीर्तितम् ।
२।२३।८—मनुः प्राह प्रजापतिः ।
२।३४।१४४—इत्येष मानवो धर्मो युष्माकं कथितो मया ।

वामनपुराण

१२।४८—मनुः स्मृतीनां प्रवरो यथैव स्वायम्भुवोक्तिस्त्वपि संहितासु ।
१५१।६७—भोज्यानि मनुरब्रवीत् ।

अग्निपुराण

१५१।१—मन्वादयो भुक्तिमुक्तिधर्मान् चीर्त्वा···· ।
१५१।२—मन्वादिभिर्निगदितान् धर्मान् ।
१५८।१—स्त्रावाशौचं प्रवक्ष्यामि मन्वादिमुनिसंमतम् ।
१६२।१-२—मनुर्विष्णुर्याज्ञवल्क्यो···· धर्ममेते यथाब्रुवन् ।

गरुडपुराण

१।७३।१७—सुवर्णो मनुना यस्तु प्रोक्तः षोडशमाषकः ।
१।९३।४—वक्तारो धर्मशास्त्राणां मनुः ···· ।
१।१०७।२—वेदाः स्मृता ब्रह्मणादौ धर्मा मन्वादिभिः सदा ।

लिंगपुराण

१।२७—जीवच्छ्राद्धं पुरा कृत्वा मनुः स्वायम्भुवः ।
१।३९।६४—धर्मशस्त्रकार मनु (मन्वत्रिविष्णुहारीत····) ।

वराहपुराण

६८।१०—अधमस्योत्तमा नारी त्वगम्या मनुरब्रवीत् ।
१८७।१००—चातुर्वर्ण्यस्य वक्ष्यामि यच्च स्वायम्भुवोऽब्रवीत् ।

मत्स्यपुराण

१४२।४२—मनुः स्वायम्भुवोऽब्रवीत् ।
१४२।४३—स्मार्तं तु मनुरब्रवीत् ।
२२७।३२—स्वायम्भुवोऽब्रवोत् ।

नारदीयपुराण

१।२४।६—मन्वाद्यैरुदितं यच्च वर्णाश्रमनिबन्धनम् ।
१।३०।३४—सुवर्णस्य प्रमाणं तु मन्वाद्यैः परिभाषितम् ।

वायुपुराण

५७।४१—वर्णाश्रमाचारयुतं मनुः स्वायंभुवोऽब्रवीत् ।
५७।४६—स्मार्तं धर्मं मनु र्जगौ ।

ब्रह्माण्डपुराण

१।२९।४६—वर्णाश्रमाचारयुतं मनुः स्वायंभुवोऽब्रवीत् ।
१।२९।५१—स्मार्तं धर्मं मनु र्जगौ ।

पद्मपुराण

६।२२३।४९-५०—सुलक्षणा सदाचारा पत्युरायुः प्रवर्धयेत् ।
इति प्राह मनुः .....

स्कन्दपुराण

कुमारिका० ४०।२०८-२०९-धर्मशास्त्राणि लोकार्थं भिद्यते चापि द्वापरे ।
मन्वत्रि.....

रेवा० १०३।१६०-१६१—श्रूयते मानवे शास्त्रे श्लोको गीतो महर्षिभिः....
एवमेव च

द्वारका० २३।१३२—तत्रोक्तं मनुना पुत्र.....
द्वारका० २६।५३—मन्वादिपठतां शास्त्रं.....

नागर० १४४।१३२–१३३—अत्र श्लोकः पुरा गीतो मनुना.....
स्त्रियो मेध्याश्च सर्वतः ।

नागर० १६७।४३–४४—गवां हि विक्रयार्थे च यदुक्तं मनुना स्वयम्.....
मातृविक्रयकारकः ।

नागर० १७२।९—मनसापि वधं यस्तु ब्राह्मणस्य विचिन्तयेत्, तप्त कृच्छ्रेण
मुच्येत मनुः स्वायंभुवोऽब्रवीत् ।

नागर० २२३।४—मनुना द्वादश प्रोक्ता किल पुत्राः ।
प्रभास० २०५।५९—ये स्तेनाः पतिताः ....विप्राननर्हन् मनुरब्रवीत् ।
वस्त्रापथ० १४।५५—सामाद्या नीतयः प्रोक्ताश्चतस्रो मनुना पुरा ।

तृतीय परिशिष्ट

पुराण और काव्यादिगत श्लोकों में शब्दसादृश्य

उपर्युक्त विषय के कुछ उदाहरण विभिन्न विद्वानों ने दिए हैं। अध्ययन-काल में मुझे जितने उदाहरण मिले हैं, उनमें से चुनकर कुछ स्थल यहाँ उदाहृत किए जा रहे हैं।

[१]

(क) कुमारः क्रीडयामास उत्सङ्गे शङ्करस्य च।
कण्ठे स्थितं वासुकिं च पाणिभ्यां समपीडयत् ॥

मुखं प्रपीडयित्वासौ पाणीन् अगणयत् तदा।
एकं त्रीणि दशाष्टौ च विपरीतक्रमेण च ॥
(स्कन्द० केदार० २७।१०७-१०८)

(ख) अर्चिष्मन्ति विदार्य वक्त्रकुहराण्यासृक्वतो वासुकेः
अङ्गुल्या विषकर्बुरान् गणयतः संस्पृश्य दन्ताङ्कुरान्।
एकं त्रीणि नवाष्ट सप्त षडिति प्रध्वस्तसंख्याक्रमाः
वाचः क्रौञ्चरिपोः शिशुत्वविकलाः श्रेयांसि पुष्णन्तु वः ॥
(दशरूपावलोक० तृतीय प्रकाश, असत्प्रलाप का उदाहरण)

[२]

(क) सन्तु कल्पतरोः शाखा लेखिन्यस्तपसां निधे।
मसीपात्राणि सर्वेऽपि सप्त सन्तु महार्णवाः ॥
पञ्चाशत्कोटिविस्तीर्णा भूमिः पत्रत्वमृच्छतु।
तस्य लेखनकालोऽतु परार्धाधिकवत्सरैः ॥
लिखन्तु सर्वलोकाश्च प्रत्येकं कोटिबान्धवाः।
सर्वे बृहस्पतिसमा वक्तारो यदि कुम्भज ॥
अथापि तस्याः श्रीदेव्याः पादाब्जैकाङ्गुलिद्युतेः।
सहस्रांशेष्वेकैकांशवर्णना नहि जायते ॥
(ब्रह्माण्ड० ३।३८।८१-९२)

(ख) असितगिरिसमं स्यात् कज्जलं सिन्धुपात्रे
सुरतरुवरशाखा लेखनीपत्रमूर्वी ।
लिखति यदि गृहीत्वा शारदा सर्वकालं
तदपि तव गुणानामीश पारं न याति ॥
(महिम्नः स्तोत्र)

[महिम्नः स्त्रोत्र का उल्लेख ब्रह्म० १५३।११ में है—
चक्षुदीप्त्याऽभवत् पुत्रो महिमा नाम विश्रुतः ।
येनाकारि स्तुतिः पुण्या महिम्न इति विश्रुता ॥]

[३]

(क) एवं संवर्धते विष्णु र्जगृहे च पदद्वयम् ॥
स्थानं नास्ति तृतीयस्य ब्रह्माण्डं सकलं कृतम् ।
अहर्दण्डो जगत्स्रष्टा ब्रह्मदण्डायते तदा ।
देवदानवगन्धर्वमनुष्योरगपन्नगैः ।
पूज्यते चरणो विष्णोः स्तूयते चानुमीयते ॥
धर्मात्मा यतदण्डो हि गन्धर्वैर्गीयते मुहुः ।
ज्योतिश्चक्राक्षदण्डः किं हरिणा निर्मितः स्वयम् ॥
जित्वेदं भुवनं गङ्गा ध्वजदण्डोऽमरैः कृतः ।
त्रिविक्रमाङ्घ्रिदण्डोऽयं कीर्तिदण्डायते ध्रुवम् ॥
(स्कन्द० वस्त्रापथ १८।२६६-२७०)

(ख) ब्रह्माण्डच्छत्रदण्डः शतधृतिभवनाम्भोरुहो नालदण्डः
क्षौणीनौकूपदण्डः क्षरदमरसरित् पट्टिकाकेतुदण्डः ।
ज्योतिश्चक्राक्षदण्डः त्रिभुवनविजयस्तम्भदण्डोङ्घ्रिदण्डः
श्रेयस्त्रैविक्रमस्ते वितरतु विबुधद्वेषिणां कालदण्डः ॥
(दशकुमारचरित का मङ्गलाचरण श्लोक)

[४]

(क) नमोऽस्तुत्रे सृष्टिविधौ रजोजुषे
जगत्स्थितौ सत्त्वमधिष्ठिताय ते ।
विनाशहेतौ तमसा महीयसे
शिवाय निर्वाणसुखप्रदायिने ॥
(स्कन्द० अवन्ती० २।१४)

(ख) रजोजुषे जन्मनि सत्त्ववृत्तये
स्थितौ प्रजानां प्रलये तमःस्पृशे ।
अजाय सर्गस्थितिनाशहेतवे
त्रयीमयाय त्रिगुणात्मने नमः ॥
(कादम्बरी, प्रथममङ्गलाचरणश्लोक)

[५]

(क) हिरण्यकशिपुर्दैत्यः श्लोकैर्गीतः पुरातनैः ।
राजा हिरण्यकशिपु र्यां यामाशां निषेवते
तस्यौ तस्यै दिशे देवा नमश्चक्रुर्महर्षिभिः ।
(वायु० ६७।६५; तुल० प्रभासक्षेत्र २०।६–७)

(ख) स संचरिष्णुर्भुवनान्तरेषु यां
यदृच्छयाऽशिश्रियदाश्रयः श्रियः ।
अकारि तस्यै मुकुटोपलस्खलत्-
करैस्त्रिसन्ध्यं त्रिदशैर्दिशे नमः ॥
(शिशुपालवध १।४६)

[६]

(क) तन्वी श्यामा शिखरदशना बिम्बबिम्बधरोष्ठी
सुग्रीवाढ्या कुचभरनता वर्धितस्निग्धकेशी ।
मध्ये क्षामा पृथुकटितटा हेमरम्भोरुगौरी
पल्लीयुक्ता वरवलयिनी बर्हिबर्हावतंसा ॥
(केदार० ३५।१७)

(ख) तन्वी श्यामा शिखरिदशना पक्वबिम्बाधरोष्ठी
मध्ये क्षामा चकितहरिणीप्रेक्षणा निम्ननाभिः ।
श्रोणीभारादलसगमना स्तोकनम्रास्तनाभ्यां....
(मेघदूत २।२२)

चतुर्थ परिशिष्ट

इतिहास-पुराणगत बुद्ध-बौद्ध-बोधितरु-शाक्यादि-प्रसंग

इतिहासपुराण वाङ्मय में बुद्धादि के जो प्रसंग मिलते हैं, वे कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण हैं। ऐतिहासिक गवेषणा की सुविधा के लिये यहाँ ऐसे प्रसंगों का एक संकलन प्रस्तुत किया जा रहा है (उपपुराणों से सामग्री का संकलन यहाँ नहीं किया गया)।

'बुद्ध' शब्द सर्वत्र 'सिद्धार्थ बुद्ध' का वाचक नहीं है, बल्कि 'ज्ञानी' आदि अर्थों में भी यह शब्द प्रयुक्त हुआ है। ब्रह्म० में "तत्त्वं बुद्ध्वा भवेद् बुद्धः" कहा गया है (२३७।११; शान्ति० २८५।३२ इस वाक्य के साथ तुलनीय है)। वायु० में "अतीतानागतानां च दर्शनं साम्प्रतस्य च। बुद्धस्य समतां याति दीप्तिः स्यात् तप उच्यते" (११।९) श्लोक है। ऐसे वाक्य तत्त्वज्ञपरक ही हैं। शान्ति० १८३।६ में भी बुद्ध का अर्थ ज्ञानी है। बुद्ध और बुध्यमान संज्ञा का उल्लेख शान्ति० ३०७।४८ में है।

कहीं-कहीं शिवादि देव को लक्ष्यकर 'बुद्ध' शब्द प्रयुक्त हुआ है—नमो बुद्धाय शुद्धाय (शिवस्तुति में—लिंग० १।२१।४०)। कुछ ऐसे स्थल भी पुराणों में हैं, जहाँ बुद्ध नाम नहीं है, पर वे वाक्य बुद्ध को ही लक्ष्य कर कहे गए हैं। इसका एक विशिष्ट उदाहरण नारदीय० १।२।४४ में है।

यह ज्ञातव्य है कि अवतारसूची में सर्वत्र बुद्ध का नाम पठित नहीं हुआ है। ब्रह्म० २१३ अ० में अवतारगणना में बुद्ध का नाम नहीं है। सेतु० ३।८१–८२ में बलराम-कृष्ण नाम हैं, बुद्धनाम नहीं (अवतारगणना में)। शान्ति० ३३९। १०३–१०४ में सात्त्वत नाम है (बुद्ध के स्थान पर)।

ब्रह्मपुराण

नमोऽस्तु हयरूपाय त्रिविक्रम नमोऽस्तु ते।
नमोऽस्तु बुद्धरूपाय रामरूपाय कल्किने ॥
(१२२।६९)

अष्टाविंशतिमे प्राप्ते विष्णुः कलियुगे सति।
शाक्यान् विनष्टधर्मांश्च बुद्धो भूत्वा प्रवर्तयत् ॥
(कृत्यरत्नाकर पृ० १५९ धृत ब्रह्म० वाक्य)

पद्मपुराण

सर्वज्ञानाय मत्स्याय नमो रामाय ते नमः ।
नमः कृष्णाय बुद्धाय नमो म्लेच्छप्रणाशिने ।। (भूमि० १८।६६)
प्रलम्बहन्त्रे शितिवाससे नमो नमोऽस्तु बुद्धाय च दैत्यमोहिने ।
(सृष्टि० ७३।९२)
नमोऽस्तु बुद्धदेवाय कल्किने च नमो नमः (६।३१।१५) ।
तस्मादिमौ विष्णुमहेश्वरावुमौ बभूवतुर्बोधिवटौ मुनीश्वराः ।
(उत्तर० ११७।३०)
मत्स्यः कूर्मो वराहश्च नरसिंहोऽथ वामनः ।
रामो रामश्च कृष्णश्च बुद्धः कल्किश्च ते दश ।।
(उत्तर० २५७।४०–४१)
दैत्यानां नाशनार्थाय विष्णुना बुद्धरूपिणा ।।६९।।
बौद्धशास्त्रमसत् प्रोक्तं नग्ननीलपटादिकम् ।
मायावादमसच्शास्त्रं प्रच्छन्नं बौद्धमुच्यते ।।७०।।
मयैव कथितं देवि कलौ ब्राह्मणमूर्त्तिना ।।७१।।
(उत्तर० २६३।६९–७१)
नमो रामाय रामाय रामाय हलिने नमः ।
नमो बुद्धाय शुद्धाय सकृपाय नमो नमः ।।
नमोऽस्तु कल्किने तुभ्यम् (क्रियायोगसार पृ० ४८८, बंगीय संस्क०)

विष्णुपुराण

आर्हत-बौद्धमतप्रसंग—आर्हतमतमुक्त्वा बौद्धमतमाह पुनश्चेति सप्तमिः
(३।१८।१४ की श्रीधरी टीका)
मायामोह प्रसंग (३।१८ अ०) में बौद्धमत का आभास है ।
अतश्च इक्ष्वाकवो भविष्याः पार्थिवाः कथ्यन्ते ।।१।।
.....तस्मात् शाक्यः शाक्यात् क्रुद्धोदनः
तस्मात् रातुलः ततः प्रसेनजित्
(४।२२।३ जीवा० संस्क०) (प्रकृत पाठ शुद्धोदनः और राहुलः होगा)
तस्माद् शाक्यः, शाक्यात् शुद्धोदनः तस्माद् राहुलः
(गीताप्रेस संस्क० ४०।२२ अ०)

वायुपुराण

नमस्तेऽश्वत्थरूपाय ब्रह्मविष्णुशिवात्मने ।
बोधिद्रुमाय कर्तॄणां पितॄणां तारणाय च ।। (१११।२७)

भागवतपुराण

ततः कलौ संप्रवृत्ते सम्मोहाय सुरद्विषाम् ।
बुद्धो नाम्ना जनसुतः कीकटेषु भविष्यति ॥
(१।३।२४; पाठा० जिनसुतः)

देवद्विषां निगमवर्त्मनि निष्ठितानां
पूर्भिर्मयेन विहिताभिरदृश्यतूर्भिः ।
लोकान् घ्नतां मतिविमोहमतिप्रलोभं
वेषं विधाय बहु भाष्यत औपधर्म्यम् ॥ (भाग० २।७।३७)

बुद्धस्तु पाषण्डगणप्रमादात् (६।८।१९)

नमो बुद्धाय शुद्धाय दैत्यदानवमोहिने (१०।४०।२२)

भूमेर्भरावतरणाय यदुष्वजन्मा जातः करिष्यति सुरैरपि दुष्कराणि ।
वादैर्विमोहयति यज्ञकृतोतदर्हान् शूद्रान् कलौ क्षितिभुजो न्यहनिष्यदन्ते ॥
(११।४।२३)

नारदीयपुराण

भूम्यादिलोकत्रितयं संतृप्तात्मानमात्मनि ।
पश्यन्ति निर्मलं शुद्धं तमीशानं भजाम्यहम् ॥
(प्रकरणानुसार यह बुद्धस्तुति है; १।२।४४)

बौद्ध-बौद्धालय की निन्दा (१।१५।५०–५३)

भार्गवेन्द्राय रामाय राघवाय पराय च ।
कृष्णाय वेदकर्त्रे च बुद्धकल्किस्वरूपिणे ॥ (१।६२।५४)

भगवत्स्तुति में संबोधन—बुद्ध कल्किन् (२।२९।४२)

बुद्धाय कल्किरूपाय क्षेत्रज्ञायोश्वराय च (२।३२।३६)

मार्कण्डेयपुराण

बुद्धादिप्रसंग नहीं है ।

अग्निपुराण

पुरा देवासुरे युद्धे दैत्यैर्देवाः पराजिताः ॥ १ ॥
रक्ष रक्षेति शरणं वदन्तो जग्मुरीश्वरम् ।
मायामोहस्वरूपोऽसौ शुद्धोदनसुतोऽभवत् ॥ २ ॥
मोहयामास दैत्यांस्तान् त्याजिता वेदधर्मकम् ।
ते च बौद्धा बभूवु र्हि तेभ्योऽन्ये वेदवर्जिताः ॥ ३ ॥

आर्हतः सोऽभवत् पश्चात् आर्हतानकरोत् परान् ।
एवं पाषण्डिनो जाता वेदकर्मादिवर्जिताः ॥ ४ ॥ (१६।१-४)
शान्तात्मा लम्बकर्णश्च गौराङ्गश्चाम्बरावृतः ।
ऊर्ध्वपद्मस्थितो बुद्धो वरदाभयदायकः ॥ (४९।८)
महाबोधतरुं नत्वा धर्मवान् स्वर्गलोकभाक् । (११५।३७)

भविष्यपुराण

एतस्मिन्नेव काले तु कलिना संस्मृतो हरिः ।
काश्यपादुद्भवो देवो गौतमो नाम विश्रुतः ॥ ३६ ॥
बौद्धधर्मं च संस्कृत्य पट्टणे प्राप्तवान् हरिः ।
दशवर्षं कृतं राज्यं तस्माच् छाक्यमुनिः स्मृतः ॥ ३७ ॥
विंशद्वर्षं कृतं राज्यं तस्मात् शुद्धोदनोऽभवत् ॥ ३८ ॥
शताद्रौ द्विसहस्रेऽब्दे व्यतीते सोऽभवन् नृपः ।
कलेः प्रथमचरणे वेदमार्गो विनाशितः ॥ ३९ ॥
षष्टिवर्षं कृतं राज्यं सर्वबौद्धा नराः स्मृताः ।
नरेषु विष्णुनृपति र्यथा राजा तथा प्रजाः ॥ ४० ॥
विष्णो वीर्यानुसारेण जगद्धर्मः प्रवर्तते ।
तस्मिन् हरौ ये शरणं प्राप्ता मायापतौ नराः । ४१ ॥
अपि पापसमाचाराः मोक्षवन्तः प्रकीर्तिताः ।
शाक्यसिंहाद् बुद्धसिंहः पितुरर्धं कृतं पदम् ॥४२॥(३।१।६।३६-४२)
बौद्धरूपः स्वयं जातः कलौ प्राप्ते भयानके ।
अजिनस्य द्विजस्यैव सूतो भूत्वा जनार्दनः ॥ २७ ॥
देवधर्मपरान् विप्रान् मोहयामास वीर्यवान् ।
निर्वेदाः कर्मरहिताः त्रिवर्णा स्तामसान्तरे ॥२८॥(४।१२।२६-२९)

ब्रह्मवैवर्तपुराण

शूकरो वामनः कल्की बौद्धः कपिलमीनकौ ।
एते चांशः कलाश्चान्ये सन्त्येव कतिधा मुने ॥
(अत्र बुद्ध इति पाठः साधुः, ४।९।१२)

लिङ्गपुराण

मत्स्यः कूर्मोऽथ वाराहो नरसिंहोऽथ वामनः ।
रामो रामश्च कृष्णश्च बौद्धः कल्की तथैव च ॥
(२।४८।३१-३२; अत्र बुद्धइति पाठः साधुः)

वराहपुराण

मत्स्यः कूर्मो वराहश्च नरसिंहोऽथ वामनः ।
रामो रामश्च कृष्णश्च बुद्धः कल्की च ते दश ॥ (४।२)
रूपकामो यजेद् बुद्धम् (४८।२२)
नमोऽस्तु ते बुद्ध कल्किन् वरेश (५५।३७)
मत्स्यः कूर्मो वराहश्च नरसिंहोऽसि वामनः ।
रामो रामश्च कृष्णश्च बुद्धः कल्की महात्मवान् ॥ (११३।४२)
मत्स्यं कूर्मं वराहं च नरसिंहं च वामनम् ।
रामं रामं च कृष्णं च बुद्धं चैव च कल्किनम् ॥ (२११।६८-६९)
शुद्धोदनस्य बुद्धोऽभूत् स्वयं पुत्रो जनार्दनः ।
भुक्त्वा राज्यश्रियं सोऽथ गतिं परमकां गतः ॥
(कृत्यरत्नाकर पृ० २४७ धृत वराह०)

स्कन्दपुराण

ततः त्रिषु सहस्रेषु षट्शतैरधिकेषु च ।
मगधे हेमसदनाद् अञ्जन्यां प्रभविष्यति ॥२५५॥
विष्णोरंशो जगत्पाता बुधः साक्षात् स्वयं प्रभुः ।
तस्य कर्माणि भूरीणि भविष्यन्ति महात्मनः ॥२५६॥
ज्योतिर्बिन्दुमुखानुग्रान् स हनिष्यति कोटिशः ।
चतुःषष्टि च वर्षाणि भुक्त्वा द्वीपानि सप्त च ।
भक्तेभ्यः स्वयशो मुक्त्वा दिवः पश्चाद् गमिष्यति ॥२५७॥
(कुमारिका० ४०। २५५–२५७)

काशीखण्ड ४८ अ० में बौद्धमतप्रसंग है ।
नमो बुद्धाय शुद्धाय कल्कये म्लेच्छनाशिने ॥ (अवन्ती० ४२।१४)
तथा बुद्धत्वमपरं नवमं प्राप्स्यसेऽच्युत ।
शान्तिमान् देवदेवेशो मधुहन्ता मधुप्रियः ।
तेन बुद्धस्वरूपेण देवेन परमेष्ठिना ।
भविष्यति जगत् सर्वं मोहितं सचराचरम् ॥(रेवा० १५१।२१-२२)

वामनपुराण

बुद्धादिप्रसंग नहीं है

कूर्मपुराण

शुक्लदन्ता जिनाख्याश्च मुण्डाः काषायवाससः ।
शूद्रा धर्मं चरिष्यन्ति युगान्ते समुपस्थिते ॥ (१।३०।१३)

बौद्ध-श्रावकनिर्ग्रन्थपञ्चरात्रविदो जनाः ।

(श्राद्धमें अयोग्य—२।२१।३२; यहाँ 'वृद्धश्रावक' पाठ मुद्रित हुआ है, जो अशुद्ध है; प्रकृतपाठ तन्त्राधिकारिनिर्णय में उद्धृत है)

मत्स्यपुराण

जिनधर्मं समास्थाय वेदबाह्यम् । (२४।४७)[1]
कर्त्तुं धर्मव्यवस्थानमसुराणां प्रणाशनम् ।
बुद्धो नवमको जज्ञे तपसा पुष्करेक्षणः
देवसुन्दररूपेण द्वैपायनपुरःसरः ॥ (४७।२४७)
बुद्धाय शान्ताय नमो ललाटं चित्रासु संपूज्यतमंमुरारेः । (५४।१९)
शाक्यात् शुद्धोदनो नृपः । शुद्धोदनस्य भविता
सिद्धार्थः पुष्कलः सुतः (२७१।१२)
मत्स्यः कूर्मो वराहश्च नरसिंहोऽथ वामनः ।
रामो कृष्णश्च कृष्णश्च बुद्धः कल्कीति च क्रमात् ॥ (२८५।६–७)

गरुड़पुराण

ततः कलेस्तु सन्ध्यान्ते संमोहाय सुरद्विषाम् ।
बुद्धो नाम्ना जिनसुतः कीकटेषु भविष्यति ॥ (१।१।३२)
कीकट गयान्तर्गत है (१।८२।५) ।
दैत्यराक्षसनाशार्थं मत्स्यपूर्वं यथाभवत् ।
कूर्मो वराहो नृहरि र्वामनो राम ऊर्जितः ॥
यथा दाशरथी रामः कृष्णो बुद्धोऽथ कल्क्यपि । (१।८६।१०-११)
वासुदेवः पुनर्बुद्धः संमोहाय सुरद्विषाम् ।
देवादीनां रक्षणाय अधर्महरणाय च ॥
दुष्टानां च वधार्थाय अवतारं करोति च । (१।१४५।४०–४१)

---

१. यह 'जिनधर्म' बौद्ध धर्म को लक्ष्य करता है या नहीं, यह विचार्य है । इस प्रसंग में भागवत में 'भ्रंशितमार्ग' शब्द है (९।१७।१६) । वायु० (९२।९७), ब्रह्माण्ड० (२।६७।१०२) में रजिसंबन्धी यह कथा है, जहाँ 'बुद्धिसंमोह' पद प्रयुक्त हुआ है । विष्णु० ४।८।८ में भी यह कथा है जहाँ 'बुद्धिमोह से अभिभूत' 'धर्मत्याग' और 'वेदवादपराङ्मुख' शब्द प्रयुक्त हुए हैं। हरिवंश (१।२८।३०–३३) में बुद्धिमोह शब्द के अतिरिक्त नास्तिवाद और असत्-तर्कशास्त्र शब्द भी हैं । देवीभाग० ४।१३।५४–५५ इस प्रसंग में द्रष्टव्य है

मत्स्यः कूर्मो वराहश्च नरसिंहोऽथ वामनः ।
रामो रामश्च कृष्णश्च बुद्धः कल्किस्तथैव च ॥
एतानि दश नामानि स्मर्तव्यानि..... (२।२०।३१–३२)

ब्रह्माण्डपुराण

मोहनार्थं दानवानां बालरूपी पथि स्थितः ।
पुत्रं तं कल्पयामास मूढ़बुद्धि र्जिनः स्वयम् ॥
ततः संमोहयामास जिनाद्यानसुरांशकान् ।
भगवान् वाग्भिरुग्राभिरर्हिसावाचिभि र्हरिः ॥
(१।३।२८ भागवततात्पर्यधृत ब्रह्माण्ड० वाक्य)

बौद्धदर्शनाङ्गि (ललितासम्बोधन ३।४३।१५)

शिवपुराण

पुनश्च वेदमार्गो हि निन्दितो नवमे भवे ।
स्थापितं नास्तिकमतं वेदमार्गविरोधकृत् ॥ (२।४।९।१५)

महाभारत

दानवांस्तु वशे कृत्वा पुनर्बुद्धत्वमागतः ।
सर्गस्य रक्षणार्थाय तस्मै बुद्धात्मने नमः ॥
(शान्ति० ४७ अ० दक्षिणात्य पाठ, पृ० ४५३६)

हरिवंश

१।४१।६५ की व्याख्या नीलकण्ठ ने बुद्धपरक की है, यद्यपि यह अर्थ कष्टकल्पना-प्रसूत ही है ।

पञ्चम परिशिष्ट

पौराणिक पुष्प-वृक्ष-सूची

स्कन्दपुराण वैष्णवखण्डान्तर्गत भूमिवाराहखण्ड अ० ३०

,, ,, उत्कलखण्ड अ० ६

(उत्कलखण्डके अन्य अध्यायों में भी ऐसी सूचियाँ हैं)

,, वैष्णव खण्डान्तर्गत मार्गशीर्षमाहात्म्य अ० ७ (पुष्पसूची)

,, ,, अयोध्यामाहात्म्य ९ अ० (वनवर्णन)

,, काशीखण्ड अ० १६ (पुष्पसूची)

,, प्रभासक्षेत्रमाहात्म्य अ० १५ (पुष्पसूची)

,, ,, अ० १९६ (वृक्षसूची)

,, ,, अ० ३२७ (,,)

,, नागरखण्ड अ० २२२। १८–१९ (८ शुभवृक्षनाम)

ब्रह्माण्डपुराण (वेंकटेश्वर संस्करण)

२।२२ अ०
२।२७ अ०
२।५० अ०
} वृक्षसूची

३।१० (उद्यानवर्णन)

वामनपुराण (वेंकटेश्वर संस्क०)

अ० ९५ (प्रशस्तपुष्पनाम)

७६।३२ (करतीरपुष्प)

३।३२ (स्थलपद्मिनी)

पद्मपुराण (मोर संस्करण)

भूमिखण्ड ७७ अ० (वृक्षसूची)

१०२ अ० (नन्दनवनवर्णन)

मत्स्यपुराण (आनन्दाश्रम)

अ० ११८ (वृक्षपुष्पसूची)

अ० १८० (उद्यानवर्णन में वृक्षपुष्पनाम)

अ० १०९ (वनवर्णन)

ब्रह्मपुराण (मोरसंस्करण)

अ० ४१ (वृक्षपुष्पसूची)

अ० ४२ ,,

अ० ४२ ,,

अ० ४३ ,,

अ० ४४ ,,

अ० ४५ ,,

मार्कण्डेयपुराण (जीवानन्दसंस्करण)

अ० ६ वृक्षसूची

ब्रह्मवैवर्त (मोरसंस्करण)

कृष्णजन्म खण्ड अ० ४

अग्निपुराण (सूची नहीं है)

गरुडपुराण (सूची नहीं है[1])

---

१. यह संकलन अपूर्ण है। कुछ विशिष्ट-स्थल ही यहाँ निर्दिष्ट हुए हैं। पुराणगत भुवनकोशों में वृक्षादि के नाम प्रायेण मिलते हैं।

प्रमुखशब्दसूची

अ

अकृत ६५
अक्तपरिमाण १०
अक्षक्रीडा ९४
अक्षमाला १५४
अक्षयवट १७
अगदतन्त्र १९८
अंगविद्या ८९
अगस्ति १२
अगस्त्य १२
अग्निवेश ९
अग्नि-सोमात्मक १९४
अघान्तक १५
अघार्दन १५
अङ्ग १६, १४३
अङ्गदीया पुरी १४३
अङ्गराज ४५
अङ्गारकेश्वर १९
अचल २०८
अच्छोद १७, १४४
अच्छोदा १७, १४४
अटवी १०९
अट्टहासगिरि १४५, २०१
अट्टालिका ९६
अणुव्रत २५६
अण्डज ११९
अतत्त्वतीर्थ ६७
अतिगुह्य ६७
अतिमित्र १५१
अतिशुभ्रगिरि २२८
अत्रि ११३
अथर्ववेद २४४
अर्थ २७, २९
अर्थज्ञानहीन वेदपाठ २४१
अर्थशास्त्र २९
अदितिवन १११
अद्रोह २४९
अद्वेष २५६
अधिष्ठान २०७
अध्यवसाय १८२, १८५
अध्यात्म-योगविद्या १८०
अध्यापक ४९
अनरक १९
अनशक १०२
अनशन १०२
अनाजन्म १७
अनुकर्षण १५०
अनुखिल ८८
अनुगिरि २०४
अनुद्वीप २०७
अनुपर्वत २०४
अनुपलक्षित नाम ११
अनुमित्र १५१
अनुवाक ६५
अनुवाकपरिमाण ८५
अनुमान ७३

अनु ष्टुप्छन्द २३६
अन्तःकरण १८५
अन्तःकरणकार्य १८८
अन्तरद्रोणी २२९
अन्तरद्वीप २०७
अन्तर्जलेशय १०६
अन्तर्धान ८
अन्तर्धि ८
अन्नपरिमाण की अल्पता १०१
अपन्यस्त १५०
अपरिग्रह १०५
अपसर्पण १५०
अपान १४८
अप्भक्ष १०३
अप्रतिबोधवान् ११८
अब्जलोचन १५६
अभयप्रदान २४८
अभिक्षेप १४९
अभिव्यक्त १८५
अभ्याकर्षण १५०
अभ्युदन्तक १७
अभ्युदय ३३
अभ्रावकाश १०६
अमरकण्टक ९
अमासोमसंगम २२५
अमित १५१
अम्बुभोजन १०३
अम्लानमाला १५३
अयोध्या ६७
अरणि ३०
अरण्यत्रय ७९, ११५
अरण्यनित्य १०९
अरविन्दवन ११५
अरिमर्दन ८
अरुणप्रभ २२८
अर्णव २०६
अर्णवसन्धि २२५
अर्धर्च ८५
अल्पनदी २१०
अल्पाहार १०१, १०२
अवडीन १४८
अवतार १२६
अवन्ति १८
अवन्ती १८
अवप्लुत १५०
अविक्षि १०
अविमुक्त १४१, १४२, १४४
अवीक्षित् १०
अवीक्षित १०
अशोकवनिका ११४
अश्मकुट्ट १०४
अष्ट व्याकरण २६
अष्टषष्टितीर्थ ८४
अष्टादशविषय ८४
अष्टोत्तरशततीर्थ ८४
असिचालन १४९
असियुद्ध १४९
अस्मिता १८१
अस्यजन्म १७
अहंकार १८१, १८८
अहंभाव १८१
अहिंसा १६८, २५१
अहिंसालक्षण १६९
अहिंसासाधक युक्तियाँ २४६

आ

आकर्णविस्तृतलोचन १५८
आकर्षण १५०
आक्रीड १०९
आक्रीडवन ११०
आख्यात १८६
आगम ५५
आगमप्रमाण ५३
आचार्य ४९, ५२
आत्मा १७७
आत्मोपलब्धिस्थान १८९
आथर्वण २४४
आथर्वणमन्त्र २४३
आदिविद्वान् १२६
आनर्त १६
आनन्दकानन १७, १०९
आन्दोलिका ९७
आपगा १५
आपववन ११२, ११४
आप्त ५२, ५३
आप्तश्रुति ५५
आम्रवन १११
आयतेक्षणा १५८
आर्षज्ञान १३०, १८०
आर्षतीर्थ ६५
आम्रवन ११२
आवह १५१
आश्रमवर्णन ९८
आसुर ६५
आसुरि १२६
आहवनीयकुण्ड ७३
आहार १०२

इ

इक्षुनदीसंगम २२५
इतिहास ३१
इतिहास का अर्थ २३३-२३४
इन्द्रजाल ९१
इन्द्रप्रस्थ ३२
इन्द्रिय १८५, १८७
इन्द्रवाह ११
'इ' प्रत्यय १२
इरावतीनड्वलासंगम २२५

ई

ईश्वराभिध्यान १७८

उ

उक्तिप्रयुक्तिरूपग्रन्थ ८७
उज्जयिनी ६७
उड्डीन १४८
उत्कल १४३
उत्कलराष्ट्र २०७
उत्कला १६, २०७
उत्तम १२
उत्तर ८८
उत्तरवेदि-संज्ञा ७४
उत्पत्तिस्थान के अनुसार नामकरण १४३
उत्सर्पण १५०
उत्सवादि ९५
उदधि २०६, २११
उदर १६३
उदान १४८
उद्भिज्ज ११९
उद्भिद् का लक्षण ११८
उद्भ्रान्त १४९

उद्यन्तक १७
उद्यान १०९, ११०
उद्वह १५१
उन्मथन १५०
उपखिल ८८
उपदेश ५३
उपद्वीप २०७, २११
उपनदी २०५
उपनिषत् ८८, २३९
उपनिषद १०
उपन्यस्त १५०
उपपत्ति ७३
उपप्लुत १५०
उपबृंहण २५, ४६
उपलक्षित नाम ११
उपवन १०९
उपवासादि ६३
उपसर्ग १४७
उमावन ११४
उरः १६३
उरु १६३
उर्वशीपुलिन १७
उर्वशीरमण १७
उशना १३२

ऊ

ऊर्ध्वबाहु १०७
ऊषर ६६, २१२

ऋ

ऋक्ष १३४
ऋक्सन्दर्भ ८६
ऋतध्वज ११
ऋषि ५३
ऋषिजाति १३०
ऋषिभेद १३०
ऋषिवाक्य ८६

ए

एकज्योति १५१
एकपाद १०४
एकलव्य १३६
एकशक्र १५१
एकाग्रता १००
एकान्तरोपवास १०३
एरण्डीसंगम २२५

ऐ

ऐरण्डीसंगम २२५
ऐश्वर्य ३५

ओ

ओषधि १२१, २२७
ओषधि की उत्पत्ति १९३
ओषधि और चन्द्र १९२
ओषधिप्रस्थ १९८

औ

औत्तमि १२
औशनस तीर्थ १८

क

ककुत्स्थ ११
कटि १६३
कणखल १९
कण्ठस्वर १६५
कथा ९६
कदम्बमाला १५४

कदलीवन ११२
कनखल १९
कन्दर २३०
कपालमोचन १८, १४१
कपिल १२६, १७५
कपिलासंगम २२५
करण १६०
करतोया २११
करवोरतीर्थ ७६
करुणा २५६
कर्दमाश्रम ११६
कर्मनाशा नदी १४५
कर्मभूमि ६२
कर्मसंस्कार ३७
कलापग्राम २१३
कलाप व्याकरण ३१
कला (स्कन्दपुराणोक्त) ८९
कलासम्बन्धी द्रव्य ९७
कलिङ्ग १६, १४३
कलिन्द पर्वत १४४
कल्पभेदानुसार नामभेद ९
कवि १३३
कश्मीर १६
कश्यप १३
काण्व बृहदारण्यक ४८
कात्य १३
कात्यायन १३
कात्यायनसुत २४६
कानन १०९, २२९, २०६
काम (तृतीय पुरुषार्थ) ८९
कामकला ९२
काम्यकवन ११५
कायव्यूह १८९
कायसम्पत् १६१
कायावतार १८
कायावरोहण १८
कार्ष्णवेद २७
कालगौरव ६१
कालतोपक १८
कालतोय १८
कालार्कभक्षित सांख्यशास्त्र १२८
कालिकासंगम २२५
कालिन्दी १४४, १४६
काली ८३
कावेरीसंगम २२५
काव्य १३३
काव्या १३३
काशी ६८
काश्यप १३
काष्ठलोष्टसम १०७
किंदत्तकूप १७
किंदत्तरूप १७
किंशुकवन ११२, ११४
कुक्षि २०२
कुञ्ज २०६, २२९
कुटल २८
कुण्डधूम १०४
कुन्दमाला १५४
कुबेर भवन १९६
कुब्जासंगम २२५
कुमारशिराः ११
कुरुक्षेत्र ६८, ७४
कुरुक्षेत्रवन ११२
कुलपर्वत २०४, २०९

कुल्या २१०
कुवलयाश्व ११
कुश १४०
कुशस्थली १६, १४१
कुशिक १२
कूटतट २२९
कूटशब्द ९५
कृत ६५, १५०
कृतशौच ७५
कृत्रिमवन १२३
कृष्ण ११, ३२
कृष्णवेण्यासंगम २२६
कृष्णात्रेय ११
केतुपाद २२९
केसरपर्वत २०४
केशराचल २०४
कैलास १९६
कोशकार-संगृहीत शब्दार्थ २०३
कोशल १९, २०७
कोसल १८
कौटलीय २८
कौटल्य २८
कौटिल्य १०, २८
कौमुदीमहोत्सव ९५
कौशिक १२
कौशिकी-कोका-संगम २२५
कौशिकीदृषद्वतीसंगम २२६
कौशिक्यरुणसंगम २२६
क्रम २७
क्रमपाठ ८६
क्रीडा ९३
क्रीडाकन्दुक ९३
क्रीडावापी ९३
क्रौंच १४०
क्षुद्रद्वीप २०७
क्षुद्रनदी २०५
क्षुद्रपर्वत २०९
क्षुद्रशैल २०४
क्षुप १०
क्षेत्र ६६, २०८, २१२
क्षेत्रत्रय ७९
क्षेत्र-पीठ-गर्भगृह ६७
क्षेत्रसीमा २१०

ख

खड्गशास्त्र १४९
खण्ड २०७
खरणाद १२
खरणादि १२
खर्जूरवन ११२
खर्वट २१३, २१५
खर्वटक २१५
खाण्डववन ११५
खिल ८७
खिलकाण्ड ८७
खेट २१३
खेटक ११५

ग

गङ्गागोमतीसंगम २२६
गङ्गाद्वार २०१
गङ्गा मन्दाकिनी १५
गजलोचन १५८
गजवैद्यकशास्त्र ४४, ४५
गजसाह्वय १८

गजायुर्वेद ४५
गणमुख्य २१६
गणितज्ञता ९१
गण्डशैल २०४
गत १५०
गदायुद्ध १४९
गदायुद्ध १५०
गन्धर्वशास्त्र ९२
गम्भीराक्ष १५८
गया १४३
गयाक्षेत्र ६६
गयातीर्थ ६६
गर्ग १२४
गर्त २१०
गर्भक १५४
गर्भगृह ६७, २१२
गर्भोपनिषत् २४२
गलन्तिका ९७
गहन १०९
गान्धारविषय २०७
गार्ग्य १२
गार्हस्थ्याश्रम २४६
गिरि २०८
गिरिकेतु २२९
गिरिगह्वर १४
गीत ९२
गीतनृत्य ९२
गीता १२९
गीतालंकार ९२
गुण १८६
गुण-कर्मज नाम ११
गुणत्रय १८२
गुणहेतुकनाम १४२
गुरु ४९, ५५
गुरुकुल का कष्ट ५९
गुरुदक्षिणा ५९
गुरुशुश्रूषा ५८
गुरूपस्थान ५८
गुल्म १२२
गुहा २३०
गुहा-गह्वर २०५
गुह्य ६७
गुह्यक १९६
गुह्याद्गुह्य ६७
गुह्याष्टक ६७
गोप्रतार ६७
गोमेद ८२
गोमेध ८२
गौडदेश ७७
गौरी १४५
गौरीवन ११४
ग्रह १९२
ग्रहणग्रहीता १८२
ग्राम २१३, २१५-२१६
ग्रामत्रय ७९, २१३
ग्रामनामकरण २१४
ग्राममुख्य २१८
ग्रामशासक २१८
ग्रामसोमा २१५
ग्रामाधिपति २१७
ग्रामों की उन्नति २१६
ग्राम्य ओषधि २१५
ग्राह्य १८२
ग्रीवा १६३

घ

घटनाहेतुकनाम १४१
घटोयन्त्र ९७
घनपाठ ४८
घोष २१३
घोषवती वीणा ९२

च

चक्र-द्वार-कोश १८०
चक्रवापी ६७
चक्षु १६३
चक्षु आदि करण १८५
चतुःषष्ठि कला ९०
चतुर्गङ्ग ८०
चतुर्दश गुह्यस्थान ८४
चतुर्द्वीपवती पृथिवी ८०
चतुर्विध प्राणी १२०
चतुर्विध वाद्य ९२
चितिशक्ति १८०
चन्द्र १९२
चन्द्रकलंक १९३
चन्द्रमापश्चात्भाग १९१
चन्द्ररश्मिपान १०५
चन्द्रविज्ञान १९१
चन्द्रसंयम १९४
चम्पकवन ११५
चरतीर्थ ६५
चाणक्य २८
चाणक्यमूलक ३०
चान्द्रजल १९२
चान्द्र व्याकरण ३१
चान्द्रायणव्रत १०२८
चार्वायताक्ष १५
चित्तसंवित् १८४
चित्तस्थैर्य १७२
चित्रकथ १६४
चित्रकथाबन्ध ९५
चित्रकर्म ९६
चित्रमाल्य १५३
चित्रस्रक १५३
चीनांशुकप्रावरण ९७
चैत्ररथवन ११४
च्यवन १३
च्यावनि १३
च्यावनेय १३

छ

छान्दोग्य २४२

ज

जंगम उद्भिद ११८
जटा-घन-पाठ ४८
जटोदका १४४
जनपद १६, २०७, २०८
जनमेजय ९
जन्मेजय ९
जम्बू १४०
जम्बूनदी १४४
जय ३३
जयमाला १५४
जरायुज ११९
जलनिधि १९४
जलमध्य १०६
जाह्नवी १९
जाबालोपनिषत् २४२
जीव १८१

जीवसूक्त २४२
जैगीषव्य १४५
जैगीषव्यगुहा १४५
जैनादिसंप्रदाय १६९
ज्ञान ३५
ज्यग्राफी १४
'ज्योतिषां चेश्वरेश्वरः' १९२
'णु' धातु २३६

त

तक्षशास्त्र १४९
तक्षशिलापुरी १४३
तत्त्वतीर्थ ६७
तद्धितवृत्ति १४६
तपः क्षेत्र १००
तपः सामान्य ९९
तपोवन १०९
तमोबहुल अन्तःकरण १८३
तरलायताक्षी १५९
तर्कशास्त्र ८७
तार ५४
तारक-ज्ञान १८०
तार-तार ५४
तामस अस्मिता १८४
तीर्थ २०२, २०८
तीर्थ का पुण्यजनकत्व ६३
तीर्थ के अवयव ६७
तीर्थगणना ६८
तीर्थगत विषय ६३
तीर्थगत सदाचार ६४
तीर्थचतुष्टय ८०
तीर्थतम ६७
तीर्थत्रय ७९
तीर्थ दोष ६४
तीर्थ-नदी-संगम २२५
तीर्थनामकरण ६३
तीर्थ-परिमाण ६८
तीर्थमहत्ता ६२
तीर्थयात्रो ६४
तीर्थलक्षण ६१
तीर्थमुक्तावली ६३
तीर्थप्रतिग्रह ६४
तीर्थप्रबन्ध ७०
तीर्थ-फल भागी ६५
तीर्थवास ६५
तीर्थ-विवेचन ६१
तीर्थ-विस्तार ६२
तीर्थभेद ६५
तीर्थसंख्या ६८, ६९
तीर्थसूची ६९, ७०
तीर्थस्थानों की पहचान ७०
तीर्थाभिगमनं ६२
तीर्थाष्टक ८३
तीर्थोपजीविका ६४
तुलसीदलमाला १५४
तृच ८६
तृण १२२
तोयवृत्ति १०३
तोर्यत्रिक ९३
त्यागी ४२
त्रयीमयी धेनु ४६
त्रयीवित् २४१
त्रयोदशद्वीप ८४

त्रिगङ्गा ७९
त्रिपुरदाह १९६
त्रिरात्रभोजी १०३
त्रिविध वाक्य ९५
त्रिवेणी ७९
त्रिशङ्कु १४५
त्रेता अग्नि २४४
त्वक्सार १२१, १२२

द

दक्षिणदिक् ९७
दक्षिणप्रयाग ७७
दण्डकवन ११३, ११४
दधीच १३
दन्तोलूखल १०४
दया २५३
दरी २३०
दरी-कन्दर २०५
दर्दरी ७७
दशाष्टदोषरहित वाक्य १६६
दंष्ट्रा १६३
दाडिमवन ११२
दारुक ११३
दाल्भ्य वक २८
दिग्वासाः १०५
दिष्ठ ९
दुःख १६९, १७२
दुःखसहिष्णुता ९९
दुग्धाहार १०३
दृढ़स्वस्थ शरीर १६०
दृप्तबालाकि गार्ग्य १२
देवकी १३
देवतात्मा १९५
देवदारुवन १४, ११३, २०१
देवश्रवाः १३८, १३७
देवर्षि १३१
देवायतन २३२
देवोद्यान ११५
देश १६, २०७, २०८, २१४
देशव्यवस्था ७२
देशभाषा ९५
देह १९०
दैव ६५
द्यूतक्रीड़ा ९४
द्यूतविनोद ९४
द्राक्षावन ११२
द्रुम १२१
द्रोणी २०१, २०९, २२९
द्रोणीमुख २१५
द्वन्दसहन ९९
द्वादश रुद्रिय २४२
द्वादशवन ८३
द्वापरादि २२
द्वार १८०
द्वारका १४१
द्वारकापुरी ३३६
द्वारवती १४२
द्विज्योति १५१
द्वियमुनम् ७९
द्विशक्र १५१
द्वीप २०६, २११
द्वीपपर्व २०७
द्वैतवन ११४, ११५, ११६
द्व्यामुष्यायण २८

ध

धर्म ३३

धर्मचक्र १४१
धर्मप्रजापति २३१
धर्मवन ११६
धर्मस्थान ६२
धर्मारण्य ११५
धाता-विधाता १५१
धातु १६०, २२७
धारण-विधारण १५१
धार्मिक सम्प्रदाय ४२
धोर ५५
धूमाशन १०४
धृतिवृत्ति १८४
ध्यायियों के विहार २४७

न

नकुलीश्वर १४५
नगरी १६
नचिकेता ३०
नद २०५
नदियों की उत्पत्ति २१९
नदी २०५, २१०, २३०
नदीक्षेत्र २१०
नदीगर्भ २१०
नदी-गति २२२
नदीतीर २१०
नदीप्रवाह २२२
नदीरूपिणी नारी २२३
नदीमहत्ता २१९
नदी शोभा २२१
नदी-संख्या ११५, २०६, २१९
नदीसंगम ७२, २२३
नदी-सूची ७०
नदीस्रोत २२२
नन्दनवन ११२
नन्दादेवी २०१
नन्दितीर्थ १४५
नरनारायण स्थान २०१
नरपति ४४
नलविद्या ९५
नलिनी-रज-नेत्राभा १५७
नर्मदा नदी ७१
नवद्वीप ८३
नवभेद ८३
नवारण्य ८३, ११५
नवोषर ८३
नागवन ११६
नागेश्वर तपोवन ११५
नाट्य ९३
नाडीमार्ग १८०
नानाभाषा ९५
नामकरण १४०
नामभ्रान्ति ३०
नायिकारूप ९७
नारद १३१
नाराशंसी ८७
नासिका १६३
नासिकाग्रदृष्टि १५९
निकुञ्ज २०६, २२९
निडोन १४८
निरालम्ब १०७
निराहार १०२
निर्झर २३०
निर्णय २७
निर्वाचन ३८

निवृत्त १४९
निशाकर ३१
निश्चय १८५
निषत् ८५
निषाद १३६
निषादजातीय व्यक्ति १३६
नीतिशास्त्रामृत २९
नलीरुद्रोपनिषत् २४२
नीलोत्पलाक्ष १५८
नृत्य ९२
नेता १६४
नेत्रसौन्दर्य १५६
नेत्रसंबन्धी वैज्ञानिक बातें १५९
नेदिष्ट ९
नैमिष ६७
नैमिषक्षेत्र १४१
नैमिषारण्य ११४, ११५
नैमिषेय १४६
न्यायालय ३८
न्यायालयों के विचारक ४०

प

पक्षिगत्ति १४८
पक्षिशास्त्र १४९
पक्षिह्रद ७५
पङ्कजनेत्र १५७
पञ्च अर्थ २७
पञ्चगङ्गा ८०
पञ्चगौड ८१
पञ्चतीर्थ ८१
पञ्चनद ८०
पञ्चप्रयाग ८१
पञ्चप्राण १४८, १८१
पञ्चमवेद २३८
पञ्चमवेदवत् २६
पञ्चवदरी ८१
पञ्चवाद्य ९२
पञ्चसरस्वती ८०
पञ्चाग्नि १०६
पञ्चातप १०६
पञ्चातपसह १०६
पञ्चायतन ८०
पत्तन २०७, २१३
पदक्रमजटाघन ४७
पद्मगर्भारुणेक्षण १५७
पद्मनेत्र ४५७
पद्मपत्राक्ष १५८
पद्ममाला १५३
पद्मवन ११२
पद्माक्ष १५६
पयोद ३१
पयोष्णीसंगम २२६
परपीडन २५१
परशुराम ९
पराडीन १४८
परावह १५१
परिक्षित् १०
परिक्षेप १४९
परिडोन १४८
परिणूत २३६
परिवर्तन १५०
परिवह १५१
परिवृत १४९
परिशिष्ट ८८

परीक्षित् १०
परुष्णीसंगम २२५, २२६
परोपकार २५१
पर्णादा १०४
पर्णाशन १०५
पर्यंकवेदिका ९७
पर्यायशब्दव्याख्या २०३
पर्वत और औषधि २२७
पर्वत और नदी २२०
पर्वत और वृक्षवन २२८
पर्वत और शिला २२८
पर्वत का रत्नमयत्व २२८
पर्वत का सानुदेश २२७
पर्वत की उपोयगिता २३२
पर्वत की धातुमयता २२७
पर्वत की महिमा २३२
पर्वत की शुभ्रता २२८
पर्वत-कूट २२९
पर्वत के आकार २३१
पर्वत के कन्दर २३०
पर्वत के तट २२९
पर्वत के वर्ण २२७
पर्वत के शृंग २२९
पर्वत-चित्रण २२७
पर्वतत्रय ७९
पर्वत में श्रद्धा २३२
पर्वतवर २०४
पर्वतवर्ण २२८
पर्वतवासी २३२
पर्वतस्थ वृक्ष २२९
पर्वतसम्बन्धी रूपकालंकार २३१
पर्वतसम्बन्धी शब्द २०८
पर्वतसूची ७०
पर्वत से सम्बन्धित शब्दोंके अर्थ २०३
पर्वतीय तीर्थ २३१
पर्वतोत्तम २३२
पर्शुराम ९
पवमानी सूक्त २४२
पवित्राष्टक ६७
पश्चिमराष्ट्र १४३
पश्चिमोदधि-सन्धि २२५
पाञ्चाल १४३
पाठतत्त्व ७
पाठविचार ७
पाणिन १३
पाणिनि १३
पादांगुष्ठाग्राधिष्ठित १०७
पादोदक ७६
पारशव १३६
पारिजातवन ११४
पारिभाषिक शब्दनिर्माण १४७
पालकाप्य ४५
पार्वतीतप १०४, १०६
पाषाणयन्त्र ९७
पितृतीर्थ ६९
पिप्पलाद ८
पिप्पलाशन ८
पीठ ६६, ६९, २१२
पीडा १७४
पुण्डरीकार मांसखण्डविशेष १८८
पुण्डरीकाक्ष १५७
पुण्ड्र १४३
पुण्यकीर्ति १६७
पुण्यनदी ७०

पुण्यमयग्राम २१३
पुण्यशीतवन ११५
पुत्र-प्रकार १३८
पुर २१३, २१५
पुरञ्जय ११
पुराण ४६
पुराण और वेद का सम्बन्ध २३८
पुराणवचनों का शब्दशास्त्रीय विश्लेषण ६
पुराणों का प्रकाशन २
पुराणों की उपादेयता १
पुराणों के लोकोपयोगी विषय ५
पुराणोक्त कथाओं के तात्पर्य ४
पुराणपाठ की मीमांसा ७
पुराणप्रणेता १२७
पुरी १६, ९६, २०८
पुरीत्रय ७९
पुरुमित्र १५१
पुरूरव १०
पुरूरवाः १०, २४४
पुरुषसूक्त २४२
पुरुषसूक्त-व्याख्या २४५
पुलस्ति १२
पुलस्त्य १२
पुष्कर १४०
पुष्करारण्य ११२, ११५
पुष्करावती पुरी १४३
पुष्टि १४
पुष्पगृह ९७
पुष्पसूची ११४
पूर्वविसर्ग २१५
पृथा (कुन्ती) १३८
पृथिवी का विधारण २३२
पृथु ८, १९७
पृथूदकसरः ६८
पृथ्वी की कल्पना २०३
पौण्ड्रक १३९
प्रकर्षण १५०
प्रकृति ९२, १८१, १८२
प्रक्षेप १४९
प्रडीन १४८
प्रतिकृत १५०
प्रतिमानिर्माण ९६
प्रतिष्ठान १७४
प्रत्यक्ष ७३
प्रत्यागत १५०
प्रदेश २०८
प्रद्युम्नतीर्थ ७७
प्रपदीना माला ९७
प्रभ्रष्टक १५४
प्रमाथ १५०
प्रयागसंज्ञा ७४
प्रयोजन २७
प्रवचन ५६
प्रवरासंगम २२५, २२६
प्रवह १५१
प्रवृत्तवाक् १६४
प्रसृत १४९
प्रस्थ २०१
प्राचीनतीर्थ ७५
प्राच्यसामग २३४
प्राण १४८
प्राणविद्या १८०
प्राणायाम १०१

प्रालम्ब १५४
प्रासाद ९६
प्रियालवन ११३
प्रीतिभक्ष्य २५४
प्लक्ष १४०

फ

फलभोजन १०४
फलवृत्ति १०४
फलाहार १०४
फलोपसेवी १०४
फेनासंगम २२५, २२६

ब

बलभद्र १३९
बल्मीक १०८
बहुजनहित २५०
बह्वृच २४०
बाहु ९, १६३
बाहुदा १४१
बुद्धि (उसके चार सात्त्विक रूप) ३५
बुध ४५
बोधिसत्त्व २५४
ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठ ५४
ब्रह्मपुर १८७
ब्रह्मविहार २४८
ब्रह्मसर ७४
ब्रह्मारण्य ११६
ब्रह्मोद्य ८७
ब्राह्मण १९०

भ

भक्ति ५७, २४६
भगवत्पदी ११
भगीरथ १४४
भरत ९२, १४५
भागीरथी ११, १४४
भारत २०, १४५
भारत का आदर्श ४३
भारत-महाभारत के रचयिता २२
भारत-महाभारत-धर्माचार्य २१
भारतम् १४६
भारतसमुद्र १३९
भारताः १४६
भार्गववंश १३१
भावना २४१
भाषणकला १६५
भाषा ९५
भिल्लीवन ११३
भीष्मनेत्र १५९
भुवनकोश १४
भूगर्भस्थपर्वत-परिमाण ७१
भूगोल १४
भूतत्त्ववित् ११९
भूतादि १८५, १८७
भूमिप्रतिबिम्ब १९३
भृगु ४५, १२९, १९७
भृगुकुल १३१
भृगुतुंग २०१
भृगुवाक्यप्रवर्त्ती १३१
भृगुशृङ्ग १४५
भोजनविद्या ९५
भौगोलिकशब्द १४
भौगोलिक शब्द और उनके अर्थ २०३
भ्रान्त १४९

म

मणिकर्णिका ६७
मणिपर्वत २२८
मणियोग १९४
मण्डप ९६
मण्डल १६, २१४, २०८, ८८
मण्डलब्राह्मण ८८
मत्तपारावतेक्षणा १५७
मधुवन ११२
मधुपिंगलचक्षुः १५८
मधुब्राह्मण २४२
मधुराक्षरा १६६
मन १८१
मनःशिला २२८
मननशक्ति १९०
मन्त्रणाशक्ति १६४
मन्त्रव्याख्या २४५
मन्त्रसूक्तादि के नाम २४२
मन्दाकिनी १५
मयूरमाला १५४
मरकण्डक ९
मरीचिप १०५
मरुत्नाम १५१
मरुत्तराजा १९६
मर्कटलोचन १५८
मर्यादापर्वत २००, २०४, २०९
महत्वख्यापक नाम १४४
महर्षि १३०
महर्षितत्त्व १३०
महाकालनिकेतन ६७
महाकालवन ११३, ११६
महाद्वीप २०६
महान् १८२
महानदी २०६, २१०
महानदीत्रय ७९
महाव्रत २४८
महाभारत २०, २५
महाभारत का परिमाण २३
महाभारत का प्रणयन २२
महाभारत की महत्ता २३
महाभारत के विचार्य विषय २४
महाभारतग्रन्थ का दान २७
महाभारतश्रवणविधि २७
महाभारतीय शब्दप्रयोग २६
महाभाष्य-नाश १२७
महावन १०९
महावेदी-महोत्सव ९५
महाव्रत १६८
महाशैल ११५, २०४
माधववन ११३
मानुष ६५
मानुषतीर्थ १५
मारिषा १३
मार्कण्ड १३
मार्कण्डेय १३
मार्जारलोचन १५८
मालतीमाला १५३
माला १५२, १५४
मालास्तुति १५५
माल्य १५२
मांसदान १०७
मित-संमित-अमित १५१
मिताहार १०१
मित्रता २४९

मीनाक्षी १५६
मुख्यसत्वौषधि २२७
मुख्यसर्ग ११७, ११८
मुख्यात्मा १२३
मुङ्गेर ७६
मुण्डन ६३
मुद्रा १०८
मुद्राचिह्न ९५
मूलाहार १०४
मृगयावन ११०
मृगशावाक्षी १५७
मृत्यु ऋषि ३०
मेध्य ६४
मेरुपर्वत ११५, २२८
मैत्रावरुणि ११
मैत्री-भावना २४७
मोक्षधर्म ३४
मोक्षविद्या १७६, १७७
मोक्षवेणी ७७
म्लेच्छन २३७

य

यक्ष १९६
यज्ञ १९२, २४२, २४४
यज्ञक्रिया २४१
यज्ञगाथा ८७
यज्ञमयवराह २४४
यज्ञरूपधर्म ३४
यज्ञीयपदार्थ २४५
यमनियम १७१
यमराज ३०
यमुना १४४
यमुनासंगम २२६
योगजप्रज्ञा १७६
योगाभ्यास १६०
योगितीर्थ ७६

र

रक्तकानन ११३
रक्तदान १०७
रक्तपद्मेक्षणा १५७
रजतपर्वत २२८
रजोबहुल अहंकार तत्त्व १८२
रत्नपरीक्षा ९५
रत्नयोनि २२८
रत्नों का स्थान हिमालय १९६
रथवर्णन ९६
रम्यक ५४
र-विपुलावक्त्र अनुष्टुप् २३६
रस १६०
रसेन्दसारा १५४
राजगृहवन ११२
राजनीति २९
राजपुत्र ४४, ४५
राजपुत्रीय ४४
राजशरीर १६२
राज्य रक्षा ४२
राधा ११३
रामायण १३२, १३५
रामोपाख्यान १३२
रामह्रद ७४
राष्ट्र १६, २०७, २०८
राष्ट्र-जय ४२
राष्ट्रीय उन्नति ४१

रासक्रीडा ९३
रुक्मधातुमय २२७
रुक्मवान् ३२
रुक्मी ३२
रुद्धप्राण १००
रुद्रसरः ७५
रुद्रसूक्त २४२
रुद्राक्षमाला १५४
रैवत १३
रैवतोद्यान ११२
रैवतकपर्वत १४२
रोमपाद ४५
रौद्रमन्त्र २४४

ल

लकुलीश १८
लता १२१, १२२, १९२
ललामक १५४
लास्यरूप ९३
लेखन ९५
लोकछाया १९३
लोकप्रमाण ७५
लोकप्रामाण्य ७२
लोकप्रसिद्धि ७३
लोकसंग्रह २५१
लोकायत ४१
लोकापतिक ४१

व

वक्ता १६४, १६७
वक्रलोचन १५९
वङ्ग १४३
वज्रसंहनन १६१
वट १७
वणिक् २१४
वन ६६, २०६, २२८
वन का अनुबन्ध १०९
वन का तीर्थ रूप ११२
वन की महिमा १०९
वन की संज्ञा ११०
वन के पर्याय १०९
वनखण्ड १०९
वनघटितनाम ११०
वनत्रय ७९, ११५
वन में अधिष्ठितदेव ११३
वनमाला १५२
वनस्पति १२१
वनस्पति ११९
वनिका १०९, ११०
वनों का नामकरण १११
वनों का वर्णन ११३
वनों की संख्या ११४
वन्यस्रक १५३
वप्रकुट्टिम ९७
वरणा १८
वरदासंगम २२५, २२६
वर-पर्वत २०४
वरपर्वताः ११५
वरुणा १८
वर्ग ८८
वर्णव्यत्यय २३७
व्रज २१३
व्रत १६८
वर्ष २०६
वर्षपर्वत २००, २०४, २०९

वर्षाकाल में नदी २२३
वर्षास्वाकाशगस्तथा १०६
वलकल धारण १०५
वंशाधिरोहण ९३
वसिष्ठवन ११२
वस्तुहेतुकनाम १४०
वह्निवेश ९
वाक् ४६, ८५
वाकोवाक्य ८६
वाक्यज्ञ १६४
वाक्यविलास ९५
वाग्धेनु ४६
वाग्व्यवहार १६४
वाणी का गम्भीर्य १६६
वाणी की मधुरता १६६
वात्यायन २८
वाद्ययन्त्र ९२
वायुप्रकार १५१
वायुभक्ष १०३
वाराणसीजाह्नवी संगम २२५
वाराणस्यां ६७
वालमीकि १०७, १३२, १३४
वाष्कल १२
वाष्कलि १२
वासुकि क्रीडा ९३
वासुदेवतीर्थ ६६
वास्तुविद्या ९६
विकर्षण १५०
विक्षेप १४९
विदर्भासंगम २२५
विद्यार्थी ५७
विद्यादान ५८, ५९
विद्यासन्धि ५६
विधाता १५१
विनश १४१
विनशनसंज्ञा ७४
विन्ध्यगिरिस्थवन ११४
विन्ध्यपर्वत वर्णन ९८
विपरीत नृत्य ९३
विभाष् ९५
विराट् पुरुष १८५
विलोमलोचन १५८
विल्ववन ११२
विवाह १५१
विवाह मण्डप ९६
विशेषण ११
विश्वकर्मा ९०
विश्वमैत्री २५०
विश्वमैत्रीभावना २५१
विश्वेशानन्द-कानन १७
विषय १६, २०७, २०८
विष्कम्भ पर्वत १०९
विष्णुकन्द ३०
विष्णुसूक्त २४२
विष्णुस्थान ७०
विस्तर ८७
वीरसोम ४४
वीरुत् १२२
वीरुध् १२१
वृक्ष १२२, २२८
वृक्ष-ओषधि के अधिपति १९३
वृक्ष का माङ्गल्यप्रदत्व १२५
वृक्ष का मुख्यत्व ११७
वृक्ष की सृष्टि ११७

वृक्ष के कुछ भेद १२१
वृक्ष के पञ्चधा विभाग १२२
वृक्षच्छेदन १२३
वृक्षप्रतिष्ठा १२३
वृक्षरस १९३
वृक्षराजसोम १९३
वृक्षरूपी विष्णु १२३
वृक्षरोपण १३४
वृक्षविद्या १२०, १२१
वृक्षसम्बन्धी उत्पातों १२४
वृक्षसम्बन्धी रूपकालंकार १२२
वृक्षायुर्वेद १२०
वृक्षावयवों १२२
वृक्षोत्पत्ति १२१
वृक्षोत्सव १२४
वृक्षोद्यापनविधि १२४
वृक्षों की व्यवहारिक उपकारिता १२३
वृक्षों के जीवत्व १२०
वृत्तियों का उदय-लय १८३
वृन्दावन १०९, ११०, ११३, ११५
वृष ३१
वेणासंगम २२६
वेणी २२४
वेणीवाह्य ७७
वेणीसंगम २२५
वेद २३९
वेद और महाभारत २५
वेद और यज्ञ २४४
वेद का आविर्भाव २३९
वेद का पुनरुद्धार १२६
वेद का स्वरूप २३९
वेदनाश १२६
वेदपाठ २४१
वेदपाठी ब्राह्मण २४१
वेद-पुराण-सम्बन्ध २४०
वेद-प्रामाण्य २४०
वेद-महिमा २४०
वेदार्थ का पूरण २३८
वेदाध्ययनरीति २४१
वेदानुशासन २४०
वेदाभ्यास २४१
वैकल्पिक १५४
वैजयन्तीमाला १५३
वैदिक शब्द की शक्ति २४३
वैदिक शाखा २३४
वैदिकी श्रुतिः २४०
वैदेशिक लिपि ९५
वैन्य २१५
वैवस्वत मनु ९
वैराग्य ३५
वैशाली पुरी १४३
व्यक्तिनामानुसार स्थाननाम १४४
व्यतिकर २२४
व्याधि १६०
व्यान १४८
व्यास १३४

श

शकुनसूक्त २४२
शक्रप्रस्थ ३२
शतनाम १५१
शतरुद्र २४२
शतसाहस्रीसंहिता २०, २३
शत्रुघ्न १३७, १३८
शत्रुवर्द्धन ८

शबर ३१
शबरी ३१
शम्भलग्राम २१३
शरवण ११४, ११६
शरीर के स्थान विशेष में रक्तता १६२
शरीर धारण १७५
शरीर-रोध १०३
शरीरात्मा १०८
शरीरोत्कर्ष १६१
शशिमण्डलं १९४
शस्त्र २४२
शारीरिक अजड़ता १६२
शारीरिक उच्चता १६२
शारीरिक उज्ज्वलता १६१
शारीरिक गति १६२
शारीरिक तपस्या १०१
शारीरिक दृढ़ता १६१
शारीरिक वर्ण १६२
शारीरिक विक्रम १६१
शाक १४०
शाकाहार १०४
शाखानगरक २१५
शान्ति १७३, १७७
शाम्बरी मन्त्रविद्या ९४
शालवन ११३
शाल्मलि १४०
शासक या स्थापयिता १४२
शास्त्रकार ५७
शास्त्रों की काललुप्तता १२६
शिखण्डिनीवन ११३, १४५
शिखण्डी १४५
शिखर-वर्णन २२९
शिला २२८
शिला जाल २२८
शिलाद ९
शिलाद्याश्रम १४५
शिलापट्ट २२८
शिलाशन ९
शिलोच्चय २०८, २२८
शिवनदी ७६
शिवस्तोत्र २४६
शिवस्थान ७०
शिष्ट ५६
शिष्टव्यवहार ७२
शिष्य-कर्त्तव्य ५८
शीर्णविल्वपत्र भोजन १०५
शुक ३०
शुक्र ४५
शुल्कजीवा ११८
शष्कपर्ण १०५
शूर १३७
शृङ्ग २२९
शैल २२८
शैलसानु २३०
शैशिरायण गार्ग्य १२
शोणज्योतिरथासंगम २२६
शौनकीय धर्मशास्त्र २४६
श्मशान ६६, २१२
श्याम ३२
श्यामचक्षु १५८
श्येत १४
श्राद्ध २३२
श्रावस्ती पुरी १४३
श्रीपर्वत १४५

श्रीसूक्त २४२
श्रुतिस्मृतिपुराण २४१
श्रोत्रिय ५२
श्वास-प्रश्वासरोध १०१
श्वेतारण्य ११३

ष

षट्चक्र १८९
षट्पुरी ८१
षष्ठाहकालभोजी १०३

स

संकल्प १८५
संकल्पक मन २८५
सखिल ८७
संख्या २७
सगरराज के पुत्र २७५
संग २२४
संगति २२४
संगमनाम २२५
संगमनामकरण २२४
संगमपर्याप २२४
संगम-लक्षण २२४
संघोष २१५
संज्ञा ७४
संडोन १४८
सत्याचरण २५२
सत्वबहुल बुद्धि तत्त्व १८२
सत्व-रज-तम १८२
सदामुदित ५४
सद्यःप्रक्षालक तपस्वी १०२
सनिमेषदृष्टि १५६
'सन्तः' ६२
सन्निहतसंज्ञा ७४
सन्निहत्यादि ७४
सन्निहित ७५
सन्निहितसर ७५
सप्तकोंकण ८२
सप्तकौशिकी ८२
सप्तगङ्ग ८२
सप्तगङ्गा ८१
सप्तगोदावरम् १५, ८२
सप्तग्राम ७७
सप्तद्वीप ८२
सप्तनद ८२
सप्तपुरी ८१
सप्तसरस्वती १५
सप्तसारस्वत ८२
सप्तसिन्धु ८२
संप्रक्षालतपस्वी १०२
समदृष्टि २५३
समन्तपञ्चकम् ६८
समागम २२४
समान १४८
समानवायु १६१
सम्पात २३०
समुद्र १०६, २११
समुद्रान्त प्रविष्ट १९९
सरस्वती १४१
स्रक् १५४
सर्वथा विजय ४१
सर्वभूतसहङ्मैत्र २४९
सर्वभूतानुकम्पा २४९
सर्वर्तुपुष्पामाला २५३
सर्वसत्त्वसुखेच्छा २५५
सर्वसत्त्वहिताधान २५५

सर्वौषधि २२७
सविस्तर ८७
संवर्त १५०
संवह १५१
संवृतात्मा ११७, ११८
सहस्रनाम १५१
संहनन २०
संहिता २०
साक्षात्कृतधर्मा ५३
सांख्ययोग १८०
सांख्यशास्त्र १२६
सागर २०६
सागरसंगम २२५
सांग्राहिक धर्म २५१
सानु २३०
सामवेद २४०
सामवेद और उसके मन्त्र २४३
सामशाखाओं के नाश १२६
सामशाखाप्रवक्ता २३४
सामसंहिता २३४
सामाजिक उन्नति ४१
सामुद्रकूप ७४
सितपद्रमोत्पलस्रक् १५३
सितहंसेक्षणापाङ्गी १५८
सिन्धु-सागरसंगम २२५
सुख ३४, १७२
सुखदुःखमोह १७२
सुगन्धादेवी ११३
सुडीन १४८
सुतार ५४
सुनेत्र ११३
सुपक्वपद्मनेत्रा १५७
सुप्रतीकवन ११६
सुबाहु ९
सुवर्णपर्वत २२८
सुषुम्णा २०१
सुह्म १४३
सूक्त ८६, २३९
सूक्तब्राह्मणमन्त्रवान् ८६
सूत्रधार ९३
सूक्ष्मता २७
सूर्यतेज १९२
सूत १४९
सेक्युलर ४१
सैन्धवारण्य ११३
सोत्तरवेद ८८
सोम ४४
सोमतीर्थ ७६
सौमित्रीसंगम २२५
सौयीयणि गार्ग्य १२
स्कन्दसूक्त २४२
स्कन्ध १६३
स्तम्भनादिकर्म २४४
स्तम्भित प्राण १०१
स्तोत्र २४२
स्तोम ८६
स्थान की व्याप्ति ७३
स्थानगत लिङ्ग का ज्ञान ७६
स्थावर उद्भिद ११८
स्थावरतीर्थ ६५
स्थावर सृष्टि ११८
स्थिति वृत्ति १८४
स्मितपूर्ववाक्य १६६
स्मृति २४१

स्वर १६२
स्वर्णपद्म २२१
स्वर्णोदका १४२
स्वल्प नदी २११
स्वल्पोपजीवी ह्रस्वपर्वत २०४
स्वाध्यायशब्द २४१
स्वेदज ११९

ह

हठयोग १०१, १०८
हरितालगिरि २२८
हरिप्रस्थ ३२
हलाहल विष १९७
हलाहला नदी १९७
हल्लीसक ९३
हंसगद्गद्भाषिणी १६६
हंसतीर्थ ६६
हस्तिनापुर १८, १४३
हस्ति-वैद्यककार ४४
हस्तिशास्त्र ४४
हस्तिसूत्र ४५
हिमवत् पृष्ठ २०१
हिमवद्वन ११२
हिमवद्द्रोणी २०१
हिमभूमृत्प्रस्थ २०१
हिमालय का आकार २००
हिमालय का तीर्थरूप १९५
हिमालय का आधार काष्ठरूप १९५
हिमालय का मानदण्डरूप १९९
हिमालय की प्राचीनता १९९
हिमालय की रत्नमयता १९७
हिमालय के विशिष्ट विशेषण २००
हिमालयप्रस्थ २०१
हिमालय शिखर २०१
हिमालय-सानु २०२
हिमालयस्थ पशु १९८
हिमालयस्थ विशिष्ट स्थान २०१
हिमालयस्थ विष १९७
हिमालयीय उपवन २०२
हिरण्यगर्भ १८७
हिरण्यचक्षु ९
हिरण्यनयन ९
हिरण्यनाभ २३४
हिरण्याक्ष ९
हिरण्याक्ष कौशिक १२
हिंसा १६९
हुताशवेश ९
हृत् १७९
हृत्पिण्ड १०१
हृदय १८१
हृदय ध्यान १८९
हृदयपुण्डरीक १८९
हृदय-मन-सम्बन्ध १७९
हृदय में संगम १८४
हृदयरोध १८७
हैतुकवन ११३
हैमवती १४४, १४६

अशुद्धि-संशोधन

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्धपाठ	शुद्धपाठ
२	३२	व्यभिच, तिर	व्यभिचरित
११	१२	कुकुत्स्थ	ककुत्स्थ
२२	२२	पुराणनन्तर	पुराणान्तर
२५	१३	विस्तीण	विस्तीर्ण
२५	१८	मतिर्ग्रहीता	मतिर्गृहीता
२७	१६	६३।२६	६३।२५–२६
२९	९	निघृणं	निर्घृणं
४४	२०	णया	गया
४५	२३	हत्स्यावेद	हत्स्यायुर्वेद
४६	६	वृहदा	बृहदा
५४	४	विप्रलिप्सावंचना	विप्रलिसा=वंचना
५४	१६	ज्ञानमाधातु	ज्ञानमाधातुं
५६	१२	अगुह्यमानकारणाः	अगृह्यमाणकारणाः
६४	१०	सतीर्थफल	स तीर्थफल
६९	१६	नागर० १५।२८-४०	इस पंक्ति को काट दें
८२	१७	ल्पक्ष	प्लक्ष
८२	२९	गोमेघ	गोमेद
८२	३०	११	१२
८२	३०	गोमेघ	गोमेद
८७	३	प्रश्नरोत्तरात्मक	प्रश्नोत्तरात्मक
९३	५	तौर्यत्रिक	तौर्यत्रिक
१०२	१८	ल्पाहार	अल्पाहार
१०६	१३	ग्रीस्मे	ग्रीष्मे
११३	९	लिङ्ग० २४।१०१	लिङ्ग० १।२४।१०१
११३	११	मार्कण्डेय	मत्स्य
११५	१६	दण्डकारण्य	दण्डकारण्यं
११५	१८	मर्वुद	मर्बुदं
११८	१२	च यः	चयः

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्धपाठ	शुद्धपाठ
११८	२०	अन्तस्पर्शाविशेषिणः ३।१०।१८–२०	अन्तःस्पर्शा विशेषिणः ३।१०।१८–१९
१२०	२८	तरुणां	तरूणां
१२१	२१	औषधि	ओषधि
१२१	२८	जायतः	जातयः
१२२	१	उद्भिज्ज	उद्भिद्य
१२२	२०	मुक्ति पथव्यापि	मुक्तिपथव्यापी
१२२	२१	कृत	कृत्य
१२७	२९	३।२२२	३।२३२
१४२	४	रैवत्तक	रैवतक
१४४	२०	१२।१।४४	१२।४४
१५०	९	उपलुप्त	उपप्लुत
१५५	११	हत्	हृत्
१६२	२८	छः	छह
१७९	१६	छादोग्य	छान्दोग्य
१८०	२३	सनातने दे०	सनातने द्वे
१८९	२७	मीमांनक	मीमांसक
१९२	१७	चान्द्रमसा	चन्द्रमसा
१९७	१३	आख्यात्मक	आख्यानात्मक
२११	२८	मावर्त	आवर्त
२१३	११	कालग्राम	कल्पग्राम
२१३	१२	१८९।१०–१८	१९९।१९
२२२	२३	स्वर्ण मत्स्य० ११६।५	स्वर्ण। मत्स्य० ११६।५ में
२२५	२०	प्रमास	प्रभास
२२६	३	कृष्णवेण्या	कृष्णावेणी
२३०	५	सानुमान्ः	सानुमान्
२४९	२१	दुपासदम्	दुरासदम्
२५०	८	हित	हितं
२५०	२८	उदाररितानां	उदारचरितानां
२५१	२७	को	की
२५१	३२	जिस	जिन
२५३	१३	सम दृष्टि	समदृष्टि

२३ चैत्र २०३७

०५८।१।१३१

सर्वसुलभ

वाल्मीकि प्रतिष्ठान
पुस्तकालय

Acc. No 90535
Class No ... Book No ...
Author आप्टे
Title बृहन्नाटकीय शब्दकोश

Due on	Borrower's Name	Returned on

322:224
व्या
1975 ई.
90535

महेन्द्र संस्कृत विश्वविद्यालय
बाल्मीकि विद्यापीठ
पुस्तकालय